वेदान्त दर्शन

ब्रह्ममुनिकृत भाषा-भाष्य सहित

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

(अथ) अनन्तर=जगत् में रोग, वियोग ,भोगरूप दु:खों की अनुभूति के अनन्तर तथा जगत् की नश्वरता=अनित्यता के अनुमान हो जाने के अनन्तर।

यहां शाङ्करभाष्य में शमदमादि साधन के अनन्तर कहा है, कर्मावबोधन के अनन्तर का खण्डन किया है। उसकी ब्रह्म-जिज्ञासा में अनपेक्षा= अनावश्यकता दर्शाकर तब उसी भांति शमदमादिसाधन भी निराकरण करने के योग्य है, क्योंकि शमदमादि साधन तो पर्वतारोहण सदृश-पर्वत पर चढ़ाई करने जैसा कठिनतम कार्य है। जो ही भूतल पर दु:ख अनुभव करे और पर्वत पर सुख को लक्षित करे वह ही पर्वत पर चढ़ता है। उसी भांति जो जगत् में वैराग्य को प्राप्त हो वह ही शमदमादि साधन कठिनतम कार्य का अनुष्ठान कर सके। अतएव हमने रोग, वियोग, भोग-दु:खों की अनुभूति एवं जगत् की नश्वरता अनित्यता-रूप वैराग्य के अनन्तर अर्थ किया। वस्तुत: ब्रह्मजिज्ञासा का कारण वैराग्य ही है जिसके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है, वैराग्य के बिना ब्रह्म की जिज्ञासा होना सम्भव नहीं है, और वह वैराग्य दो प्रकार का है। दृष्ट और अनुमित, दृष्ट वैराग्य तो रोग, वियोग, भोग-दु:खों के अनुभव से होता है और अनुमित वैराग्य जगत् की नश्वरता=अनित्यता के अनुमान से होता है। कर्ममीमांसा में विहितकर्मों का आचरण करके तो केवल आभ्युदयिक सुखविशेष अनुभूत होता है। वहां भी रोग, वियोग, भोग-दु:खों का उच्छेद नहीं है और न ही नश्वर=अनित्य से परे वर्तमान नित्य और अमृत वस्तु प्राप्त होती है, दु:ख से परे वर्तमान तो स्थिर सुखरूप नित्य और अमृत ब्रह्म नामक वस्तु है अतएव वह जिज्ञास्य है, इस आकांक्षा में 'अथ' शब्द अनन्तर अर्थवाला है।

(अतः) 'अतः' शब्द हेतु में है कि निर्बाध स्थिर सुख और मृत्यु से परे अमृत की अनुभूति जिससे हो, इस हेतु से।

शाङ्करभाष्य में "यस्माद् वेद एवाग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानामनित्यफलतां दर्शयति तद्यथेह-कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यकृतो लोकः क्षीयते" (छान्दो० ८।१।६) अर्थात् वेद ही अग्निहोत्र आदि श्रेयःसाधनों के फलों की अनित्यता दिखलाता है कि कर्म से प्राप्त फल क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार पुण्य से प्राप्त सुखविशेष फल भी क्षीण हो जाता है। यह जो हेतु दिया वह युक्त नहीं है जबकि 'अथ' शब्द के व्याख्यान में "धर्मजिज्ञासाया: प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः "धर्मजिज्ञासा से पूर्व भी वेदान्त अध्यात्मशास्त्र पढ़े हुए को जिज्ञासा होना उपपन्न है। बिना धर्मजिज्ञासा के, धर्मजिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्मजिज्ञासा को प्राप्त हो सके, तब 'अतः' शब्द के अर्थ में धर्म-ज्ञानफल का क्षय होना हेतुरूप प्रदर्शित करने का अवसर ही नहीं रहा।"

(ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्म की जिज्ञासा=महान् अनन्त अखण्ड ब्रह्म नामक वस्तु की जिज्ञासा=जानने की इच्छा होती है॥ १ ॥

वह ब्रह्म कैसा है जो जानने में अभीष्ट है सो कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

(अस्य) इस समक्ष इन्द्रियगोचर और मनोगोचर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होने वाले जगत् का (जन्मादि) उत्पत्त्यादि=उत्पत्ति, स्थिति नाश (यतः) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म जिज्ञासा=जानने की इच्छा में एवं खोज में अभीष्ट मानना चाहिए। जो ही जगत् को उत्पन्न करता है, धारण करता है और उसका संहार करता है, वह ब्रह्मात्मा=परमात्मा जानने योग्य है। यहां 'यतः' पद सामान्यरूप से हेतुप्रदर्शन के लिये है, जैसे— "**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**" (वै० १।१।१)=जिससे अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का हेतु 'यतः' शब्द से धर्म कहा है। और जैसे "**तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे**" (यजु० ३१।७)=उस यज्ञस्वरूप परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद प्रकट हुए। तथा "**आदित्याज्जायते वृष्टिः**" (मनु० ३।७३)=सूर्य से वृष्टि होती है, यहां 'यतः' शब्द से सूर्य को वृष्टि का हेतु कहा गया। और फिर वह परमात्मा केवल जगत् की उत्पत्ति में ही हेतु है, ऐसा नहीं किन्तु उसके धारण-संहार का भी तो हेतु है=जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, नाश का प्रवर्तक परमात्मदेव है, यह समझना

चाहिए॥ २ ॥

कैसे जान सकें और कैसे कह सकें कि इस जगत् के जन्मादि का हेतु ब्रह्मात्मा परमात्मा है, अब वह कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात्॥ ३ ॥

(शास्त्रयोनित्वात्) शास्त्र=वेद, योनि=कारण=प्रमाण इसका वह शास्त्रयोनि, उसका भाव-शास्त्रयोनित्व, उससे शास्त्रयोनि होने से शास्त्र-प्रमाणक होने से जगत् के जन्म आदि का हेतु ब्रह्म है=परमात्मा है, यह बात वेद प्रमाणित करता है। जैसा कि "**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**" (ऋ० १०।८१।३ यजु० १७।१९)=आकाश से लेकर भूमिपर्यन्त सृष्टि का उत्पन्न करने वाला परमात्मा है। "**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**" (यजु० १३।४)=उसने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया हुआ है। "**तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्**" (यजु० ३२।८)=उसमें यह जगत् उत्पन्न भी होता है विलीन भी होता है।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की दो व्याख्याएं की हैं। द्वितीय अर्थ— "अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणः स्वरूपाधिगमे...शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते....." (तै० उ० ३।१) इत्यादि (शाङ्करभाष्यम्) अथवा जैसे ऋग्वेदादिशास्त्र योनि=कारण=प्रमाण इस ब्रह्म के स्वरूपबोध में है, शास्त्र पूर्व सूत्र में उदाहृत कर दिया है "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**" (तै० उ० ३।१) =जिससे निश्चय से ये भूत उत्पन्न हुए हैं। आश्चर्य है कि ब्रह्म के स्वरूपबोध में शास्त्र=ऋग्वेदादि प्रमाण कहा जाता है किन्तु प्रमाण दिया जाता है उपनिषद् का वचन, यह तो 'पक्षौदासीन्य' दोष है॥ ३ ॥

न केवल शास्त्र ही ब्रह्म से जगत् के जन्मादि विषय में प्रमाण है—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४॥

(तत्) जगत् का जन्मादि कार्य ब्रह्म से सम्पन्न होता है, यह वह वृत्त (समन्वयात् तु) समन्वय से भी=समनुगत सम्यक् अनुमान से युक्ति द्वारा प्राप्त होने से सिद्ध होता है [1]। लोक में कोई भी कार्य वस्तु जो दीखती है

१. समन्वयः— सम्यगन्वयः (शब्दार्थचिन्तामणिः)
"अन्वयः—अनुगति-जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादिति" (भाग वा०)।
"अन्वयः—कार्यकारणानुवृत्तिः" (शब्दार्थचिन्तामणिः) कारणस्यानुसरणं कारणस्य कार्यस्थितिः। (शब्दार्थ०)।

उसका कर्ता हुआ करता है, जैसे घड़े कार्य वस्तु का कुम्हार कर्ता निमित्त कारण है वैसे ही कार्यरूप जगत् का भी ब्रह्म निमित्तकारण कर्ता होना ही चाहिए। सूत्र में 'तु' शब्द 'अपि' के अर्थ में=समुच्चय के अर्थ में है, जैसे "**अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णाः**" "इत्यत्र तु शब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः" (निरुक्त, दुर्गाचार्य २।१६) यहां 'तु' शब्द समुच्चयार्थ है।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में दो दोष हैं, प्रथम दोष यह है कि यहां समन्वयाधिकरण प्रदर्शन में पूर्वपक्ष स्थापित किया है कि "कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते यावताऽऽम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" (शाङ्करभाष्य)=ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्र प्रमाण कैसे कहा जाता है जबकि आम्नाय=वेदशास्त्र के क्रियार्थ होने से क्रियारहित वचनों की अनर्थकता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष तो वेदविषयक उठाया परन्तु समाधान सूत्रव्याख्यान में "**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**" (छा० ६।२।१) इत्यादि सारे वचन उपनिषद् के प्रमाण में देकर कहा कि "सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि" अर्थात् सब वेदान्तों=उपनिषदों में वाक्य-तात्पर्य से इसके अर्थ के साथ समनुगत हैं=सङ्गत हैं। इस प्रकार समाधान उपनिषद्वचनपरायण है। दूसरा दोष है कि यहां अधिकरण की उत्थापना में "कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्"= कैसे फिर ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्रप्रमाणता है ? इस प्रश्न की शाङ्करभाष्य में व्यर्थता ही है। क्योंकि वेदरूप वेदमन्त्र शास्त्र क्यों नहीं ?। ब्रह्म की सिद्धि में प्रमाण वह युक्त है। वेद के अप्रमाण में कोई कारण नहीं है क्योंकि वह सूर्य की भांति स्वतः प्रमाण है, उसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, वह अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं। दुर्जनतोषन्याय से प्रश्न हो भी सके तो "**तत्तु समन्वयात्**" सूत्र को लक्ष्य करके उपनिषद्वचनों में ब्रह्म के वर्णन का समन्वय है, यह कथन तो "**आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे**"= 'आम पूछने पर बताए कचनार' की भांति उपहासयोग्य है। जगत् के जन्मादि का हेतु ब्रह्म है इस बात की सिद्धि में वेद जैसे शब्द प्रमाण से अतिरिक्त शब्द प्रमाण समन्वित या उचित नहीं हो सकता किन्तु उस समय तो युक्ति समन्वय ही उचित है, युक्ति से ही उसका सम्पोषण किया जाता है, जैसा कि हमने अपने इस सूत्रभाष्य में युक्ति दी है॥४॥

'**शास्त्रयोनित्वात्, तत्तु समन्वयात्**' इन दोनों सूत्रों में आगम और अनुमान प्रमाणों से जगत् के जन्मादि कार्य का प्रवर्तक कारण ब्रह्म परमात्मा है, यह तो बात कही गई किन्तु वह कारण कैसा है निमित्तकारण या

उपादानकारण ? वह यहां कहा जाता है —

ईक्षतेर्नाशब्दम्॥ ५ ॥

(ईक्षतेः) ईक्षणक्रिया का प्रवर्तक=प्रेरक होने से ब्रह्म परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है, उसके ईक्षणक्रियावान् होने से कि उपादान कारण है। क्योंकि ईक्षण क्रिया के चेतन में होने से चेतन निमित्त कारण ही हो सकता नहीं है, उपादान कारण नहीं (न-अशब्दम्) ईक्षणक्रियापूर्वक जगत् का जन्मादि वृत्त शब्द प्रमाण रहित नहीं है किन्तु वह शब्द प्रमाण से सिद्ध है। जैसा कि—"**स ईक्षत लोकान् नु सृजा इति**" (ऐत० उ० १।१।१)= ईश्वर कहता है—'मैं लोकों को सृजूं, लोकों को उत्पन्न करूं'॥५॥

गौणश्चेन्नात्मशब्दात्॥ ६ ॥

(गौणः-चेत्) ईक्षण क्रिया का प्रयोग गौण है, जैसे "**तत्तेज ऐक्षत**" (छान्दो० ६।२।३)=तेज=अग्नि ने ईक्षण किया। "**ता आप ऐक्षन्त**" (छान्दो० ६।२।)=जलों ने ईक्षण किया। इत्यादि स्थलों में ईक्षण का प्रयोग गौण है एवं ब्रह्म में भी ईक्षण का प्रयोग गौण हो सकता है। पुनः ब्रह्म निमित्त कारण न हो सके, जड़ की भांति उपादान कारण बन सके, यदि ऐसा कहा जावे तो (न-आत्मशब्दात्) ठीक नहीं, क्योंकि वहां लोक सर्जन प्रकरण में आत्मा शब्द स्पष्ट पढ़ा हुआ है—"**आत्मा वा इदमग्र असीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति-स इमान् लोकानसृजत**" (ऐत० उ० १।१।१) आत्मा चेतन होता है। अतः चेतनस्वरूप होने से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, उपादान नहीं ॥६॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्॥ ७ ॥

(तन्निष्ठस्य) उस ब्रह्मात्मा में निष्ठा जिसकी है वह तन्निष्ठ ब्रह्मनिष्ठ मुमुक्षु, उस ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता के अर्थ (मोक्षोपदेशात्) मोक्ष का उपदेश है। जैसा कि "**अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥**" (अथर्व० १०।८।४४) यहां, ब्रह्मात्मा को जानता हुआ मृत्यु से नहीं डरता, यह कहा है। तथा "**परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश॥**" (यजु० ३२।११) यहां भी '**आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**' में अपने आत्मा का ब्रह्मात्मा में सन्निवेश कहा है। और भी "**नित्यो नित्यानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती**

नेतरेषाम्'' (कठो० ५ । १३) यहां भी चेतन ब्रह्मदर्शन से शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है यह स्पष्ट किया है। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, उपादान नहीं ॥ ७ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

(हेयत्वावचनात्-च) और भी ब्रह्मात्मा कभी भी हेयपक्ष में नहीं कहा, उसका त्याज्य होना नहीं कहा गया किन्तु सर्वत्र उसका उपादेय होना ही कहा गया है। जैसाकि ''**स आत्मा स विज्ञेयः**'' (माण्डू० ७)= ब्रह्मात्मा जानने योग्य है। ''**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः**'' (बृह० ४।५।७)= ब्रह्मात्मा साक्षात् करने योग्य है। उसके चेतन और सर्वान्तर होने से तथा उसके स्वात्मजातीय होने से वह त्याज्य नहीं। जैसा कि कहा है—''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**'' (ऋ० १ । १६४ । २०)=जीवात्मा और परमात्मा दोनों सखा हैं, सजातीय हैं। जड़ ही हेयपक्ष में हो सकता है स्वात्मा में विजातीय होने से और सावयव=अवयव वाला होने से। उसके सङ्ग से आत्महानि कही भी है—''**हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते**'' (कठो० २ । १)=वह लक्ष्य से गिर जाता है जो ही प्रेयः=अनात्म जड़ को वरता है ॥ ८ ॥

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

(स्वाप्ययात्) स्व=अपने आत्मा का अप्यय=अपिगमन=आश्रय है, इस हेतु ब्रह्मात्मा निमित्तकारण है। कहा है—''**स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते**'' (प्रश्नो० ४।५)=वह जीवात्मा पर अक्षर आत्मा=एक रस वर्तमान परमात्मा में समवस्थित हो जाता है। वेद में भी '**तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि**'' (ऋ० ७ । ८६ । २) यहां स्वात्मा का आश्रय ब्रह्मात्मा अभीष्ट है। ''**आत्मनाऽऽमानमभि संविवेश**'' (यजु० ३२ । ११) यहां स्वात्मा का परमात्मा में सन्निवेश के लिये आदेश है। अतः ब्रह्मात्मा निमित्त कारण ही है ॥ ९ ॥

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

(गतिसामान्यात्) गति=गम्यमानता=रीतिनीति-लोक व्यवहार की समानता से, लोक में चेतन निमित्त कारण ही देखा जाता है, वह उपादान कभी नहीं होता है। जैसे कड़े का सुनार, घड़े का कुम्हार, कपड़े का जुलाहा, मिष्टान्नादि भोजन का पाचक रसोईया निमित्त कारण होता है, उपादान तो जड़ वस्तु क्रमशः सोना, मिट्टी, रूई या सूत, धान्य आदि होता

है। अतः ब्रह्मात्मा निमित्तकारण ही है ॥ १० ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

(च) और (श्रुतत्वात्) उस ब्रह्मात्मा का निमित्तकारण होना सुना जाता है, श्रुति में वर्णित है–"**ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्...**" (यजु० ४०। १) "**स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः**" (श्वेता० ६।९) यहां दोनों स्थलों में 'ईशा' शब्द से और 'अधिपः' शब्द से निमित्त होना ही परमात्मा को सूचित किया है, ईश होना और अधिप होना उपादान का धर्म नहीं है, अतः जगत् के उत्पत्ति आदि कार्य में ब्रह्मात्मा निमित्तकारण ही है, यह भलीभांति सिद्ध है ॥ ११ ॥

जगत् के उत्पत्ति आदि विषय में ब्रह्म का निमित्तकारण होना अनेक युक्ति प्रमाणों से दिखला दिया। अब आध्यात्मिक गुणों के योग से ब्रह्म के भिन्न-भिन्न नाम दिखलाए जाते हैं। उनमें प्रथम—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

(आनन्दमयः) जो प्रस्तुत निमित्तकारण ब्रह्म है वह अध्यात्म ग्रन्थ में आनन्दमय कोश भी कहा जाता है। सो कैसे (अभ्यासात्) अध्यात्म अभ्यास से, आत्मा में अभ्यास करने में अन्तर्दृष्टि में तारतम्य से अनुभव करने से। कहा भी है तारतम्यक्रम वहां अन्तिम—"**एतस्माद् विज्ञानमया-दन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः**" (तै० उ० २।५)=इस विज्ञानमय से अन्य अन्तर-भीतरी आत्मा आनन्दमय है ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

(विकारशब्दात्-न-इति चेत्) वह जो आनन्दमय शब्द है यह विकार अर्थवाला है, 'मयट्' प्रत्यय के विकार अर्थ में होने से "**तस्य विकारे-मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्यानाच्छनयोः**" (अष्टा० ४।३।१४५) प्रकृति नामक जड़ वस्तु आनन्द शब्द से कही जाती है उसका विकार आनन्दमय हो सकता है। आनन्द प्रकृति है, जैसे—"**आनन्दमयो ह्यानन्दभुक् प्राज्ञस्तृतीयः पादः**" (माण्डूक्यो० ५) यहां 'आनन्दभुक्' आनन्द प्रकृति नामक वस्तु का 'भोक्ता=भक्षक' (शङ्कराचार्य) 'पालयिता=पालक' (ब्रह्ममुनि)। अतः वह प्रकृति आनन्दमय है, वहां माण्डूक्योपनिषद् में क्रम भी—स्थूलभुक् (प्रथमपादः) प्रविविक्तभुक् (द्वितीयः पादः) आनन्दभुक् (तृतीयः पादः) इस प्रकार क्रमानुरोध से 'आनन्दभुक्' में आनन्द शब्द प्रकृति का वाचक है, अतः 'आनन्दमय' विकारार्थ शब्द है। इससे परमात्मा के लिये आनन्दमय शब्द नहीं यदि ऐसा कहा जावे तो

(न) ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि (प्राचुर्यात्) 'मयट्' प्रत्यय का प्राचुर्य अर्थ में भी विधान होने से। यहां प्राचुर्य अर्थ में 'मयट्' है विकार अर्थ में यहां असम्भव होने से और प्राचुर्य अर्थ में सम्भव होने से; क्योंकि आनन्द शब्द के प्रकृतिवाचक होने पर भी कैसे आनन्द का विकार ब्रह्म का तृतीय पाद माण्डूक्योपनिषद् में हो ? सो किसी प्रकार भी नहीं और वह आनन्दमय प्रकृति का विकार फिर कैसे आनन्दभुक्=प्रकृतिभुक् हो सके ? किसी प्रकार भी नहीं। यह तो वदतोव्यघात='कहे हुए को काट देना' दोष है। अतः आनन्दमय कोश ब्रह्म का नाम है अध्यात्म गुणों के वश उपासना विद्या में है। अध्यात्म दृष्टि में तारतम्य-क्रम से आनन्द के प्राचुर्य=पूर्णता से या अतुलता से उपासकों या अध्यात्मिक जनों के द्वारा वैसा ही आनन्दमय अनुभव किया जाता है ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

(तत्-हेतुव्यपदेशात्-च) आनन्दमय कोश ब्रह्मवाचक है प्राचुर्य अर्थ में 'मयट्' के विधान होने से। यहां प्राचुर्य अर्थ में ही 'मयट्' प्रत्यय है विकार अर्थ में नहीं। जो कहा गया उसमें हेतु दिया जाता है, इस कारण भी आनन्दमय शब्द में 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्य अर्थवाला है। उसका हेतु कौन है ? वह कहा जाता है "**एष ह्येवानन्दयाति**" (तै० उ० २।७) यहां 'आनन्दयाति=आनन्द देने वाला कहने से वह आनन्दप्रद आनन्द का विकार नहीं कहा जा सकता, असम्भव होने से, किन्तु वह तो अधिक करके या पूर्ण रूप से आनन्द को रखने वाला है, अतएव वह आनन्द देता है उसमें आनन्द पूर्ण रूप से रहता है, अतः वह आनन्दमय परमात्मा है ॥ १४ ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

(च) और भी कारण है यहां आनन्दमय कोश के ब्रह्मवाचक होने में। वह क्या, सो कहते हैं (मान्त्रवर्णिकम्-एव गीयते) मन्त्र का वर्ण= वर्णन=मन्त्रवर्ण, उससे सम्बद्ध या उसमें होने वाला मान्त्रवर्णिक=मन्त्रवर्णन के अनुरूप या मन्त्रानुरूप प्रतिपाद्य, वैसा ही पढ़ा जाता है। मन्त्र में जैसे— "**वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥**" (यजु० ३२।८) यहां मन्त्र में विश्वनायक जगत् का उत्पत्ति-संहारकर्त्ता, विभु, ब्रह्मात्मा हृदयगुहा में विराजमान स्पष्ट वर्णित है। इसी प्रकार उपनिषद् में भी सर्वान्तर की दृष्टि से आनन्दमय कोश ब्रह्मवाचक है न कि प्रकृति का वाचक। यहां सूत्र में मन्त्र शब्द वेदवचन के लिये प्रयुक्त है। जैसे अन्यत्र आर्षग्रन्थों में

"**मन्त्रब्राह्मण-कल्पैः**" (निरु० १३।७) "**जुष्टार्पिते च छन्दसि नित्य मन्त्रे**" (अष्टा० ६।१।२१०)।

शाङ्करभाष्य में यद्यपि मन्त्र शब्द वेदवचन में माना है परन्तु वेदवचन का उदाहरण नहीं दिया, अतः वहां कहा—"मन्त्रब्राह्मणयोश्चैकार्थत्वं युक्तम्। अविरोधात्" (शाङ्करभाष्यम्) मन्त्र और ब्राह्मण की एकार्थता युक्त है अविरोध से, ऐसा शङ्कराचार्य का कथन है। किन्तु आगे "**मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः**" (वेदा० ३।३।५६) के भाष्य में "मन्त्राणां कर्मणानां गुणानां च" (शाङ्करभाष्यम्) ऐसा कहकर "**कुक्कुटोऽसि....**" (यजु० १।१६) "**छागस्य वपाया मेदसो...**" (यजु० २१।४१) "**यो जात एव प्रथमो मनस्वान्**" (ऋ० २।१२।१) ये मन्त्र उदाहरण के रूप में दिए हैं। उसी भांति इस सूत्र पर वेदमन्त्र का उदाहरण न दिया, यह उचित नहीं॥ १५॥

नेतरोऽनुपपत्तेः॥ १६॥

(न-इतरः) ब्रह्मात्मा से भिन्न जीव आनन्दमय नहीं हो सकता। क्योंकि (अनुपपत्तेः) अयुक्तता से। इसलिये कि आनन्दमय प्रकरण के अनन्तर ही पढ़ा गया है—"**स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च**" (तै० उ० २।६) 'सः' इस पद से पूर्ववचन में चला हुआ 'आनन्दमय' सम्बन्धित है कि उस आनन्दमय ने यह सब सर्जन किया=उत्पन्न किया। जगत् की सर्जनक्रिया में ब्रह्मात्मा ही समर्थ है इतर=उससे भिन्न जीवात्मा नहीं, उसका सामर्थ्य न होने से, उसके अल्पज्ञ होने से और अल्पशक्ति वाला होने से। अत एव आनन्दमय कोश ब्रह्मात्मा ही है अन्य जीवात्मा नहीं।

"**नेतरोऽनुपपत्तेः**" "**भेदव्यपदेशाच्च**" इन दोनों सूत्रों से ब्रह्म से भिन्न जीव है, यह सूत्रकार का मत स्पष्ट है। जो शङ्कराचार्य का मत 'ब्रह्म ही जीव है अन्य नहीं', यह युक्त नहीं, जिससे समकालीन स्वरूपतः भिन्न वस्तुओं में ऐसी विचारणा=विवेचना सम्भव है, जैसे देवदत्त गौर है, यज्ञदत्त नहीं। यहां ऐसा कहना दोनों की पृथक् पृथक् समकालीन शरीरसत्ता होने पर ही गौर वर्ण दोनों में परीक्षा करने योग्य है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार ब्रह्म एक सत्ता, दूसरी जीवसत्ता, उनमें ब्रह्म आनन्दमय सत्ता सृष्टिरचना से पूर्व समकालीन है, ब्रह्म ही सृष्टि रचता है, वह ही आनन्दमय कहा गया। जीव की सृष्टि रचना कार्य में अनुपपन्नता से अयोग्यता होने से, वह एकदेशी अल्पशक्ति वाला है, अतः आनन्दमय से भिन्न भी वहां कहा गया है, जिससे कि वह उस आनन्दमय को प्राप्त कर आन्दवान् हो जाता है, उसके

सङ्ग से आनन्द का अनुभव करता है। जैसे तापमय अग्नि के सङ्ग से कोई जन ताप का अनुभव करता है। अतः ब्रह्म से सर्वथा भिन्न जीव है॥ १६॥

तथा—

भेदव्यपदेशाच्च॥ १७॥

(च) और (भेदव्यपदेशात्) भेद का व्यवहार पाये जाने से भी यहां आनन्दमय जीव नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहीं आनन्दमय प्रकरण में भेद का व्यवहार विद्यमान है—"**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तै०उ० २।७)=वह प्रसङ्गप्राप्त परमात्मा आनन्दमय रस है, उस रसरूप आनन्दमय को प्राप्त कर उससे भिन्न प्राप्त करने वाला जीव आनन्दवान् हो जाता है। प्राप्त करने योग्य से भिन्न प्राप्तकर्ता हुआ करता है यह तो लोकप्रसिद्ध है। यहां प्राप्त करने योग्य आनन्दमय रसरूप परमात्मा है। उसे प्राप्त करके प्राप्त करने वाला आनन्दवान् हुआ जीव आनन्दमय से भिन्न है, यह सुस्पष्ट कहा है। अतः जीव आनन्दमय शब्द से अभीष्ट नहीं है॥ १७॥

और भी—

कामाच्च नानुमानापेक्षा॥ १८॥

(कामात्-च) जीव में काम-आनन्द की कामना है कि मैं आनन्दवान् हो जाऊं। अप्राप्त की प्राप्ति के लिये ही कामना का प्रसङ्ग होता है। यदि जीव आनन्दमय हो तो उसमें कामना का प्रसङ्ग नहीं बनता किन्तु जीव में कामना पाई जाती है। इस प्रकरण में भी कामना दिखलाई है। अतः काम शब्द के प्रयोग से उस आनन्दमय ब्रह्म के साथ काम प्रयोजन के विधान से (अनुमानापेक्षा न) आनन्दमय जीव नहीं है, इस में अनुमान की भी अपेक्षा-आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उस प्रकरण के प्रारम्भ में ही कहा है—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तै० उ० २।१) यहां जो गुहा में निहित ब्रह्म कहा गया है वह ही सर्वान्तर=सब के भीतर होने से आनन्द शब्द से अभिलक्षित किया है। उसे जानकर या प्राप्त करके सारी कामनाओं को प्राप्त करता है। इस प्रकार उसे जानने वाले जीव के कामपूर्तिरूप विधान से वह जीव आनन्दमय नहीं यह सिद्ध हुआ। ब्रह्मात्मा तो कामनावाला नहीं है, वेद में कहा है—"**अकामो धीरो.......रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः**" (अथर्व० १०।८।४४) रस से=आनन्द से पूर्ण होने से उसमें कामप्रसङ्ग नहीं, अतएव अकाम कामनारहित उसे मन्त्र में कहा है। अतः कामपूर्ति लक्ष्य होने से जीव आनन्दमय नहीं है। ब्रह्मप्राप्ति के लिए जीव की कामना

वेद में भी सूचित की है—"**कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्**" (ऋ० ७।८६।२)—मैं कब वरुण=वरने योग्य, वरने वाले परमात्मा में विराजमान हो जाऊं, कब उस सुख-स्वरूप को मैं अच्छे मन वाला होकर देख सकूं। यहां सुखस्वरूप आनन्दमय वरणीय ब्रह्मात्मा को कब देख सकूं, इस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति ब्रह्मदर्शन की कामना का विधान है॥ १८॥

जीव आनन्दमय नहीं है इस में और हेतु देते हैं—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति॥ १९॥

(च) और भी हेतु यह है—जीव आनन्दमय नहीं है, क्योंकि (अस्मिन्-अस्य तद्योगं शास्ति) इस आनन्दमय ब्रह्मात्मा में इस जीवात्मा का तद्योग=तादात्म्य=तादात्म्य सम्बन्ध का शास्त्र उपदेश करता है। जैसा कि "**यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति** (तै०उ० २।७)"=जो कोई जिसमें योग को प्राप्त करता है वह ही हो जाता है किन्तु उससे भिन्न होने पर ही योग का उपदेश सम्भव है। लोक में भी दूध में जल योग को प्राप्त करता है, दूध से जल पृथक् स्वरूपतः स्वतन्त्र वस्तु है ही। वेद में बहुत स्थानों पर ब्रह्मात्मा में जीव के योग का विधान है—"**परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्.... आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**" (यजु० ३२।११)=अपने आत्मा से परमात्मा में प्रवेश समागम करे "**कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि**" (ऋ० ७।८६।२)=मैं कब वरने योग्य वरने वाले परमात्मा में विराजमान हो जाऊं॥ १९॥

ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किए किन्हीं सन्दिग्ध पदों का निर्णय किया जाता है—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्॥ २०॥

(अन्तः) कहीं अध्यात्म प्रकरण में 'अन्तः' शब्द प्रयुक्त किया गया है। वह अन्तर्यामी परमात्मा अभीष्ट है, क्योंकि (तद्धर्मोपदेशात्) उस ब्रह्म के धर्मों का वहां उपदेश-वर्णन होने से। जैसे "**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी....इत्याधिदैवतम्**" (छान्दो० १।६।६।८) "**अथाध्यात्मम्। अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते.... तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं....**" (छान्दो० १।७।५)

यहां दोनों अधिदेव और अध्यात्म के प्रकरणों में "आदित्य में अन्तःपुरुष" "अक्षि=नेत्र में अन्तःपुरुष" कहा है, वह कोई जीव नहीं किन्तु ब्रह्मात्मा है, क्योंकि उस प्रकरण में ब्रह्म के ही धर्म कहे गए हैं, जैसे—**"स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः""स एष ये चास्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषाञ्चेष्टे मनुष्यकामानां चेति"** इन वचनों में उस 'अन्तःपुरुष' को सर्वपाप से पृथक् होना, सर्वलोकों का स्वामी होना, मनुष्य की कामनाओं का स्वामी होना आदि विशेषणों से जो कहा गया सो ब्रह्मात्मा को कहा गया है। यह ऐसा वर्णन आलङ्कारिक है ॥ २० ॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

(च) और भी (भेदव्यपदेशात्-अन्यः) भेदव्यवहार से जीव से भिन्न ही 'अन्तः' शब्द से ग्रहण करने योग्य ब्रह्मात्मा है न कि जीव। अन्यत्र अध्यात्मप्रकरण में 'अन्तः'='अन्दर' शब्द से कहा जाने वाला ब्रह्मात्मा ही प्रदर्शित किया जाता है। जैसा कि **"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद...य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो... एष त आत्मान्तर्या-म्यमृतः"** (बृह० ३।७।९, २२) यहां दोनों स्थलों में भेद से वर्णन है, आदित्य आदि जड़ वस्तु से तथा चेतन जीव से भी भिन्न उनका अन्तर्यामी ब्रह्मात्मा है यह सूचित किया है। प्रस्तुत प्रकरण में वही अन्तर्यामी ब्रह्मात्मा 'अन्तः' शब्द से कहा गया है ॥ २१ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

(आकाशः) अध्यात्मप्रकरण में प्रयुक्त होने वाला आकाश भी ब्रह्मात्मा जानना चाहिए न कि भूताकाश। क्योंकि (तल्लिङ्गात्) ब्रह्म के लिङ्ग ब्रह्म के लक्षण पाए जाने से—ब्रह्म में घटनेवाले लक्षण वहां हैं इसलिये। जैसे **"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्"** (तै०उ० २।७)=कौन जिसके कौन प्राण ले सके जो.यह आकाश आनन्द न हो। यहां आकाश ब्रह्मात्मा है क्योंकि यहां लक्षण ब्रह्मविषयक है। 'आनन्द=आनन्दप्रद' यह कहा ही है—**"एष ह्येवानन्दयाति"**=यह ही आनन्द देता है, आनन्दप्रद होने से आनन्द आकाश वह चेतन ब्रह्मात्मा ही सिद्ध होता है न कि भूताकाश उस के शून्यरूप होने से। तथा अन्यत्र भी **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्। एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः, परोवरो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकान्-जयति य एतदेवं विद्वान् परोवरीयांसमुपास्ते"** (छान्दो० १।९।१-२)। इस वचन

में भी आकाश ब्रह्मात्मा ही मानना चाहिए क्योंकि उसका परोवरीय उद्गीथ और उपास्य होना यहां लक्षण मिलता है। कोई भी वस्तु ब्रह्म से पर या अवर नहीं है, कहा भी है—"**यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्**" (श्वेता० ३।९)=जिससे पर अपर कोई नहीं, जिससे अणु और महान् कोई नहीं; वृक्ष की भांति स्थिर प्रकाशस्वरूप में विराजमान है उस पुरुष से यह जगत् पूर्ण है। अतः यहां परोवरीयान् पुरुष ब्रह्मात्मा है यह स्पष्ट है। ब्रह्म ही सब से पर और आकाश से भी पर है। कहा ही है वेद में "**त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः**" (ऋ० १।५२।१२)=व्योम आकाश के पार में है। उस से अतिरिक्त कोई वस्तु अवर भी नहीं हो सकती, ब्रह्म ही सब से अवर है, कहा है—"**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो...**" (बृह० ३।७।२२)=ब्रह्म तो अपने आत्मा में भी है। अतः 'परोवरीयान्' होना लक्षण से यहां आकाश ब्रह्मात्मा है यह दिखलाता है। दूसरा लक्षण से उद्गीथ होना। उद्गीथ होना भी ब्रह्म में सार्थक है भूताकाश में नहीं, उसकी उपासना के असम्भव से, क्योंकि गुणकर्मविहीन वस्तु उपास्य नहीं हो सकती। अन्यत्र भी "**आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म**" (छान्दो० ८।१४।१)। यहां भी आकाश ब्रह्मात्मा जानना चाहिए भूताकाश नहीं, क्योंकि यहां लक्षण है नाम और रूप का निर्वाहक होना। चेतनस्वरूप ब्रह्म का ही रचना कार्य है, जड़ आकाश का नहीं, यह यहां स्पष्ट सूचित किया हुआ है 'तद् ब्रह्म' वह ब्रह्म है। अतः अध्यात्मप्रकरण में जहां आकाश शब्द मिले वह ब्रह्म का वाचक है, यह जानना चाहिए॥ २२॥

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

(अतः-एव प्राणः) इस ही हेतु से अर्थात् तल्लिङ्ग-ब्रह्म के लक्षणों से ही कहीं अध्यात्मग्रन्थ में प्राण भी ब्रह्मात्मा जानना चाहिए। जैसा कि "**यदिदं जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्**" (कठो० ६।२)=यह जो सब उत्पन्न जगत् है प्राण के अन्दर गति करता है। "**सर्वाणि वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते**"(छान्दो० १।११। ५)=सारे ये पदार्थ प्राण में प्रविष्ट होते हैं, प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। यहां दोनों स्थलों में प्राण शब्द से परमात्मा अभीष्ट है क्योंकि पूर्ववचन में प्राण के अन्दर जगत् का गति करना बनता है और उत्तरवचन में जगत्पदार्थों का प्राण में प्रवेश तथा प्राण से उत्पादन कथन करना लक्षण होने से 'प्राण' यहां परमात्मा है। वेद में भी ऐसे ही प्राण शब्द परमात्मा के लिये आता

है—"**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥**" (अथर्व० ११।४।१)=इस सारे जगत् का प्रतिष्ठान वशकर्ता स्वामी प्राण नाम से परमात्मा ही हो सकता है, शरीरवर्ती प्राण नहीं॥ २३॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात्॥ २४॥

(ज्योतिः) अध्यात्मप्रकरण में पढ़ा हुआ 'ज्योति' शब्द भी ब्रह्म का वाचक है। क्योंकि (चरणाभिधानात्) पाद नाम देकर वर्णन करने से, पाद का रूपक देने से। जैसा कि "**एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥**" (छान्दो० ३।१२।६) इतना विस्तृत जगत् इस परमात्मा की महिमा है इस से महान् पुरुष=पूर्ण परमात्मा है। सारे पदार्थ लोक-लोकान्तर उसका एक पाद है, इसका त्रिपाद अविनश्वर प्रकाशस्वरूप में है। इस प्रकार यहां पुरुष परमात्मा के चार पाद कल्पित करके सारे पदार्थों को एक पाद और तीन पाद अमृत द्युलोक में है ऐसा प्रारम्भ करके आगे प्रदर्शित किया है कि "**अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः**" (छान्दो० ३।१३।७) इस वचन में 'ज्योतिः' शब्द ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि पूर्व से चलते हुए वचन में परमात्मा के पाद का निर्देश किया वहां त्रिपादरूप अमृत द्युलोक में कहा वह ही यहां उत्तर वचन में '**परो दिवो ज्योतिः**' कथन से '**ज्योतिः**' रूप से पुनः कहा गया है। वही 'ज्योतिः-रूप' ब्रह्मात्मा सर्वलोकपृष्ठों में सर्वलोकों के बाह्यप्रदेशों में ऊपर नीचे के सभी लोकप्रदेशों में भी है। उसका दृष्टान्त जैसे मानव शरीर में अन्तर्ज्योति, आत्मज्योति, अहं ज्योति है। वेद में कहा ही है—"**वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्**" (ऋ० ६।९।६) जैसे ही आत्मा ज्योति है। वेद में भी "**दिवः परः**" की भांति "**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः**" (यजु० ३१।४)। अग्नि भी वह कहा जाता है वेद में "**तदेवाग्निस्त...**" (यजु० ३२।१)। अतः पाद के अभिधान से ज्योतिः शब्द ब्रह्मात्मा का वाचक है न कि जड़ रूप ज्योति का वाचक, उसकी पादकल्पना के असम्भव होने से। ज्योतिः शब्द से वेदों में और उपनिषदों में बहुत स्थानों पर ब्रह्म वर्णित किया जाता है। जैसा कि "**ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः। विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभिवियन्ति साधु।**" (ऋ० ६।९।५) तथा उपनिषद् में—"**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय**

परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' (छान्दो० ८।१२।३) ''**तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः**'' (मुण्ड० २।२।९) ''**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'' (कठो० २।५।१५) ॥२४॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्॥ २५ ॥

(छन्दोभिधानात्-न-इति चेत्) पूर्वसूत्र में जो 'ज्योतिः' शब्द के ब्रह्मवाचक होने से चरणाभिधान=पादवर्णन प्रमाण सूचित किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि छन्द के कथन से वहां गायत्री छन्द चल रहा है। वहां पाद वर्णन उस गायत्री छन्द का मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। यदि ऐसा माना जावे तो (तथा न) वैसा न मानना चाहिए, क्योंकि (चेतोर्पणनिगदात्) वहां छन्द के वर्णन का अवसर नहीं है, वहां तो ब्रह्म के वर्णन का प्रसङ्ग है—पूर्व खण्ड से ही ब्रह्म का वर्णन चल रहा है—''**य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद**'' (छान्दो० ३।११।३) इस खण्ड में समष्टिपुरुष=विराड्रूप परमात्मा गायत्री नाम से कहा जा रहा है। क्योंकि उस ब्रह्म में चेतोर्पणनिगद मनोनिवेश के प्रतिपादन से मन का प्रवेश ही उसमें जिससे हो जावे, गायत्री छन्द से समता का प्रदर्शन सुगमतार्थ है। ''**सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री**'' (छान्दो० ३।१२।५) (तथा हि दर्शनम्) जैसे समता के प्रदर्शनार्थ गायत्री नाम से ब्रह्म कहा गया है वैसा ही दर्शन अन्यत्र मिलता है—''**सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोयमात्मा चतुष्पात्**'' (माण्डू० २)। यहां ब्रह्म को चतुष्पात् चार पादों वाला कहा, पुनः प्रत्येक पाद के छः-छः अक्षर भी अक्षररूप छःछः गुण कहे हैं। वहीं प्रत्येक पाद में छःछः दीखते हैं— ''[१]जागरितस्थानो [२]बहिःप्रज्ञः [३]सप्ताङ्ग [४]एकोनविंशतिमुखः [५]स्थूलभुक् [६]वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥ [१]स्वप्नस्थानोऽ[२]न्तःप्रज्ञः [३]सप्ताङ्ग [४]एकोनविंशतिमुखः [५]प्रविविक्तभुक् [६]तेजसो द्वितीय पादः ॥ ४॥ [१]सुषुप्तस्थान [२]एकीभूतः [३]प्रज्ञानघन एवानन्दमयो [४]ह्यानन्दभुक् [५]चेतोमुखः [६]प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५ ॥ [१]नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम-दृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्। [२]एकात्मप्रत्ययसारं [३]प्रपञ्चोपशमं [४]शान्तं [५]शिव[६]मद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ६ ॥'' इस प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्मात्मा के चार पाद प्रत्येक पाद में अक्षर के समान छः-छः गुणवर्णन दीखते हैं। जैसे छन्दोरूपा गायत्री चार पाद वाली और प्रतिपाद छः अक्षरों से युक्त है ऐसे ही उस के समान चार पाद और प्रतिपाद छः गुणों से युक्त है। इस प्रकार समानता क्रम मन के

प्रवेशार्थ है। अतः यहां छन्दोवर्णन ब्रह्मवर्णन है। वह ही ब्रह्म प्रकृत-चला हुआ 'ज्योतिः' शब्द से उत्तर कथन में लक्षित है॥ २५॥

यदि कोई कहे कि यहां के गायत्री छन्दोवर्णन को माण्डूक्योपनिषद् में दिए ब्रह्मवर्णन के साथ बलात् समतुलित किया जाता है किन्तु यहां तो प्रत्यक्ष गायत्री छन्द का वर्णन है ही, इस विषय का समाधान किया जाता है—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥ २६॥

(च) और भी (भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः-एवम्) वहां ही भूत आदि=भूत-पृथिवी-शरीर-हृदयों को पादरूप से कहे जाने के हेतु से। भूत आदि ब्रह्म के पाद सदृश हो सकते हैं, गायत्री छन्द के नहीं। इस प्रकार भी पूर्व से प्रस्तुत ब्रह्म ही गायत्री नाम से और ज्योति नाम से उपदिष्ट है॥ २६॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्॥ २७॥

(उपदेशभेदात्-न-इति-चेत्) गायत्री प्रकरण में तो 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' सप्तमी विभक्ति में उपदेश है, ज्योतिष्प्रकरण में 'परो दिवः' पञ्चमी विभक्ति में उपदेश किया गया है। इस प्रकार उपदेशभेद से एक वस्तु लक्षित नहीं होती किन्तु भिन्न-भिन्न ही सम्भव है, यदि यह कहा जावे तो (न-उभयस्मिन्-अपि-अविरोधात्) ऐसा नहीं मानना चाहिए क्योंकि दोनों—पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियों के वर्णन में अविरोध से एक ही वस्तु मिलती है, भेद नहीं होता है। जैसा कि '**पर्वते मेघः**'=पर्वत पर मेघ या '**पर्वतात्परो मेघः**'=पर्वत से परे मेघ, इस कथन में लक्ष्यभेद नहीं होता है तत्त्व एक ही रहता है। अतः दोनों में गायत्री नाम से और ज्योति नाम से ब्रह्म ही कहा जाता है॥ २७॥

इस समय पूर्व से विलक्षण भेदकोपदेश के दूसरे उदाहरण का विचार किया जाता है—

प्राणस्तथानुगमात्॥ २८॥

(तथा प्राणः) उसी प्रकार कहीं-कहीं अध्यात्मप्रकरण में भेदोपदेश से प्राण भी निर्दिष्ट किया हुआ ब्रह्मात्मा अभीष्ट है। पूर्व भेद प्रकरण में तो विभक्ति का भेद था। पञ्चमी-सप्तमी विभक्ति के भेद से भी परम पुरुष ब्रह्मात्मा तो एक ही लक्षित है। यहां तो प्राण शब्द प्रयोग से वाक्यभेद और क्षेत्रभेद से ब्रह्मात्मा एक अभिन्न कहा हुआ प्रस्तुत किया जाता है। कैसे? सो कहते हैं (अनुगमात्) अनुगम से=एक में ही वाक्यार्थ सङ्गत और उपसंहार होने से। जैसा कि इन्द्र ने देवोदास प्रतर्दन के लिये कहा—

"**प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व-अप खलु प्राण एव प्रज्ञामेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्-स एष एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः**" (कौषीतकि ब्राह्मणो० ३।१।२, ३, ८) इस वचन में प्राणविषयक चार वाक्य हैं। सो यहां वाक्यभेद से भी चार भेद हैं और क्षेत्रभेद से भी चार भेद हैं। वहां प्रत्येक वाक्य में और प्रत्येक क्षेत्र में 'प्राण' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाला प्रतीत होता है। इस प्रकार भेद-व्यपदेश है कि—"**प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व**" इस प्रथम वाक्य में इन्द्र, "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" इस दूसरे वाक्य में प्राणवायु, "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" इस तीसरे वाक्य में जीव, "स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः" इस चौथे वाक्य में ब्रह्म, इस प्रकार इन चार वाक्यों में क्रमशः 'इन्द्र, प्राणवायु, जीव, ब्रह्म' ये चार वाक्यार्थों के अभिनायक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार वाक्यभेदों में प्राण तो समान है, वह तो ब्रह्म का वाचक ही है क्योंकि प्राण शब्द के ब्रह्मवाचक होने से चारों वाक्यों में भी अनुगमन=अर्थ की समानता तो है ही॥ २७॥

वह कैसे ? यह बात प्रश्नपूर्वक सूत्रकार आचार्य स्वयं क्रमशः सूत्रों द्वारा खोलता है—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्॥ २९॥

(न, वक्तुः-आत्मोपदेशात्) पूर्वोक्त चारों वाक्यों में प्राण शब्द से ब्रह्म कहा जाता है यह ठीक नहीं, क्योंकि "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" इस प्रथम वाक्य में वक्ता इन्द्र का आत्मोपदेश-निजजीवविषयक उपदेश करने से (इति चेत्) यदि ऐसा कहा जावे तो (अस्मिन्-अध्यात्म-सम्बन्धभूमा हि) इस कथन में अध्यात्मसम्बन्ध की-ब्रह्म में निमग्रता की तादात्म्य सम्बन्ध की बहुलता=अत्यधिकता है। उस अत्यधिकता से तार्द्धम्योपाधिवश से इन्द्र ऐसा कहता है, क्योंकि अन्तिम वाक्य से "स एष प्राणः....अजरोऽमृतः"=वह यह प्राण अजर अमृत है, ऐसा उपसंहार किया जाता है॥ २९॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्॥ ३०॥

(शास्त्रदृष्ट्या तु-उपदेशः) शास्त्र अर्थात् वेद की दृष्टि से=वैदिक ऋषियों की दर्शन रीति से तो उपदेश अवश्य सम्भव है (वामदेववत्) जैसे ही वेद में मन्त्रदर्शन में वामदेव ने तादात्म्य सम्बन्ध की अत्यधिकता को

अनुभव करके कहा है कि "**अहं मनुरभवमहं सूर्यश्च**" (शत० १४।२।२१, बृह० १।१४।१०)=मैं मनु हुआ, मैं सूर्य भी॥ ३०॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रित-त्वादिह तद्योगात्॥ ३१॥

(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्-न-इति चेत्) दूसरे वाक्य में मुख्य प्राण का लिङ्ग तीसरे वाक्य में जीव का लिङ्ग प्रतीत होता है। अतः प्राण शब्द से ब्रह्म सिद्ध नहीं होता है, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि (उपासा-त्रैविध्यात्) उपासना की त्रिविधता=तीन भेद का दोष प्रसङ्ग आ जावे। उपासना का यहां प्रकरण है और ब्रह्म ही उपास्य अभीष्ट है, न ही मुख्य प्राण और जीव कहीं उपास्यरूप में अभीष्ट हैं (तदाश्रितत्वात्) वे दोनों मुख्य प्राण और जीव भी ब्रह्म के आश्रित ही हैं, कैसे फिर आश्रय को छोड़कर आश्रित की उपासना कही जावे (तद्योगात्) उपासक भी उस ब्रह्म के ही योग-सम्बन्ध को अपने अन्दर चाहते हैं, उसके दर्शन की इच्छा करते हैं। अतः यहां प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक ही है, इसी कारण ही चतुर्थ वाक्य में इसका उपसंहार भी है—"**स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दो जरोऽमृतः**"=वह यह प्राण ब्रह्म है और यह आनन्द-आनन्दस्वरूप है उसके सम्बन्ध से आनन्द को अनुभव करता है, अजर अमर ब्रह्मात्मा है, अतः यह सम्यक् सिद्ध होता है कि प्राण शब्द यहां ब्रह्म के लिये है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यह कथन वेदानुसार है, वेद में उपासना में प्राण शब्द से ब्रह्म ही अभीष्ट है="**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥**" (अथर्व० ११।४।१)=प्राण के लिये नमस्कार हो जिसके सब कुछ वश में है, जो सब का ईश्वर है जिसमें यह सब प्रतिष्ठित है।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की दो प्रकार की व्याख्या करी है। उनमें प्रथम व्याख्या है एवं "स हि त्रिविधमुपासनं प्रसज्येत जीवोपासनं मुख्य-प्राणोपासनं ब्रह्मोपासनं चेति न चैतदेकस्मिन् वाक्येऽभ्युपगन्तुं युक्तम्, उपक्रमोपसंहाराभ्यां हि वाक्यैकत्वमवगम्यते" (शाङ्करभाष्यम्)। इस रीति से तीन प्रकार की उपासना का प्रसङ्ग आ जावे-जीव की उपासना, मुख्य प्राण की उपासना और ब्रह्म की उपासना, ऐसा एक वाक्य में होना युक्त नहीं है तथा उपक्रम उपसंहार से एकवाक्यता प्रतीत होती है। दूसरी व्याख्या "अथवा नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्-इत्यस्यायमन्योऽर्थः—न

ब्रह्मवाक्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गं विरुध्यते। कथम्। उपासात्रैविध्यात्। त्रिविधमिहोपासनं विवक्षितं प्राणधर्मेण स्वधर्मेण च" (शाङ्करभाष्यम्) अथवा इस सूत्र का यह अर्थ हैकि ब्रह्मवाक्य में भी जीव मुख्य प्राण के लिङ्ग का विरोध नहीं आता क्योंकि उपासना के तीन प्रकार होने से। यहां तीन प्रकार की उपासना विवक्षित है, कहना अभीष्ट है प्राण धर्म से, प्राज्ञ-धर्म से और स्वधर्म से। शाङ्करभाष्य की इन दोनों व्याख्याओं में परस्पर विरोध है, पूर्व कथन में तो त्रिविधोपासना जीव की, मुख्यप्राण की, ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती, उत्तर कथन में त्रिविधोपासना जीव की उपासना, मुख्यप्राण की उपासना, ब्रह्म की उपासना को स्वीकार किया है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ संशययुक्त और परस्परविरुद्ध किया है। और भी शाङ्करभाष्य में सूत्रक्रम से भी विपरीतता मिलती है। सूत्रक्रम तो "**प्राणस्तथानुगमात्**" (२८) प्राण से ब्रह्म के वाच्य होने का क्रम चल रहा है। इस सूत्र में इन्द्रलिङ्ग मुख्यप्राणलिङ्ग प्रतीत होने पर वस्तुतः प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक है। उस ब्रह्म की उपासना है, इन्द्र की=जीव की। मुख्य प्राण की उपासना नहीं। यह सूत्रपक्ष वा शास्त्रपक्ष है। परन्तु शाङ्करभाष्य में दूसरी व्याख्या तो इससे विपरीत जीव की उपासना मुख्य प्राण की उपासना भी सिद्ध की जा रही है। इस प्रकार शाङ्करभाष्य में व्याख्या अयुक्त है। और भी आगे "**जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्**" (वेदा० १।४।१७) यह सूत्र तीन कारणों के निराकरणार्थ उपस्थित किया है। यह बात यहां (वेदा० १।१।३१) उपस्थित सूत्र की भांति निराकरणता दिखलाई जाती है। तब त्रिविध उपासना का निराकरण होना युक्त होगा न कि त्रिविध उपासना का विधान, अतः त्रिविध उपासनापरक व्याख्यान शाङ्करभाष्य में मिथ्या ही है॥ ३१॥

प्रथमाध्याय में प्रथम पाद समाप्त॥

द्वितीय पाद

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

(सर्वत्र) न केवल कौषीतकि ब्राह्मणोनिषद् में ही पूर्वपाद में पढ़ा हुआ ब्रह्म उपास्य मानने योग्य है किन्तु सर्वत्र शास्त्रों में और उपासना प्रकरणों में भी (प्रसिद्धोपदेशात्) उपास्यरूप से ब्रह्म का उपदेश प्रसिद्ध होने से अथवा प्रसिद्ध-उपास्य रूप से प्रतिपादित किए हुए ब्रह्म का उपदेश होने से अन्यत्र सन्दिग्ध या सन्देह योग्य स्थलों में केवल ब्रह्म ही उपास्य जानना चाहिए। जैसा कि—"**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त**

उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत'' (छान्दो० ३।१४।१-२)। यहां सन्देह होता है 'उपासीत' क्रिया का उपास्य कौन वस्तु है? यह समस्त जगत् उपास्य है या स्वकीय स्वरूप ? दोनों ही इस वाक्य में मिलते हैं '**सर्वं खल्विदम्**', इस वचन से जगत् '**क्रतुमयः पुरुषः**' इस कथन से स्वकीय स्वरूप। इसका यहां उत्तर दिया जाता है कि न जगत् उपास्य है और न ही स्वकीय स्वरूप उपास्य है किन्तु केवल ब्रह्म ही उपास्य है, क्योंकि सर्वत्र शास्त्रों में या उपासना प्रकरणों में ब्रह्म ही उपास्य विधान किया गया है। अच्छा, क्यों '**सर्वं खल्विदम्**' वचन से जगत् का वर्णन और क्यों ही '**क्रतुमयः पुरुषः**' कथन से जीव का वर्णन किया है ? उत्तर में कहा जाता है 'सर्वं खल्विदम्'। यह कथन तो 'तज्जलान्' इस जगत् के विवरणार्थ है कि वह ऐसा कौन है सो जगत् है। जो यह सब जगत् है उस ब्रह्म से ज=जात=उत्पन्न, उस में ल=लयशील, उस में 'अन्' रहता है। उस इस नानाविध जगत् में मनुष्य भ्रम को प्राप्त न हो किन्तु शान्त हुआ जगत् के कारणरूप ब्रह्म की उपासना में हेतु का निर्देश किया है। '**क्रतुमयः पुरुषः**' यह कथन तो उपासना का फलप्रदर्शनार्थ है, क्योंकि पुरुष अर्थात् मनुष्य क्रतुमय=सङ्कल्पमय है जिस सङ्कल्पवाला इस लोक में होता है वैसा यहां से मरकर फलप्राप्तिवाला हो जाया करता है। ब्रह्मोपासना-परायण मनुष्य इस लोक में यदि होता है तो यहां से मरकर ब्रह्मानन्द या मोक्ष को प्राप्त करेगा, यह स्पष्ट फलनिर्देश ब्रह्मोपासना में दूसरा हेतु कहा है। अस्तु।

यहां कुछ विशेष बात कहते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' इस वचन में ब्रह्म शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है, शाङ्करभाष्य की भांति परमात्मा का वाचक नहीं। यदि यहां ब्रह्म शब्द परमात्मा का वाचक हो तो फिर ''**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**'' इस सूत्र का अवसर न हो और न इस सूत्र का उदाहरण उक्त यह वचन हो सके, सन्देहरहित होने से। स्पष्ट ही यहां ब्रह्म शब्द है, विचार का अवसर नहीं है। यदि तो ब्रह्म जिसका कारण है, ब्रह्म कारण वाला होने से उत्पत्ति-स्थिति-लयधर्मी जगत् भी गौण ब्रह्म रूप यहां उपास्य हो तो भी विचार का अवसर नहीं, असन्दिग्ध होने से। यदि वह उपास्यरूप से नहीं कहा और केवल जगत् भी गौण भाव से ब्रह्म कहा है तब उपयोग न होने से यह कहना निरर्थक हो जावे। अतः यहां ब्रह्म शब्द परमात्मा का वाचक नहीं अपितु बृहत्तम=फैला हुआ विस्तृत संसार या ब्रह्माण्ड अर्थ को देने वाला है। इस विषय में प्रमाण देते हैं—

(१) "**ब्रह्मवादिनो वदन्ति किङ्कारणं ब्रह्म, कुतः स्म जाता जीवामः**" (श्वेता० १।१) इस वचन में 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माण्ड=संसार अर्थ में है। 'किङ्कारणम्' यह समासपद ब्रह्म का विशेषण है। 'किङ्कारणं यस्य'=क्या कारण जिसका है, कारण वस्तु विषयक प्रश्न है, जैसा कि अगले वचन में 'कुतः स्म जाता जीवामः' हम किससे उत्पन्न हुए ? कौन हमारा उत्पादक है ? यह कारणवस्तुविषयक प्रश्न स्पष्ट है।

(२) "**तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते**" (मुण्डको० १। १।८) यहां उत्पत्ति प्रकरण है। परमात्मा के ज्ञानमय तप से ब्रह्म अर्थात् बृहत्तम जगत् ब्रह्माण्ड का चयन, चित्रीकरण सूक्ष्म रूप से होता है, फिर अन्न=अदनीय प्राणियों का भोग्य=भोग्य वस्तुमात्र उत्पन्न होते हैं।

(३) "**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते**" (मुण्डको० १।१।८) यहां भी सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, ज्ञानमय तपवाले ईश्वर से नाम रूप वाला बृहत्तम संसार ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, यह स्पष्ट कहा है।

(४) स्वामी दयानन्द ने भी ब्रह्माण्ड के अर्थ में ब्रह्म शब्द प्रदर्शित किया है।" **(ब्रह्मणः) बृहतो जगतः**" (ऋ० १।४०।५, दयानन्द-भाष्यम्)

इस प्रकार बहुत प्रमाणों से सिद्ध है कि "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्**" इस वचन में ब्रह्म शब्द बृहत्तम जगत्=ब्रह्माण्ड का वाचक है। अत एव यह वचन सन्देहास्पद है। उपासना में विचारणीय होने से उदाहरणरूप में सूत्र में ग्रहण किया जाता है॥ १॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च॥ २॥

(च) और भी यह दूसरा हेतु (विवक्षितगुणोपपत्तेः) उपस्थित किए उपनिषद् वचन में कहने को अभीष्ट या कथन करने में निर्दिष्ट जो गुण हैं उनकी ब्रह्म में युक्त=सार्थकता होती है। और वे गुण "**मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ...ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः**" (छान्दो० ३।१४।१-३) विज्ञानरूप, प्राणस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प, आकाशरूप, सर्वकर्मसमर्थ, सर्वकामना का आधार, सर्वगन्धाश्रय, सर्वरसवान्, सबको प्राप्त, सबमें व्याप्त, वाक् इन्द्रिय से रहित, उदार ये गुण

ब्रह्म में ही हो सकते हैं, अतः इस प्रकरण में ब्रह्म ही उपास्य स्पष्ट है॥ २॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

(अनुपपत्तेः) उक्त गुणों की अनुपपन्नता=असिद्धि के हेतु से भी (शारीरः) शरीर में रहने वाला जीव (न) यहां उपास्य नहीं, क्योंकि सत्य-सङ्कल्पता सर्वलोकों से बड़ा होना आदि गुण जीव में नहीं हैं। अतः इस वचन में ब्रह्म ही उपास्य रूप से लिया जाता है। इस प्रकार इस सूत्र से ब्रह्म से भिन्न जीव है, इस बात को मानते हुए व्यास महर्षि जीव की उपासना का प्रतिषेध करते हैं।

शङ्कराचार्य तो कहते हैं—"पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिन्नो बालैः शारीर इत्युपचर्यते" (वेदा० १। २। ६। सूत्रभाष्य में)= पर आत्मा=परमात्मा ही देह इन्द्रिय-मन-बुद्धिरूप उपाधियों से घिरा हुआ बालकों अर्थात् अज्ञों के द्वारा शारीर अर्थात् जीव नाम से व्यवहृत होता है। शङ्कराचार्य का यह अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण कथन है। शारीर=जीवात्मा तो परमात्मा से भिन्न है यह सिद्धान्त तो सूत्रकार आचार्य का है न कि बालकों=अज्ञों का। बालकों=अज्ञों=मूर्खों का मत भी सिद्धान्तरूप से स्थापित किया जावे, ऐसा शिष्टाचार नहीं है। उत्तरपक्ष में तो सत्य सिद्धान्त ही स्थापित किया जाता है। "**अनुपपत्तेस्तु न शारीरः**" यह सूत्र उत्तर पक्ष का है, और अन्यत्र कहीं आर्षशास्त्रों में जीवसत्ता का स्वीकार करना मूर्खों का मत नहीं है। अतः शारीर=जीव तो स्वरूपतः ब्रह्म से भिन्न ही है। इसलिये यहां शाङ्करभाष्य अयुक्त है॥ ३॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

(च) और भी यह हेतु है कि (कर्मकर्तृव्यपदेशात्) कर्मकर्ता के व्यवहार से=कर्म और कर्ता के पृथक्-पृथक् व्यवहार दर्शन से। क्योंकि उससे आगे "**एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि**" (छान्दो० ३। १४। ४) इस लोक से प्रस्थान करके इस परमात्मा को प्राप्त करूंगा। इस पूर्वोक्त सत्यसङ्कल्प वाला सर्वलोकों से बड़ा होना आदि गुणों से विशिष्ट प्राप्त करने योग्य कर्मरूप परमात्मा को मैं कर्ता प्राप्त करूंगा। इससे भी ब्रह्म ही उपास्य है, जीव नहीं है॥ ४॥

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

(शब्दविशेषात्) शब्दभेद से यह जाना जाता है कि यहां ब्रह्म ही उपास्य है। वह शब्दभेद कैसे है, सो स्पष्ट किया जाता है कि यहां उपनिषद्

में उपास्य का स्वरूप वर्णन है—"**अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा श्यामकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वा एष य आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या:**" (छान्दो० ३।१४।३) इस वचन में जो कहा है, वैसा ही अन्यत्र ग्रन्थ में भी कहा है—"**यथा व्रीहिर्वा यवो या श्यामको वा श्यामकतण्डुलो वैवमय-मन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मय:**" (शत० १०।६।३।२) भेद से निर्दिष्ट किया जाता है कि छान्दोग्य में 'अन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या:' शतपथ में तो 'अन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मय:' कहा है।" 'अन्तर्हृदये' के स्थान में 'अन्तरात्मन्-अन्तरात्मनि' प्रयुक्त किया है। इस प्रकार अन्तरात्मा से भिन्न वह पुरुष पृथिवी से बड़ा उपास्य है, यह सिद्ध हुआ॥५॥

स्मृतेश्च॥६॥

(स्मृते:—च) न केवल उपनिषद् में दिए शब्दभेद से ही किन्तु स्मृति के शब्दभेद से भी ब्रह्मात्मा कर्म है और जीवात्मा कर्ता दर्शन-क्रिया का स्पष्ट उपलब्ध होता है, जैसे—"**एवं य: सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मान-मात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्**" (मनु० १२।१२५)= इस प्रकार जो सारी वस्तुओं में परमात्मा को आत्मा से देखता है=अनुभव करता है, वह सब समता को प्राप्त कर पर-पद ब्रह्म में स्थान पाता है। यह दर्शन क्रिया का कर्म और कर्ता का व्यवहार परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध में वेदानुकूल है, वेद में स्पष्ट है—"**तद्विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:**" (ऋ० १।२२।२०)= इस व्यापक परमात्मा के उत्कृष्ट स्वरूप को सदा धीर ध्यानी विद्वान् देखते हैं॥६॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥७॥

(अर्भकौकस्त्वात्) अर्भक=अल्प, ओक:=स्थान जिसका है वह अर्भकौका:=अल्पस्थानवाला होने से। क्योंकि वहां उपनिषद् वचन में परमात्मा का स्थान अल्प हृदय देश कहा गया है—"**एष म आत्मान्तर्हृदये.....**" (छान्दो० ३।१४।३) तिस कारण से (च) और (तद्व्यपदेशात्) अर्भक=अल्प=अल्पपरिमाण का भी "**अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा**" (छान्दो० ३।१४।३) चावल से सूक्ष्म, यव से सूक्ष्म इत्यादि कथन से (न-इति चेत्) यहां परमात्मा गृहीत नहीं है, ऐसा यदि कहा जावे तो (न) नहीं कहना चाहिए। क्योंकि (निचाय्यत्वात्) वहां हृदय में उस परमात्मा के ध्यान से प्राप्तव्य होने से। इसलिये कि परमात्मा अनन्त है,

जीवात्मा हृदयदेश में ही अल्पस्थान वाला है, वह उसे प्राप्त करने को अनन्त नहीं हो सकता, वह निज आत्मा में निज स्थान में हृदय में ही उसे प्राप्त या अनुभव कर सकता है। अतः वह हृदयदेश में ध्यान से प्राप्त होता हुआ परमात्मा हृदय के अन्दर कहा जाता है (च) और (एवं व्योमवत्) इस प्रकार यह कथन व्योमवत् सङ्गत या सम्भव है, जैसे ही व्योम-आकाश सर्वगत होता हुआ भी अल्प स्थान में अवकाशरूप से प्राप्त होता ही है, उसे सुई के अग्रभाग से भी सूक्ष्म द्व्यणुक से भी अणु कहा जा सकता है, वैसे परमात्मा भी मानना चाहिए॥ ७॥

सम्भोग-प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्॥ ८॥

(सम्भोगप्राप्तिः—इति चेत्) जीव के साथ ब्रह्म का हृदयदेश समान स्थानसम्बन्ध होने से ब्रह्म में भी सुख-दुःख की प्राप्ति हो जावे, यदि यह शङ्का की जावे तो (न) ऐसी शंका करना ठीक नहीं। क्योंकि (वैशेष्यात्) जीव की अपेक्षा ब्रह्म के विशेष लक्षण वाला होने से, "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**" (ऋ० १।१६४।२०, मुण्डको० ३।१।१) जीवात्मा और परमात्मा दोनों का समान स्थान होने पर भी परमात्मा तो यहां 'अनश्नन्'= अभोक्ता कहा गया है, भोक्ता तो जीवात्मा ही है यह स्पष्ट कहा है। योगदर्शन में भी "**क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**" (योग० १।२४) जीवात्मा तो क्लेश कर्म भोगवासनाओं से सम्पर्क रखता है किन्तु परमात्मा इन अविद्या आदि क्लेशों, पुण्य-पापकर्मों, उनके फलरूप भोगों और वासनाओं से सम्पर्क न रखने वाला कहा है। परमात्मा तो विभु=महान् से महान्, अनन्त, अणु से अणु, सूक्ष्म से सूक्ष्म है। उसका जीव के साथ समान स्थान होने पर भी उसे भोगसम्प्राप्ति नहीं होती। जैसे आकाश रसोई के अग्निताप से नहीं जलता। और परमात्मा की भोगप्राप्ति का निषेध भी किया गया है—"**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः**" (कठो० २।२।११)=जैसे सूर्य सारे संसार का चक्षु है, नेत्र है, दिखाने वाला है, नेत्रसम्बन्धी बाहिरी दोषों से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सब भूतों में रहता हुआ परमात्मा लोकदुःख से दुःखी नहीं होता। और भोग का हेतु कर्म है और भोगार्थ कर्म बिना शरीर धारण के नहीं बनते। परमात्मा तो शरीरसम्बन्ध से पृथक् है, जैसे कहा है—"**अज एकपात्**" (यजु० ३४।५३)=अजन्मा है। तथा "**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्......**" (यजु०

४०।८) परमात्मा अकाय है=अशरीर है, शरीररहित है। अतः जीव के साथ समान स्थान होने पर भी उसका भोग से सम्पर्क नहीं होता॥८॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

(अत्ता) परमात्मा की सम्भोगप्राप्ति निषिद्ध करी, किन्तु "**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभये भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्य चोपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः**" (कठो० १।२।२४) यहां परमात्मा का भोजन ब्रह्म-क्षत्र को चावल रूप में कहा है। सो ऐसा जो उसका भोक्ता होना भासित हो रहा है, वह जीव की भांति खाने-पीने वाला नहीं है किन्तु वह जो यहां खाने वाला कहा गया है वह (चराचरग्रहणात्) चर-जङ्गम जड़ का प्रलयकाल में अपने अन्दर ग्रहण कर लेने वाला होने से कहा है। वस्तुतः यहां उपनिषद् में परमात्मा की शक्ति प्रदर्शित की है कि जगत् में दो शक्तियां हैं। उनमें एक ब्राह्मशक्ति है, दूसरी क्षात्रशक्ति है, परन्तु दोनों शक्ति उसके सम्मुख तुच्छ हैं, दोनों शक्तियां उसके ओदन=चावल=मृदु भोजन के समान हो जाती हैं। अथवा चर-अचर ही ब्रह्म-क्षत्र हैं। मृत्यु भी जो सबको अपने मुख में धर लेती है, उसे भी उपसेचन उपरि तरल व्यञ्जन के समान अपने में विलीन कर लेता है। ब्रह्म क्षत्र खाद्य वस्तुएं नहीं हैं और न मृत्यु चाट लेने योग्य पदार्थ है और न वेद में परमात्मा को भोक्ता कहा गया है किन्तु भोक्ता होने का निषेध ही किया है। जैसे—"**अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**" (ऋ० १।१६४।२०)=न भोगता हुआ साक्षी मात्र है। अतः परमात्मा को भोगसम्प्राप्ति नहीं होती है॥९॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

(च) और भी (प्रकरणात्) प्रकरण से यह सिद्ध होता है। यहां प्रकरण परमात्मा के भोक्ता होने का नहीं है किन्तु उसकी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसका जानना, प्राप्त करना ही चल रहा है। वह इस प्रकार "**अणोरणीयान् महतो महीयान्......। आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः.... ॥ महान्तं विभुमात्मानं मत्वा ॥ यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः... ॥ प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्... ॥**" (कठो० १।२।२०-२३) इन वचनों से परमात्मा की शक्ति का प्रकरण चल रहा है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म, महान् से महान् दूर तक व्याप्त अनन्त आदि है, इसके अनन्तर "**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्य चोपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः**" (कठो० १।२।२४) यह वचन कहा गया है। अतः यह वचन भोगप्राप्ति की दृष्टि से नहीं है किन्तु चराचर का संहार करने वाली उसकी शक्ति का प्रदर्शन

करते हुए उसकी दुर्ज्ञेयता-कठिनाई से जानने की बात दिखलाई जाना अभीष्ट है ॥ १० ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

(गुहां प्रविष्टौ) जहां अध्यात्मप्रकरण में 'प्रविष्टौ' इस प्रकार दो अनिर्दिष्ट कहे जाते हैं, वे दो कौन हैं? यह निर्दिष्ट नहीं किया है। वे दोनों ऐसे (आत्मानौ) जीवात्मा और परमात्मा हैं, यह जानना चाहिए। जैसे कि—"**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये**" (कठो० १।३।१) इस वचन में कैसे जीवात्मा परमात्मा हैं? सो कहते हैं (तद्दर्शनात्) उन दोनों के देखने से उस हृदयगुहा में अध्यात्मयोग से अनुभव होने से तथा अन्यत् अध्यात्मप्रकरणों में ऐसा पढ़ने से "**अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण**" (कठो० ६।२७) "**एष य आत्मान्तर्हृदये**" (छान्दो० ८।३।३) "**बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः**" (अथर्व० १६।३।५) इन वचनों में जीवात्मा का स्थान हृदय बतलाया। तथा "**अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्**" (कठो० २।२०) "**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥**" (कठो० २।१२) "**वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**" (यजु० ३२।५) इन वचनों से स्पष्ट हो रहा है परमात्मा हृदय गुहा में है। अपितु जीवात्मा और परमात्मा दोनों हृदयगुहा में हैं, यह एक ही वचन में एक साथ कहा है—"**पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥**" (अथर्व० १०।५।४३) यहां पुण्डरीक=हृदयकमल में यक्ष परमात्मा आत्मन्वत् =आत्मा जीवात्मा को निजाधार पर संस्थापित करके वर्तमान है, यह कहा है। अतः "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ" वचन से जीवात्मा परमात्मा प्रतिपादित किए गए हैं। ऋत को पीते हुए=सत्य को सेवन करते हुए। ज्ञान ही सत्य है, अतः ज्ञान का सेवन करते हुए= ज्ञानवाले चेतन दोनों जीवात्मा परमात्मा हैं ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

यदि यहां कोई कहे कि यहां 'गुहां प्रविष्टौ' सामान्य से कहा है, वे मन और जीवात्मा भी कहे जा सकते हैं, ये दोनों भी हृदय में रहते हैं, मन का स्थान हृदय कहा है—"**कस्मिन्नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति**"

(शत० २४।६।९।२५) मन किस में प्रतिष्ठित है ? प्रश्न के उत्तर में हृदय है। "**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**" (यजु० ३४।६) हृदय में प्रतिष्ठावाला मन है, यह कहा गया है। 'गुहां प्रविष्टौ' वचन में जीवात्मा और परमात्मा हैं, वे कैसे ग्रहण किए जाते हैं, सो कहते हैं (विशेषणात्—च) विशेषण से भी यहां जीवात्मा और परमात्मा हैं क्योंकि जीवात्मा के साथ मन का ग्रहण नहीं होता है किन्तु जीवात्मा के साथ परमात्मा का ही ग्रहण युक्त है। वहां विशेषण है ही "ब्रह्मविदो वदन्ति" ब्रह्म को जानने वाले कहते हैं, यह कहा है। इससे ब्रह्म का प्रसङ्ग होने से 'गुहां प्रविष्टौ' में जीवात्मा के साथ ब्रह्म होने योग्य है। और भी "यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्" यहां भी ब्रह्म लक्षित है। उपसंहार में भी "**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते**" (कठो० ३।१५) यहां भी ब्रह्म का वर्णन है अतः ब्रह्म का प्रकरण स्पष्ट है। तथा कहीं भी मन और जीवात्मा साहचर्य से नहीं पढे हैं। जीवात्मा परमात्मा साहचर्य से पढ़े जाते हैं "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजांते**" (ऋ० १।१६४।२०) भोक्ता जीवात्मा और अभोक्ता साक्षी परमात्मा साथ पढ़े हैं, अतः यहां 'गुहां प्रविष्टौ' कथन में जीवात्मा परमात्मा ही हैं।

शाङ्करभाष्य में 'ऋतं पिबन्तौ' इस वचन का अर्थ कर्मफल के भोक्ता जो किया है, वह अयुक्त है। क्योंकि कहीं भी ऋत शब्द कर्मफल के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता है किन्तु सत्य या ज्ञान को ऋत कहते हैं, जैसे "**ऋतं सत्यं ज्ञानं बिभर्तीति—ऋतम्भरा प्रज्ञा**" (योग० १।४८ व्यासः) और परमात्मा भोक्ता भी नहीं है "**अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**" (ऋ० १। १६४। २०) इस वचन से। और शाङ्करभाष्य में कहा है कि "**छत्रिणो यान्तीति न्यायेन**" छाते वाले जाते हैं उनमें कोई विना छाते होते हुए भी छाते वाले कहे जाते हैं। ऐसे ही यहां भी जीवात्मा फलभोक्ता होने से परमात्मा भी कर्मफलभोक्ता समझना सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रायः बहुत जन छाते वाले हों, उनमें थोड़े विना छाते के हों तब छाते वाले जाते हैं, कथन युक्त हो सकता है, पर दो ही व्यक्तियों में एक छाते वाला दूसरा विना छाते वाला तो फिर उन्हें छाते वाले जाते हैं ऐसा नहीं कह सकते हैं। एक के खा लेने पर दूसरे न खाए हुए को भी खा चुका कहा जाना ठीक नहीं है। वस्तुतः "ऋतं पिबन्तौ" सत्य ज्ञान को सेवन करते हुए ज्ञानवत्ता से ज्ञ=जीव प्रज्ञ=परमात्मा ही यहां हैं, यह आशय है। पहिले परमात्मा

'**अत्ता**' कहा गया चराचर के ग्रहण करने से। यहां तो दोनों परमात्मा जीवात्मा ज्ञान के पीने वाले उसके सेवन करने के कारण से कहा गया, इस हेतु से उन दोनों की मित्रता वर्णित की है, जैसे वेद में "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" (ऋ० १ । १६४ । २०) इस वचन में। उसी भांति छाया आतप की भांति मेल या समीपता है ॥ १२ ॥

हृदय में प्रविष्ट परमात्मा और जीवात्मा हैं, यह तो कह दिया किन्तु जो हृदय स्थान से भिन्न अङ्गों में होता हुआ भी 'तदन्तरः' उनसे अन्तर— भिन्न कहा गया वह कौन है, यह कहते हैं—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

(अन्तरः) बृहदारण्यकोपनिषद् में पढ़ा है—"**यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरम्....। यो वाचि तिष्ठन् वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरम्...। यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरम्। यः श्रोत्रे विष्ठन् श्रोत्रादन्तरो...। यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो...। यस्त्वचि तिष्ठंस्त्व-चोऽन्तरो...। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो...। यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरम्...।**" (बृहदा० ३ । ७ । १६-२३) प्राण चक्षु आदि अङ्गों में वर्तमान होता हुआ भी उन से अन्तर-पृथक् जो कहा जाता है वह भी परमात्मा ही जानना चाहिए। क्योंकि (उपपत्तेः) उपपन्नता से, युक्ति से। जीव तो अणु, परिच्छिन्न एकदेशवर्ती है, न कि विभु या सर्वदेशवर्ती। कहा भी है—"**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः**" (कठो० ६ । १७) वह तो हृदयस्थान में ही रहता है न कि हृदय में जैसे रहता है, वैसे हृदय से अन्यत्र भी रहता है उसका वैसा सामर्थ्य न होने से। परन्तु परमात्मा तो सब अङ्गों में वर्तमान है उसके विभु होने के सामर्थ्य से। उन-उन अङ्गों में वर्तमान होता हुआ भी उन-उन से अन्तर=पृथक् भी उनसे बाहिर भी स्वरूपतः रहता है। अतः जो 'अन्तर' उपदिष्ट किया है, वह परमात्मा जानना चाहिए।

स्वामी शङ्कराचार्य ने इस सूत्र का अर्थ "**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**" (वेदा० १ । २०) इस सूत्र के अर्थ की भांति किया है, दोनों स्थानों में उदाहरण की समानता भी मिलती है। वह यह बात विद्वान्जन देखें—

अन्तर उपपत्तेः (वेदा० १ । २ । १३)—

"**य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभय-**

मेतद् ब्रह्मेति'' (छान्दो० ४। १५। १)परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्ट इति। कस्मात्? उपपत्तेः उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपदिश्यमानम्'' (शाङ्करभाष्यम्)।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (वेदा० १।१।२०)—

''अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते'' (छान्दो० १।७।५) इति श्रूयमाणः पुरुषः परमेश्वर एव। कुतः? तद्धर्मोपदेशात् तस्य हि परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः'' (शाङ्करभाष्यम्) यहां दोनों सूत्रों के शाङ्करभाष्य में जो उदाहरण दिया गया है तथा जो हेतु दिखलाया है, उन दोनों की समानता विद्वान् जन देखें—

उदाहरण की समानता—

''य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते''(अन्तर उपपत्तेः सूत्र पर)

''य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते'' ('अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' सूत्र पर)।

यहां दोनों उदाहरणों में सब समान है, भेद तो केवल इतना है कि पिछले उदाहरण में 'अन्तः' शब्द साक्षात् है, पूर्व उदाहरण में 'अन्तः' शब्द साक्षात् नहीं है, गुप्तरूप में तो है ही; क्योंकि दोनों उदाहरणों में अर्थभेद नहीं है।

हेतु की समानता—

''उपपद्यते हि परमेश्वरे गुणजातमिहोपिदिश्यमानम्'' ('अन्तर उपपत्तेः' सूत्र पर)।

''परमेश्वरस्य धर्मा इहोपदिष्टाः'' ('अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' सूत्र पर)।

यहां दोनों हेतुओं के 'गुणजातम्=धर्माः' इहोपदिश्यमानम्=इहोपदिष्टाः' कथन में हेतुनिर्देश का भेद नहीं है।

इस प्रकार दोनों सूत्रों पर हेतु और उदाहरण की समानता से किसी एक सूत्र की व्यर्थता की आपत्ति आती है। ''अन्तर उपपत्तेः'' सूत्र का शाङ्करभाष्य ठीक नहीं है। इस सूत्र पर जो उदाहरण दिया है ''य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते'' वह ''अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'' इस सूत्र पर देना चाहिए। वहां इसके 'अन्तः' शब्द के गुप्त रूप से विद्यमान होने से। यदि ऐसा न माना जावे तो 'अन्तर उपपत्तेः' इस सूत्रप्रसङ्ग में 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह वचन उदाहरण क्यों दिया? इस वचन में सूत्र का विचारणीय 'अन्तरः' शब्द तो है नहीं।

तथा 'अन्तर उपपत्तेः' सूत्र में 'अन्तरः' शब्द भिन्न अर्थवाला है, न कि मध्यम अर्थवाला। शाङ्करभाष्य में अन्य अनर्थ यह भी किया है कि

'अन्तर' शब्द का मध्यम अर्थ किया। जैसे उनके वचन से स्पष्ट होता है— "**परमेश्वर एवाक्षिण्यभ्यन्तरः पुरुष इहोपदिष्टः**" (वेदा० २।१३ शाङ्कर-भाष्यम्) यहां शाङ्करभाष्य में 'अन्तरः' इस शब्द के स्थान में 'अभ्यन्तरः' [अभिगतोऽन्तरेऽभ्यन्तरः-अन्दर गया हुआ] प्रयुक्त किया है। कहीं भी प्रथमा विभक्ति में 'अन्तरः' शब्द मध्यम अर्थ वाला प्रयुक्त नहीं होता है किन्तु सप्तमी विभक्ति में आया हुआ ही 'अन्तरे' शब्द मध्यम अर्थ में प्रयुक्त होता है। यद्यपि यहां सूत्र में सन्धि का अवलम्बन कर सप्तमी विभक्ति में कल्पित किया जा सकता है परन्तु सूत्र में सप्तमी विभक्ति वाले की अयोग्यता से वह यहां नहीं लिया जा सकता। क्योंकि सप्तमी विभक्ति वाला परमात्मा का वाचक नहीं हो सकता, प्रथमा विभक्ति वाला ही समानाधिकरण होने से वाचक हो सकता है। 'अन्तरः' परमात्मा ही यहां ग्रहण किया जाता है 'उपपत्तेः' उपपन्नता से, युक्ति से। यह सूत्रार्थ सिद्ध होता है। अतः इस सूत्रप्रसङ्ग में शाङ्करभाष्य ठीक नहीं है॥ १॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च॥ १४॥

(च) और भी यह अन्य हेतु उस 'अन्तरः' शब्द के परमात्मा का वाचक होने में (स्थानादिव्यपदेशात्) शरीराङ्गों से भिन्न पृथिवी स्थानादियों में वर्तमान होता हुआ वह उनसे भिन्न व्यपदिष्ट है—कहा गया है। जैसा कि "**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्… योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो… योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरः…। यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो…। य आदित्ये तिष्ठन्…। यो दिक्षु तिष्ठन्…। यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्…। य आकाशे तिष्ठन्…। यस्तमसि तिष्ठन् यस्तेजसि तिष्ठन्…। यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो…।**" (बृहदा० ३।७।३—१५) इस प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु स्थानों में तथा अन्तरिक्ष, आकाश, दिशा में वर्तमान उनसे 'अन्तरः' भिन्न रहने वाला व्यपदिष्ट है=कहा गया है, अतः वह 'अन्तरः' परमात्मा जानने योग्य है॥ १४॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च॥ १५॥

(च) और भी (सुखविशिष्टाभिधानात्-एव) ब्रह्म वस्तुतः विशिष्ट सुख कहा जाता है, साधारण सुख तो ऐन्द्रियिक है=इन्द्रियों का है वह तो बाह्य है, किन्तु जो अन्तःस्थ सुख है वह विशिष्ट है, वह तो ब्रह्म है, जो अन्तःस्थ है और उससे भिन्न अन्य अन्तःस्थ सुख नहीं है। वह जो अन्तःस्थ होता हुआ ब्रह्म विशिष्ट सुख कहा जाता है वह कहते हैं—"**प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कञ्च तु खञ्च**

न विजानामीति। ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति'' (छान्दो० ४।१०।५)=शरीराङ्गों में अन्तःस्थ वर्तमान तीन वस्तुएं अनुभूत होती हैं। प्रथम तो प्राण दूसरे सुख और तीसरे आकाश। तीन वस्तुओं की अनुभूतिरूप ब्रह्म है क्योंकि वह प्राणरूप सुख है और व्यापक सुख है, न कि एक इन्द्रियवर्ती सुख। इस प्रकार वह सुखविशिष्ट अन्तःस्थ है, सब की अपेक्षा जो अन्तःस्थ हो सकता है वह ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। अतः शरीराङ्गों में सर्वान्तःस्थ होने से ब्रह्म ही ग्रहण करने में युक्त है॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च॥ १६॥

(च) और भी (श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्) श्रवण अर्थात् श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार किया है उपनिषद्-ब्रह्मविद्या का जिस ने उस ऐसे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञानी की गति-सिद्धि के प्रतिपादन से शरीराङ्गों में वर्तमान अन्तःस्थ ब्रह्म ही मानना चाहिए—''**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**'' (तै० उ०२।१) ब्रह्मवेत्ता पर गति को प्राप्त होता है।''**अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति**''**आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एतान् ब्रह्म गमयति**''(छान्दो० ४।१५। ५,६) ''**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः**'' (गीता० ८।२४) इन वचनों में ब्रह्मवेत्ता की परम गति का विधान है, अतः शरीर आदि में जो अन्तःस्थ आत्मतत्त्व जानने योग्य कहा है, वह ब्रह्म ही जानना चाहिए॥ १६॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः॥ १७॥

(इतर—) ब्रह्म से भिन्न जीव पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न शरीराङ्गों में अन्तर्दृष्टि से लक्षित (न) नहीं हो सकता (अनवस्थितेः—असम्भवात्-च) भिन्न-भिन्न अङ्गों में स्वस्थिति से एक साथ जीव लक्षित नहीं किया जा सकता, उसके एकदेशी होने से। नहीं तो किसी एक अङ्ग के नष्ट होने पर उसका नाश हो जावे, इस प्रकार अनवस्थिति दोष प्रसङ्ग आजावे। असम्भव होने से भी नहीं हो सकता क्योंकि जीव अणु परिमाण है, वह बहुत स्थानों में स्वरूप से ठहर नहीं सकता है॥ १७॥

यदि इस प्रकार 'अन्तरः' यहां परमात्मा कहा जावे तो फिर कैसे वह तेरा अन्तर्यामी अमृत कहा गया है—''**यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**'' (बृह० ३।७।१६) इत्यादि भिन्न-भिन्न अङ्गों में अन्तर्यामी कहा जाता है ही, इस से तो शरीर में रहने वाला जीव लक्षित

होता है। इस पर उत्तर रूप में कहा जाता है--

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥ १८॥

(अन्तर्यामी) जो यह अन्तर्यामी वहां कहा गया है, वह न केवल शरीराङ्गों में ही कहा गया है जिस से शरीर में रहने वाला जीव लक्षित किया जावे, और न केवल पृथिवी आदि दैवपदार्थों में ही कहा गया है, जिससे अव्यक्त प्रकृति समझी जावे। किन्तु (अधिदैवादिषु) देवों=पृथिवी आदियों का गण दैव, वह आदि जिनके वे दैवादि उन्हें लक्ष्य करके जो हैं उन अधिदैवादियों में। यहां दो गणों के पदार्थ हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आकाश, आदित्य, दिशा, चन्द्र, तारे, अन्धकार, तेज हैं आधिदैविक, और प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान तो आध्यात्मिक हैं। इन दोनों गणों में भी वह अन्तर्यामी कहा गया है, वह न जीव और न ही अव्यक्त प्रकृति हो सकता है किन्तु केवल परमात्मा ही अभीष्ट है (तद्धर्मोपदेशात्) उस परमात्मा के धर्म का वर्णन होने से, सब पृथिवी आदि का यमयिता होना परमात्मा का धर्म है॥ १८॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिधानात्॥ १९॥

(न च स्मार्तम्) और न ही उपादानरूप से अन्तर्भूत स्मृति प्रतिपादित या स्मृति से मन में समवायीरूप से लक्षित प्रकृति नामक अव्यक्त यहां अन्तर्यामी कहा जा सकता है। यद्यपि पूर्वोक्त समस्त आधिदैविक वस्तु समुदाय का उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति सूक्ष्मरूप से उसके अन्दर विद्यमान है, कहा ही है उसका सूक्ष्मत्व स्मृति में—"**अप्रतर्क्यविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः**" (मनु० १।५)=जगत् से पूर्व उपादान कारण सर्वत्र प्रसुप्त था। किन्तु वह अन्दर विद्यमान होता हुआ भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्योंकि (अतद्धर्माभिधानात्) किसी भी स्मृति में उन पदार्थों में उसका अन्तर्यामी होने तथा उसके अन्तर्नियमन कार्य का वर्णन न होने से॥ १९॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥ २०॥

(शारीरः-च) शारीर=शरीर में रहने वाला जीवात्मा भी नहीं। 'च' से 'न' का अनुवर्तन है। शरीर में रहने वाला जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि (उभये-अपि हि-एनं भेदेन-अधीयते) उभय=दोनों काण्वशाखीय और माध्यन्दिनशाखीय भी इस अन्तर्यामी को भेद से शारीर अर्थात् शरीर में रहने वाले जीवात्मा से भिन्न करके इसे पढ़ते हैं। जैसे

पृथिवी आदि से 'अन्तर-भिन्न' वह अन्तर्यामी है उसी भांति शारीर=जीवात्मा से भी 'अन्तरः'' भिन्न' वह अन्तर्यामी है। जैसा कि ''**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः**'' (बृह०३।७।१) इसी भांति ''**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः**'' (बृह० ३।७।२२) काण्वीय पाठ है ''**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः**'' (बृह० ३।७।३० शतपथीय माध्यन्दिनीय पाठ है) दोनों पाठों में पृथिवी आदि का पाठ सब समान है, केवल एक ही वचन में एक पाठ में विज्ञान शब्द दूसरे पाठ में आत्मा शब्द प्रयुक्त किया है। ऐसा करना विज्ञान और आत्मा शब्द का पर्याय होना दर्शाता है। अन्यत्र भी ऐसा सिद्ध व्यवहार बहुत जगह उपलब्ध होता है जैसाकि ''**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**'' (यजु० ३१।३) कहीं शाखा में ''**पादोऽस्य सर्वा भूतानि**''।

इस सूत्र पर 'एनं शारीरम्' जो शाङ्करभाष्य में कहा गया है वह तो नितान्त अप्रासङ्गिक सूत्रशैली के विपरीत है। ''**शारीरश्चोभये**'' इस कथन में शारीर शब्द से शारीर चरितार्थ नहीं है किन्तु अन्तर्यामी कहा जाता है उसी के लिये 'एनम्' शब्द है, क्योंकि वह अन्तर्यामी शारीर=जीवात्मा से भिन्न है, यही प्रतिपाद्य वस्तु दोनों शाखावालों के वचनों में अन्तर्यामी भेद से पढ़ा जाता ही है। उपसंहार में यही मत शाङ्करभाष्य में दिया गया है— ''**तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति**'' (वेदा० १।२।२० शाङ्कर-भाष्यम्) अर्थात् अतः शारीर=जीवात्मा से भिन्न, अन्तर्यामी ईश्वर है। इस कारण शाङ्करभाष्य में 'एनं शारीरम्' यह व्याख्यान करना अयुक्त है॥ २०॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥ २१॥

(अदृश्यत्वादिगुणकः) अध्यात्मप्रकरण में अदृश्यत्व आदि गुणवाला वह ही पूर्व से आ रहा परमात्मा जानना चाहिए। जैसा कि ''**यत्तदद्रृश्य-मग्राह्यमगोत्रमवर्णचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**'' (मुण्ड १।१।६) जो कि अग्राह्य तथा गोत्र, वर्ण, नेत्र, श्रोत्र, हाथ, पैर से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, अव्यक्त, एकरस भूतों के आधार को धीर देखते हैं। यहां अदृश्यत्व आदि गुणवाला परमात्मा क्यों मानना चाहिए? सो कहते हैं (धर्मोक्तेः) उस परमात्मा के धर्मों का कथन होने से। कैसे जाना जाता है कि इस वचन में परमात्मा के धर्म कहे हैं। वह परमात्मा पूर्व से आरहा है, यह बताया जाता है—प्रारम्भ में ही ''**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्भूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठमथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह**'' (मुण्ड० १।१।१) इस वचन में ब्रह्मविद्या कथन से ब्रह्म अर्थात् परमात्मा

का वर्णन चल पड़ा। इसी प्रकार "**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च**" (मुण्ड० १।१।४) यहां 'ब्रह्मविदः' पद से ब्रह्म जानने योग्य अभीष्ट है ऐसा प्रकरण यहां है यह सूचित होता है। तथा "**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**" (मुण्ड० १।१।५) यहां भी परा विद्या में वही ब्रह्म लक्ष्य निर्दिष्ट है जो "अदृश्यमग्राह्यं..." इस वचन में है। वह गुणवर्णन प्रकृत ब्रह्म परमात्मा का ही है यह सिद्ध हो गया उपसंहार में भी "**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्ड० १।१।९) परमात्मा के धर्म स्पष्ट हैं॥ २१॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

(च) और भी (विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्) विशेषण से तथा भेद-व्यवहार से भी (इतरौ न) परमात्मा से भिन्न प्रकृति और जीवात्मा यहां अदृश्यत्व आदि गुणों के प्रकरण में नहीं ग्रहण किए जा सकते। तो वह विशेषण कैसा है और भेदव्यवहार कैसा है, यह वर्णित किया जाता है- "**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारणी॥**" (मुण्ड० २।१।२-३) यहां उत्तर वचनानुसार प्राण, इन्द्रिय, मन, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश जिससे उत्पन्न होते हैं वह पूर्ववचन में विशेषित किया है 'दिव्य, अमूर्त, पुरुष=चेतन, जगत् के बाह्य और आभ्यन्तर, अज=अजन्मा, अप्राण, अमनाः' इन विशेषणों से युक्त जीव नहीं होता, अतः वह नहीं। और 'अक्षरात् परतः परः" अक्षर=अविनश्वर अव्यक्त प्रकृति नामक उपादान कारण से पर से पर वह जगदुत्पादक परमात्मा है, यह भेद निर्देश है। अतः अदृश्यत्व गुणयुक्त यहां प्रकृति भी लक्षित नहीं है।

यहां सूत्र में "इतरौ" कथन से स्पष्ट होता है कि महर्षि व्यास के मत में अथवा वेदान्तशास्त्र के मत में त्रैतवाद सिद्धान्त है, आचार्य ग्रन्थकार की दृष्टि में ब्रह्म से भिन्न उसके समयकालीन जीव और प्रकृति भी दो पदार्थ हैं परन्तु वे यहां प्रतिपादित गुणों से विहीन हैं॥ २२॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

(रूपोपन्यासात्-च) वहां प्रदर्शित रूपकालङ्कार से भी यह सिद्ध होता है कि अदृश्यत्वादि गुण वाला इस प्रकरण में न जीव है न प्रकृति है। वह कौनसा रूपकालङ्कार है यह वहां प्रदर्शित किया है? "**अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं**

विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥'' (मुण्ड० ५।१।५) इससे पूर्व के वचन में प्राण आदि जीवाङ्गों की पृथिवी आदि पञ्चभूतों और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति जिससे हुई वह यहां उत्तर वचन में रूपकालङ्कार से कहा जाता है। वह यह रूपकालङ्कार जीव में नहीं घटता है, उसके अणुपरिमाणवाला अल्पशक्तिवाला और एकदेशी होने से, तथा न इसका सर्वभूतान्तरात्मा होना किसी प्रकार हो सकता है। उपादान प्रकृतिनामक अव्यक्त का भी यह रूपक कल्पित करना युक्त नहीं है क्योंकि ये पदार्थ उसके विकाररूप हैं जैसे सोने के विकार रूप कड़े आदि भूषण हैं। विकार को प्राप्त होने वाले और विकारों का अङ्गाङ्गी भाव नहीं है और जड़ प्रकृति सर्वभूतान्तरात्मता तथा ये सर्वान्तर्यामिता को प्राप्त नहीं होती है, किन्तु चेतन देव परमात्मा ही सर्वभूतान्तरात्मा सर्वकर्ता है। वेद में भी कहा है— ''**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**'' (ऋ० १०।९३।३, यजु० १७।१९)= भूमि से आकाशपर्यन्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाला एक परमात्म-देव है। तथा ''**वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**'' (यजु० ३२।८)= उसी में सारा संसार उत्पन्न होता और विलीन होता है। अतः अदृश्यत्व आदि गुण वाला परमात्मा ही है, न जीव और न प्रकृति॥ २३ ॥

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥ २४॥

(वैश्वानरः) अध्यात्मप्रकरण में वैश्वानर कहा हुआ परमात्मा ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि (साधारणशब्दविशेषात्) साधारण शब्द से ही वह भिन्न कहा जाता है जैसा कि प्राचीनशाल आदि पांच महाश्रोत्रिय मिलकर महर्षि उद्दालक के पास गए और बोले कि ''**आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति**'' (छान्दो० ५।११।५)=आप वैश्वानर आत्मा को भलीभांति जानते हैं उसका हमें उपदेश करो। इस प्रकार यहां वैश्वानर शब्द से परमात्मा ग्रहण करने योग्य है क्योंकि यहां जो वैश्वानर शब्द है वह साधारण शब्द नहीं है जो कि अग्नि, जाठर अग्नि, सूर्य के लिये प्रयुक्त होता है। ''आत्मानं वैश्वानरम्'' ऐसा होने पर जीवात्मा ग्रहण नहीं किया जाता है, क्योंकि इस विचारधारा में ब्रह्म शब्द भी विशेषण है। ''**को न आत्मा किं ब्रह्म**'' (छान्दो० ५।११।१) इस प्रश्न में लक्ष्य ब्रह्म ही है जो हम जीवात्माओं का आत्मा है, वह कौन है ? वह ब्रह्म हो सकता है। वह किस प्रकार का यह विचार है। अतः यहां विशेषण बल से वैश्वानर शब्द से कहा हुआ परमात्मा ग्रहण करने योग्य है॥ २४॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यात्॥ २५॥

(स्मर्यमाणम्-अनुमानं स्यात्) एक-एक अङ्ग स्मरण में आता हुआ अपने अङ्गी के सिद्ध करने में अनुमान प्रमाण होता है। जिससे यहां एक एक शिर आदि अङ्ग स्मरण किया जाता है **"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ"** (छान्दो० ५।८।२)=उस वैश्वानर आत्मा का मूर्धा चमचमाता हुआ द्युलोक, विश्व को रूप देने वाला सूर्य आंख है। भिन्न मार्गों में बहने वाला वायु उसका प्राण, आकाश बाहिरी चमड़ी, जल उसकी वस्ति=मूत्राशय, पृथिवी उसके पैर हैं। इस प्रकार अङ्गों से स्मरण आता हुआ वैश्वानर परमात्मा ही अनुमान किया जा सकता है अन्य नहीं, सामर्थ्याभाव से। ऐसे अङ्गों के अन्य अङ्गी के अभाव से। अङ्गों का अङ्गी होना चाहिए वह यह वैश्वानर अङ्गीरूप परमात्मा है। ऐसे अङ्गी का निश्चायक कथन वेद में भी है **"यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।"** (अथर्व० १०।७।३२-३३)=जिसके पैर भूमि, उदर अन्तरिक्ष, मूर्धा द्युलोक, आंख सूर्य और चन्द्रमा हैं, मुख अग्नि है। उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार हो॥ २५॥

**शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्यु-
पदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते॥ २६॥**

(शब्दादिभ्यः-अन्तःप्रतिष्ठानात्-च न) परमात्मा से भिन्न अग्नि आदि वस्तुओं के वाचक शब्द वैश्वानर से एकदेशस्थान निर्देश से और अङ्गी निर्देश से भी यहां वैश्वानर परमात्मा नहीं तथा शरीर के अन्दर प्रतिष्ठान-वर्तमान होने से भी वैश्वानर परमात्मा नहीं है (इति चेत्-न) यदि यह कहा जावे तो ऐसा न मानना चाहिए, क्योंकि (तथादृष्ट्युपदेशात्-असम्भवात्) तथादृष्टि=वैश्वानरदृष्टि उसके उपदेश से, परमात्मा में वैश्वानर दृष्टि उपदेश की जाती है। यहां यह ऐसी दृष्टि वेद में बहुत कही जाती है, वायु, वरुण इन्द्र आदि दृष्टि से परमात्मा बहुत कहा जाता है—**"इन्द्रं मित्रं वरुण-मग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** (ऋ० १।१६४।४६) और असम्भव होने से भी "द्यौः सुतेजाः" मूर्धा के स्थान में "पृथिवी" पैर के स्थान में इत्यादि कथन के अल्पपरिमाणी एकदेशवर्ती वस्तु में सर्वथा असम्भव होने से। परमात्मा तो विभुः=सर्वान्तर्वर्ती है (पुरुषम्-अपि च-एनम्-अधीयते) और

इस वैश्वानर को पुरुष कहकर पढ़ते हैं, पुरुषविशेषण से विशेषित करते हैं वाजसनेयीजन—"**स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः। स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद॥**" (शत० १०।६।१।११)=वह यह पुरुष=पूर्ण परमात्मा ही वैश्वानर अग्नि है, जो जानने वाला है वह इस वैश्वानर अग्नि को शरीर में व्याप्त जानता है॥ २६॥

अत एव न देवता भूतं च॥ २७॥

(अतः-एव) इन पूर्वोक्त हेतुओं से ही (न देवता भूतं च) यहां पढ़ा हुआ वैश्वानर न देवतारूप सूक्ष्म वैद्युत्शक्तिरूप पदार्थ या सूर्य है और न ही भूत पार्थिव अग्नि है॥ २७॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः॥ २८॥

(साक्षात्-अपि-अविरोधं जैमिनिः) जैमिनि मुनि तो यह भी मानता है कि पूर्वोक्त तथा दृष्टि के उपदेश, असम्भव, पुरुष-विशेषण हेतुओं से अतिरिक्त साक्षात् वैश्वानर शब्द भी परमात्मा का वाचक है, किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है अर्थात् यहां पुरुष आदि विशेषण भी हैं किन्तु विशेषणों के बिना भी वैश्वानर शब्द मुख्य रूप से परमात्मा का वाचक ही है, परमात्मा में ही उसका मुख्यार्थ घटता है अन्यत्र नहीं, क्योंकि विश्व अर्थात् चराचर जगत् या विश्व अर्थात् सारे पदार्थों का नयनकर्त्ता विश्वानर ही वैश्वानर है 'स्वार्थ में अण्' जैसे रक्षस् ही राक्षस यह नाम का अविरोध है। स्थान का अविरोध भी है परमात्मा के विभु होने से वह हृदयप्रदेश में भी सदा वर्तमान है, अतः उसका स्थानविरोध प्रसङ्ग भी नहीं है॥ २८॥

स्थानविरोध प्रसङ्ग में तो आश्मरथ्य का मत कहता है कि—

अभिव्यक्तेराश्मरथ्यः॥ २९॥

(अभिव्यक्तेः) इस परमात्मा का स्थान हृत्प्रदेश अध्यात्मशास्त्रों में वर्णित किया है—"**एतद् यो वेद निहितं गुहायाम्**" (मुण्ड० २।१।१०) जो इसे हृदयगुहा में विराजमान जानता है "**पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्**" (मुण्ड० ३।१।७) देखने वालों में यहीं हृदयगुहा में प्रतीत होता है। वेद में भी "**वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।**" (यजु० ८।३२) ध्यान से कान्तिमान् जन उसे हृदयगुहा में रखा हुआ देखता है, जिसके अन्दर सारा संसार एक घोंसले के समान है। वह यह ऐसा वर्णन केवल अभिव्यक्ति के हेतु ही है। उस परमात्मा की अभिव्यक्ति=साक्षात् दृष्टि=साक्षात्कार हृदयप्रदेश में ही होता है, (इति आश्मरथ्यः) यह सिद्धान्त

आश्मरथ्य आचार्य मानता है ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

(बादरिः) बादरि आचार्य व्यास के पिता तो (अनुस्मृतेः) अनुगत करके स्मरण=अनुस्मृति=विशेष ध्यान=मनोयोग ध्यान से ही परमात्मा का स्थान हृदयप्रदेश मानता है। क्योंकि मन का स्थान हृदय प्रदेश "**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**" (यजु० ३४।६) ध्यान या विशेष ध्यान मन से किया जाता है और मन हृदयप्रदेश में है, अतः विशेष ध्यान-मनोयोग ध्यान से परमात्मा का स्थान हृदय प्रदेश कहा है, ऐसा मानता है ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

(सम्पत्तेः) परमात्मा का स्थान हृदयप्रदेश कहना या उसका प्रादेशिक कथन करना सम्पत्ति=सम्पन्नता=प्राप्ति=योग्यता=समाधि लाभ के कारण है। क्योंकि "**कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे**" (निरु० १।१)=कर्मों की सम्पत्ति-योग्यता जैसे होती है ऐसे ही यहां भी ब्रह्म-दर्शन योग्यता सम्पत्ति हेतु है। अतः (इति जैमिनिः) ऐसा जैमिनि आचार्य मानता है क्योंकि परमात्मा अनन्त है, उसकी प्राप्ति को अथवा उसके साथ समाधि लाभ को मनुष्य केवल प्रदेश विशेष में ही कर सकता है न कि अनन्तरूप से, जीव अल्प-शक्तिवाला और एकदेशी होने से। जैसे ही समुद्र की प्राप्ति को कोई मनुष्य सर्वतोभाव से नहीं कर सकता किन्तु केवल उसका प्रदेश विशेष ही साक्षात् करता है वैसे ही यहां भी जानना चाहिए (तथा हि दर्शयति) वैसे ही वाजसनेयि ब्राह्मण दर्शाता है कि महत्परिमाणवाली कोई भी वस्तु हो उसकी मानव शरीर में सम्पत्ति=लब्धि=योग्यता प्रादेशिकी प्रदेश में ही होती है। जैसा कि प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा नु एतान् वक्ष्यामि यथा "**प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामीति। स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षुषी उपदिशन्नु-वाचैष सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाशमु-पदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वे रयिर्वैश्वानर इति। चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति**" (शत० १०।६।१।१०-११) यहां द्युलोक आदि महान् बड़े परिमाणवाले पदार्थों का मूर्धा आदि प्रदेशों में सम्पत्ति=प्राप्ति योग्यता को ब्राह्मण ग्रन्थ दर्शाता है, वैसे ही द्युलोक से लेकर पृथिवी लोक पर्यन्त विराड्रूप वैश्वानर परमात्मा का भी हृदय में कथन प्राप्ति=योग्यता से

जानना चाहिए॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन्॥ ३२ ॥

(एनम्-अस्मिन् च-आमनन्ति) इस वैश्वानर को इस छान्दोग्योपनिषद् में या इस प्रकरण में छन्दोगा पढ़ते भी हैं अथवा जैसे द्युलोक आदि पदार्थों की प्रदेशविशेष में सम्पत्ति कही है वैसे ही इस वैश्वानर को इस प्रकरण में प्रादेशिक रूप से पढ़ते हैं—''**पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद**'' (शत० १०।६। १।११)=वैश्वानर को मनुष्य के अन्दर ही जाने। अतः यहां वैश्वानर परमात्मा ही हृदय में जानना चाहिए॥ ३२ ॥

प्रथमाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त।

तृतीय पाद

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १ ॥

(द्युभ्वाद्यायतनम्) द्युलोक, पृथिवीलोक आदियों का आयतन जो अध्यात्मप्रकरण में पढ़ा जाता है वह ब्रह्म परमात्मा ही जानना चाहिए। क्योंकि (स्वशब्दात्) निज शब्द से। पूर्वसूत्रों में 'द्यु' 'भू' आदि पदार्थ उस परमात्मा के अङ्ग कहे हैं और वह परमात्मा अङ्गी है। यहां इस सूत्र में यह विशेष है कि वह परमात्मा केवल अङ्गी ही नहीं किन्तु उन 'द्यु' 'भू' आदियों का आयतन-आधार भी है, आधार जिसका होता है उसकी अपेक्षा से वह आधार महान् होता है कहा ही है वेद में—''**यत्र विश्वं भवत्येकनीडं तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥**'' (यजु० ३२।८)=यह समस्त संसार जिसके अन्दर एक घोंसले जितना है, उसी में संसार उत्पन्न होता है और उसी में विलीन होता है, वही सब में ओत प्रोत है-व्यापक है। आधेय=आश्रित अपने आधार की महिमा है वह आधार परमात्मा तो महिमा से बड़ा है। जैसा वेद में कहा है—''**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः**'' (यजु० ३२।३)। इस प्रकार जो मुण्डकोपनिषद् में कहा है—''**यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः**'' (मुण्ड० २।२।५) इस वचन से कहा हुआ 'द्यु' 'भू' आदियों का आयतन परमात्मा मानना चाहिए क्योंकि यहां वह आयतन आत्मा शब्द से विशेषित किया गया है, कहा गया है। आत्मा चेतन पुरुष परम पुरुष पुरुषविशेष परमात्मा अभीष्ट है। वेद में भी परमात्मा ही आधार रूप से अभीष्ट है। ''**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" (ऋ० १० । १२१ । १) विश्व के एक पति परमात्मा ने पृथिवीलोक और द्युलोक को धारण कर रखा है ॥ १ ॥

अन्य हेतु—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

(मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्) मुक्तों का उपसृप्य=उपगम्य=आश्रयणीय परमात्मा है, ऐसा व्यपदेश=प्रतिपादन होने से। इसी मुण्डकोपनिषद् में उससे आगे "तथा **विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**" (मुण्ड० ३ । २ । ८) यह वचन बृहदारण्यकोपनिषद् के वचन से तुलित करें—"**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥**" (बृहदा० ४ । ४ । ७) अतः यहां 'द्यु' 'भू' आदि का आयतन परमात्मा जानना चाहिए ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

(अनुमानं न) अनुमान की जाने वाली वस्तु स्थूल को देखकर उसका सूक्ष्म हुआ पूर्व रूप समवायिकारण मन से लक्षित किया जाता है जो अव्यक्त प्रकृति नामक वह 'द्यु' 'भू' आदि का आयतन नहीं है। क्योंकि (अतच्छब्दात्) उसके सम्बन्ध में आगम के अभाव से, वेद में या उपनिषद् में उसका आयतन प्रदर्शक शब्द नहीं है किन्तु उस प्रकृतिनामक उपादान का आयतन वह परमात्मा कहा गया है। "**परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश ॥**" (यजु० ३३ । ११)=परमात्मा भूतों को लोकों की दिशा-प्रदिशाओं को व्याप्त होकर तथा ऋतु=जगत् के उपादान के प्रथम रूप को भी अपने आश्रय में लेकर विराजमान है। यहां लोकों का तथा प्रथम प्रकटीभूत का आश्रय परमात्मा स्पष्ट कहा है। तथा "**तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सर्वं सलिलमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥**" (ऋ० १० । १२९ । ३) यहां भी तुच्छभाव से वर्तमान 'आभु' नामक अव्यक्त कारण निर्दिष्ट किया है। वह उस परमात्मा का महिमारूप महत्तत्त्व प्रथम विकृतिरूप उत्पन्न हुआ कहा जाता है ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

(प्राणभृत्—च) 'च' से 'न=नहीं' का अनुवर्तन है। प्राणभृत्=जो प्राणों को धारण करता है वह जीव भी द्युलोक, भूलोक आदि का आयतन

नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त अतच्छब्द=उस विषय में शब्दप्रमाण के अभाव से। जीव आयतन होने में कहीं भी शास्त्र में शब्दप्रमाण नहीं है अपितु जीवात्मा एकदेशी ही शास्त्रों में कहा गया है—"**अपाङ्पराङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः**" (ऋ० १। १६४। ३८) यहां मर्त्य=मरणधर्मी शरीर से बंधा हुआ जीवात्मा संसार में व्यवहार करता है। इस प्रकार एकदेशी हुआ वह 'द्यु' 'भू' आदि लोकों का आयतन नहीं हो सकता॥ ४॥

भेदव्यपदेशात्॥ ५॥

(भेदव्यपदेशात्) जो यहां आयतनरूप में वर्णित आत्मा है वह जीवात्मा के द्वारा जानने योग्य कहा गया है—"**तमेवैकं जानथात्मानम्**" (मुण्ड० २। २। ५)=उस एक आत्मा=विश्वात्मा=परमात्मा को जानो। इस कथन में आयतन रूप परमात्मा को जानने वाले जीव से पृथक् भेद से कहा गया है, अतः द्युलोक, पृथिवीलोक आदि का आयतन जीव नहीं है॥ ५॥

प्रकरणात्॥ ६॥

(प्रकरणात्) प्रकरण परमात्मविषयक है—"**आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं विज्ञानाद् यद्वरिष्ठं प्रजानाम्। यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च। तदेदक्षरं ब्रह्म**" (मुण्ड० २। २। १-२) एजत्=वृक्षादि, प्राणत्=प्राणी, निमिषद्=ज्ञान चेष्टा वाले मनुष्य जिस में समर्पित हैं सूक्ष्म से सूक्ष्म, जिसमें सब लोग अर्पित हैं वह ब्रह्म है। यहां ब्रह्म भलीभांति स्पष्ट है। अतः 'द्यु' 'भू' आदि का आयतन परमात्मा ही जानना चाहिए।

'द्यु' 'भू' आदि का आयतन जीव नहीं है, इस प्रकार सूत्र विचार से सिद्ध होता है। 'द्यु' 'भू' आदि रूप जगत् से पूर्व अनादि नित्य जीव है यह व्यासमत लक्षित हो रहा है अन्यथा उसके द्यु भू आदि आयतन होने के विचार का अवसर ही नहीं॥ ६॥

स्थित्यदनाभ्यां च॥ ७॥

(स्थित्यदनाभ्यां च) स्थिति=स्वरूप में अवस्थित रहना, अदन=भोग। इन दोनों धर्मों=परमात्मा जीवात्मा के क्रमशः धर्मों से परमात्मा से स्थिति, धर्म और जीवात्मा के अदन=भोग धर्म से 'द्यु' 'भू' आदि का आयतन

परमात्मा है। "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति**" (ऋ० १।१६४।२०)यहां 'द्यु' 'भू' आदि समूह के साथ जीव का धर्म अदन-भोग और परमात्मा का धर्म साक्षी रूप में स्थित रहना ही स्पष्ट है। अपितु उसका आधार हुआ वह परमात्मा 'द्यु', 'भू' आदि की रक्षा करता है, उसे सम्भाले हुए है। अतः 'द्यु', 'भू' आदि का आयतन जीवन नहीं है परमात्मा ही है, यह सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥ ९ ॥

(भूमा) अध्यात्मप्रकरण में 'भूमा' शब्द पढ़ा गया है जैसे—"**यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।**" (छान्दो० ७।२३।१,७।२४।१)=जो भूमा है वह सुख है, अल्प में सुख नहीं। भूमा ही जानना चाहिये, मैं भूमा को जानना चाहता हूं। जहां उससे अतिरिक्त न किसी को देखता है, सुनता है समझता है वह भूमा है और जहां उससे अतिरिक्त और किसी को देखता है, सुनता है, समझता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है, जो अल्प है वह तो मरणधर्मी है। इस कथन में 'भूमा' परमात्मा को जानना चाहिये। जीवात्मा=प्राणधारी को नहीं। क्योंकि (सम्प्रसादात्-अधि, उपदेशात्) सम्प्रसाद से ऊपर अर्थात् प्राणधारी जीव से ऊपर उसके प्रतिपादन होने से। सम्प्रसाद 'प्राणधारी जीव' को कहते हैं यथा—"**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः।**" (छान्दो० ८।१२।३) अर्थात् यह जीवात्मा इस शरीरबन्धन से छूटकर परज्योतिःस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर अपने रूप से निष्पन्न हुआ विद्यमान होता है। वह उत्तम पुरुष स्वस्वरूप में वर्तमान आत्मा है। इस प्रकार सम्प्रसाद अर्थात् जीवात्मा से ऊपर उसका उपदेश हुआ। इस विषय में कहा जाता है—
"**श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु।**" (छान्दो० ७।१।३) अर्थात् नारद मुनि सनत्कुमार से कहते हैं कि आप जैसे महानुभाव से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक को तर जाता है, मैं शोकग्रस्त हूं आप मुझे शोक के पार करायें। इस वचन को सुनकर सनत्कुमार ने "**तस्मै मृदितकषायाय**

तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः " (छान्दो० ७ । २६ । २) उस मलिनता से दूर हुए नारद के लिये अविद्या अन्धकार से पार को दिखलाता है। उस ऐसे अन्धकार से परे परमात्मा ही है। वेद में भी कहा है— "**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**" (यजु० ३१। १८) अर्थात् मैं इस सूर्यसमान अन्धकार से परे महान् पुरुष परमात्मा को जानूं। वह यह भूमा नाम से कहा हुआ जीवात्मा से भी वरिष्ठ होने से परमात्मा ही है॥ ८॥

धर्मोपपत्तेश्च॥ ९॥

(धर्मोपपत्तेः—च) और भी इस प्रकण में 'भूमा' के जो धर्म या गुण कहे गये हैं वे परमात्मा के अन्दर ही युक्त हैं जैसा कि "**स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वमहिम्नि**" (छान्दो० ७। २४। १) अर्थात् परमात्मा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है इससे स्पष्ट है कि यहां परमात्मा ही अभीष्ट है क्योंकि परमात्मा ही अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, न कि जीवात्मा, परमात्मा के आश्रित होने से। परमात्मा तो "**स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्**" (छान्दो० ७। २५। १) नीचे भी है ऊपर भी है पश्चिम में भी है और पूर्व में भी, इस प्रकार परमात्मा ही सारी दिशाओं में विभुरूप से वर्तमान रहता है न कि जीवात्मा, अतः इस प्रकरण में परमात्मा ही 'भूमा' जानना चाहिये।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः॥ १०॥

(अक्षरम्) क्वचिद् अध्यात्म प्रकरण में 'अक्षर' ब्रह्म के लिये आता है जैसे—"**कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति स होवाचैतद् वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणवह्रस्वम्**" (बृह० ३। ८। ७-८) गार्गी के पूछे प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—आकाश जिसमें ओत-प्रोत है वह 'अक्षर' नाम से प्रसिद्ध कहा जाता है जो कि स्थूल नहीं और अणु नहीं और ह्रस्व नहीं। इस ऐसे कथन में ब्रह्म ही 'अक्षर' नाम से कहा गया है, क्योंकि (अम्बरान्तधृतेः) उसके आकाशपर्यन्त सृष्टि को धारण करने से। जैसा कि उस प्रकरण में गार्गी द्वारा पूछा गया है—"**यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य! दिवो यदवाक् पृथिव्याः यदन्तरा द्यावापृथिवी इमं यद् भूतं भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं प्रोतं चेति।**" (बृह० ३। ८। ३)=हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक के ऊपर और पृथिवी के नीचे जो द्युलोक और पृथिवी लोक बीच में है और जो भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् कहा जाता है वह सब किस में ओत-प्रोत है? इसका याज्ञवल्क्य ने उत्तर

दिया था कि "**आकाशे तदोतं प्रोतं च**" (बृह० ३।८।४)=यह आकाश में ओत-प्रोत है इस पर फिर गार्गी ने प्रश्न किया और साथ ही याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"**कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतः प्रोतश्चेति। स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणवह्रस्वम्......**" (बृह० ३। ८।७-८)। इस प्रकार पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त के धारण करने से वह धारणाकर्त्ता 'अक्षर' ब्रह्म ही हो सकता है। अन्यत्र उपनिषद् में अक्षर परमात्मा के लिये कहा गया भी है "**येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्।**" (मुण्डक १।२।१३) वेद में भी अक्षर ब्रह्म का नाम आया है—'**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।**' (ऋ० १।१६४।३९) अर्थात् परम व्यापक 'अक्षर' नामक ब्रह्म में ऋचाएं और सारे अग्नि आदि देव रखे हुए हैं। इस प्रकार 'अक्षर' ब्रह्म का नाम है॥ ११॥

सा च प्रशासनात्॥ ११॥

(सा च) वह अम्बरान्तधृतिः=आकाशपर्यन्त परमात्मा की धारणशक्ति केवल अवकाश देनारूप ही धारणशक्ति नहीं किन्तु (प्रशासनात्) परमात्मा के प्रशासन से होती हुई प्रशासनरूप=आदेशरूपा या आज्ञारूपा है। ऐसे ही कहा भी है—"**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः**" (बृह० ३।८।९) अर्थात् गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा उसकी शक्ति से अपनी परिधि में धारण किये हुए रहते हैं और इसी अक्षर के प्रशासन में अपनी-अपनी परिधि में द्युलोक और पृथिवीलोक भी धारित रहते हैं। ऐसा उसी प्रकरण में याज्ञवल्क्य ने कहा है, अतः अक्षर नाम से अध्यात्मप्रकरण में ब्रह्म ही है॥ ११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥ १२॥

(अन्यभावव्यावृत्तेः-च) इस विषय में यह और हेतु है कि अन्य पदार्थ की व्यावृत्ति-पृथकता दिखाई जाती है। उस अक्षर के जो गुण दिखलाये गये हैं वे ब्रह्म से भिन्न पदार्थ को हटाने वाले हैं, जैसे—"**एतद् वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमणवह्रस्वदीर्घ.....अचक्षुष्कम-श्रोत्रमवागमनो........अनन्तरमबाह्यम्।**" (बृह० ३।८।८) यहां कहा गया है कि ब्रह्म वह अक्षर स्थूलता और सूक्ष्मता से रहित होने के कारण न वह कार्य है और न अव्यक्त उपादान कारण है तथा चक्षु मन आदि से रहित होने से शरीरधारी जीव भी नहीं है। इस प्रकार जड़ कार्य, कारण और चेतन जीव से उसकी भिन्नता स्पष्ट है। और भी—"**तद्वा एतदक्षरं**

गार्गि! अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ।'' (बृह० ३। ८। ११) याज्ञवल्क्य गार्गि से कहते हैं कि यह अक्षर दृष्टवस्तु नहीं किन्तु द्रष्टा है, कानों से सुनने योग्य नहीं किन्तु सुनने की शक्ति रखने वाला है, मन में मनन द्वारा साक्षात् होने वाला नहीं किन्तु मननशक्ति से सम्पन्न है, बुद्धि से अन्य वस्तु की भांति स्पष्ट होने वाला नहीं किन्तु बुद्धिशक्ति से युक्त है। इस प्रकार अदृष्ट आदि समान शब्दों द्वारा निषेध करने से वस्तु नहीं और द्रष्टा आदि समान शब्दों से कथन करने के कारण यह उपादान प्रकृति नहीं। इस प्रकार अदृष्ट आदि द्वारा शरीर आदि अङ्गों से युक्त होता हुआ जीव नहीं। और द्रष्टा आदि चेतन धर्मों से प्रकृति को पृथक् किया गया है। अतः यहां 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिये ही है॥ १२॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्॥ १३॥

(ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः) ईक्षण क्रिया के प्रतिपादन से वह पुरुष अध्यात्मप्रकरण में परमात्मा जानना चाहिये जैसे—**''षोडशकलं भरद्वाज! पुरुषं वेत्थ......इहैवान्तःशरीरे सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति।''** (प्रश्नो० ६। १। २) यहां यह जो भरद्वाज से पूछा गया है कि भरद्वाज! सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो जो कि इस ही शरीर के अन्दर है। जिस पुरुष में ये सोलह कलाएं प्रकट होती हैं, इस कथन में शरीर के अन्दर रहने वाला जीव नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इसके साथ अगले वचन में इसके ईक्षितृत्व अर्थात् ईक्षण क्रिया के कथन करने से **''स ईक्षांचक्रे''**........(प्रश्नो० ६। ३) **''स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।''** (ऐ० उ० १। १) उस ने ईक्षणक्रिया की कि मैं लोकों को रचूं इस प्रकार ईक्षणक्रिया लोक रचने के लिये परमात्मा ही की कही गई है॥ १३॥

दहर उत्तरेभ्यः॥ १४॥

(दहरः) अध्यात्म प्रकरण में जो यह 'दहर' कहा गया है वह परमात्मा ही जानना चाहिये—**''अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।''** (छान्दो० ८। १। १)=इस ब्रह्मपुर में जो दहर=हृदय स्थान इसके अन्दर दहर नाम से जो आकाश अर्थात् आकाश के समान व्यापक है, उसको उस के अन्दर खोजना चाहिये और जानना चाहिये। यहां दहर=हृदयस्थान में दहर व्यापक परमात्मा को कहा गया है क्योंकि (उत्तरेभ्यः) उत्तर वचन में कहे गये हेतुओं से **''उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्न-**

क्षत्राणि......" (छान्दो० ८।१।३) यहां कहा गया है कि इस दहर में द्युलोक और पृथिवीलोक बीच में रखे हुए हैं। अग्नि और वायु तथा सूर्य और चन्द्रमा भी एवं विद्युत् नक्षत्र भी सब इसमें रक्खे हैं। और "**नास्य जरयैतज्जीर्यीत**" (छान्दो० ८।१।४) इस दहर-स्थान हृदय के जीर्ण होने से जीर्ण नहीं होता, अतः द्युलोक, पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य और नक्षत्रों का अधिष्ठान तथा जरारहित होने से 'दहर' यहां परमात्मा है॥ १४॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च॥ १५॥

(गतिशब्दाभ्याम्) इस के अतिरिक्त गति अर्थात् क्रिया के विधान से तथा शब्द उसके वाचक शब्द के द्वारा दहर यहां परमात्मा ही है—"**तद् यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेव-मेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः**" (छान्दो० ८।३।२) इस वचन में प्रजाओं अर्थात् उत्पन्न होने वाले प्राणियों की गति का आधार स्वप्नकाल में वह परमात्मा 'दहर' नाम से कहा गया है। यदि हृदय में रहने वाला जीव दहर शब्द से अभीष्ट होता तो जीवों की गति का आधार कैसे कहा जाता किन्तु जीवों से भिन्न परमात्मा ही शयनकाल में आश्रय होता है। इसी प्रकार शब्द अर्थात् तद् वाचक के विद्यमान होने से दहर परमात्मा ही सिद्ध होता है, क्योंकि यहां ब्रह्म लोक को प्राप्त होना कहा गया है। ब्रह्म ही ब्रह्मलोक है, जीवलोक यहां नहीं पढ़ा गया है (तथा हि दृष्टं लिङ्गं च) इसी प्रकार अन्यत्र अध्यात्म प्रकरण में दृष्टिलिङ्ग लक्षण भी है, क्योंकि शयनकाल में जीवों की गति ब्रह्मपरायण दिखलाई गई है—"**स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति। अत्रैव देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति।**" (प्रश्नो० ४।४, ५)=वह इस यजमान को दिन-दिन ब्रह्म की ओर ले जाता है। इस अवस्था में यह आत्मा स्वप्न में उस परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है। अतः यहां 'दहर' शब्द परमात्मा के लिये है॥ १५॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥ १६॥

(धृतेः-च) धृति अर्थात् जगत् के धारण करने से भी वह परमात्मा सिद्ध होता है क्योंकि इस प्रकरण में जगत् को धारण करने का धर्म भी उस दहर का बतलाया गया है—"**दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः।**" (छान्दो० ८। १।१) इस प्रकार वह दहर नाम से कहा हुआ परमात्मा कैसा है यह बतलाया है—"**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय।**" (छान्दो० ८।४।१)=वह यह परमात्मा सेतु है, समस्त लोकों को बांधने

वाला है और धारण करता है, [१]इनके छिन्न-भिन्न न हो जाने के लिये। जीव लोकों को बांधने और धारण करने वाला नहीं हो सकता। (अस्मिन्-अस्य, महिम्नः-उपलब्धेः) इस परमात्मा में इस ऐसी महिमा अर्थात् प्रभाव की उपलब्धि के विधान से—"**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः** (बृह० ३।८।९) '**एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय।**" (बृह० ४।४।२२) इस प्रकार यहां भी सेतु लोकों का बांधने वाला और धारण करने वाला सर्वेश्वर परमात्मा कहा गया है। वेद में भी जगत् को धारण करना परमात्मा का कर्म बताया है—"**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां**······ (ऋ०१०।१२१।१) "**इन्द्रेह विश्वा भुवनानि येमिरे**" (अथर्व २०।११८।४) अर्थात् परमात्मा द्यावापृथिवीमयी सृष्टि को धारण करता है और उसी परमात्मा के अन्दर सारे लोक नियन्त्रित हैं॥ १६॥

प्रसिद्धेश्च॥ १७॥

(प्रसिद्धेः-च) जो यह यहां 'दहर=आकाश' नाम से परमात्मा कहा गया है वह अन्यत्र अध्यात्मप्रकरण में आकाश नाम से प्रसिद्ध भी है— "**को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्**" (तै०२। ७)=कौन जी सके और कौन प्राण ले सके यदि आकाश आनन्दस्वरूप न हो तथा "**आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता**" (छान्दो० ८। १४। १)=आकाश ही पदार्थों के नाम और रूपों का निर्वाहक है विधाता है। वेद में भी "**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**" (ऋ० १। १६४। ३९)=व्योम अर्थात् आकाशरूप परमात्मा में सारे देव रक्खे हैं। इस प्रकार कथन से 'दहर=आकाश' परमात्मा के लिये कहा है॥ १७॥

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्॥ १८॥

(इतरपरामर्शात् सः) इतर=ब्रह्म से भिन्न जीव का सम्बन्ध पाये जाने से यहां जीव ही है (इति चेत्-न) यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि (असम्भवात्) असम्भव होने से, जो धर्म दहर के कहे गये हैं वह जीव के अन्दर सम्भव नहीं, इसलिये जीव यहां नहीं लिया जा सकता। जीव के सम्बन्ध का संदेह कैसे है और कैसे उसका होना असम्भव है, यह स्पष्ट किया जाता है कि "**अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय**

---

१. कर्त्तरि क्तिच् प्रत्यय औणादिकः।

परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते एष आत्मेति होवाच।'' (छान्दो० ८।३।४) अर्थात् जो यह सम्प्रसाद=जीवात्मा इस शरीरबन्धन से छूटकर पर ज्योति:स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है यह आत्मा है, ऐसा कहा। इस कथन में जीवात्मा के होने का संदेह है क्योंकि यहां सम्प्रसाद जीव कहा गया है, इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है, तथापि सम्प्रसाद शब्द साक्षात् जीववाची नहीं है, क्योंकि कहा गया है—''**स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा**'' (बृह० ४।३।१५)='वह इस सम्प्रसाद में रमण करके विचरण करके' इस कथन में तात्स्थ्योपाधि से ही जीवात्मा कहा जा सकता है। पूर्वोक्त 'शरीरात्समुत्थाय' इससे जीव का सन्देह हो सकता है किन्तु यहां सूत्रकार अपने माने हुए परामर्श को आगे चल कर विशद करते हैं कि यह परामर्श या सम्बन्ध किसलिये है। केवल परामर्श या सम्बन्ध के मिलने मात्र से यह नहीं मानना चाहिए कि दहर जीवात्मा है किन्तु दहर के जो धर्म अपहतपाप्मा आदि कहे गये हैं वे '**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञाससितव्यः**'' (छान्दो० ८।७।१)=वह आत्मा-पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भूखरहित, प्यासरहित और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्पवाला है वह खोजने योग्य है, वह जानने योग्य है। इस प्रकार यह धर्म जीव में सम्भव नहीं हैं, अतः यहां 'दहर=आकाश' जीव नहीं है किन्तु परमात्मा ही है॥ १८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥ १९॥

(उत्तरात्-चेत्) उत्तर वचन से 'दहर' यहां जीव प्रतीत होता है, यदि ऐसा कहा जाये तो यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि (आविर्भूतस्वरूपः-तु) जो उत्तर वचन में कहा गया है वह तो दहर परमात्मा के साथ आविर्भूत-स्वरूपवान् मुक्त जीव कहा गया है। दहर तो परमात्मा ही उत्तर वचन में भी है इसमें कोई हानि नहीं, जैसा कि '**स एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा**' (छान्दो० ८।७।४)=वह यह आंख के अन्दर देखने वाला पुरुष जीवात्मा है, इस उत्तर में प्रजापति ने इन्द्र को जागृत अवस्था में वर्तमान आत्मा का उपदेश दिया, जिसके सम्बन्ध में उस इन्द्र को शरीर के साथ नष्ट होता हुआ समझ संतोष प्राप्त नहीं हुआ। फिर आकर प्रजापति को पूछा—''**एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा**'' (छान्दो० ८।१०।१) प्रजापति ने पुनः समझाया कि जो

स्वप्न देखने वाला है वह आत्मा है। फिर भी इन्द्र ने सन्तुष्ट न होकर पूछा। प्रजापति ने फिर उपदेश दिया—"**एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि...... यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा**" (छान्दो० ८। ११। १) प्रजापति ने कहा, इसे फिर तुझे समझाता हूं जब कि यह पुरुष सर्वथा सोया हुआ सम्प्रसन्न हो स्वप्न को नहीं जानता है, वह आत्मा है। इस प्रकार सुषुप्त अवस्था में आये हुए चेतन को जीवात्मा कहा गया। इन्द्र ने फिर भी असन्तुष्ट हो आकर प्रजापति से पूछा। प्रजापति ने "**एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि.....मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठातुरधिष्ठानमात्रो वै स शारीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः**" (छान्दो० ८। १२। १)=इस आत्मा का तुझे फिर उपदेश देता हूँ, यह शरीर मरणधर्मी है, मृत्यु से पकड़ा हुआ है, इस अमृत शरीर से भिन्न अधिष्ठाता आत्मा का अधिष्ठान यह शरीर है। शरीरसहित आत्मा सुख-दुःख से घिरा हुआ है, सशरीर होते हुए के सुख-दुःख का नाश नहीं होता, अशरीर अर्थात् मुक्त हो जाने पर उसे संसार के सुख-दुःख नहीं छूते हैं। इस वचन में शरीर से भिन्न आत्मा का उपदेश किया है परन्तु यहां जो जिस आत्मा का उपदेश किया है वह दहर के अभिप्राय से नहीं किन्तु उस दहरनामक परमात्मा को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में आविर्भूत हो जाता है, ऐसा कहा है। इस प्रतिपादन के आरम्भ में ही ऐसा स्पष्ट है—"**एवमेव एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८। १२। २) यह स्पष्ट ही परज्योतिःस्वरूप परमात्मा को जीवात्मा से भिन्न कहा गया ही है जो कि यहां प्रस्तुत प्रकरण में 'दहर' नाम से दर्शाया गया है। उसके संग से ही जीवात्मा निज रूप से अभिनिष्पन्न सुसम्पन्न या निर्मल हो जाता है, इस हेतु से भी यहां जीवात्मा का प्रतिपादन किया जाता है और दहर तो उस से भिन्न परमात्मा ही कहा गया है, अतः 'दहर' यहां जीवात्मा नहीं है।

शांकरभाष्य में इस सूत्र की अन्यथा ही व्याख्या करी है। वहां कहा है कि यद्यपि उत्तर वचन में जीव का वर्णन है परन्तु वहां तो वह आविर्भूतस्वरूप जीव कहा गया है—"यदस्य पारमार्थिकस्वरूपं परं ब्रह्म तद्रूपतयैनं जीवं व्याचष्टे न जैवेन रूपेण" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् जो उसका पारमार्थिक स्वरूप परब्रह्म है उसी रूप से जीव कहा जा रहा है, जीव के रूप से नहीं [ब्रह्म के रूप से]। शाङ्करभाष्य के इस कथन में आश्चर्य की

बात है जबकि शाङ्कर मत में जीव का स्वरूप अन्त:करणावच्छिन्नता अर्थात् अन्त:करण के सम्बन्ध से स्वीकार किया जाता है, कोई स्वतन्त्र नित्य अनादि पदार्थ नहीं। फिर ब्रह्म सङ्गति से उसका पारमार्थिक रूप आविर्भूत होता है, कैसे कहा जाता है। उस समय तो उसके मत में वह ब्रह्म हो जाता है, जीवत्व को त्याग ही देता है अथवा वहां उसका लय हो जाता है तो फिर किसलिये "**इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्** (वेदान्त० १।३। १८) दहर जीव नहीं है, इस प्रकार जीव निषेध का प्रतिपादन सूत्रकार का है। इस प्रकार तो शास्त्र अनर्थक हो जाता है। सूत्रकार के मत में तो जीव भी ब्रह्म की भांति नित्य अनादि चेतन ब्रह्म से भिन्न सत्ता सिद्ध होती है और न कहीं उपनिषदों में और न वेदान्त सूत्रों में अन्त:करणावच्छिन्नता से जीव का स्वरूप कहा गया है और न उसका अनित्यत्व बतलाया गया है, अत: शाङ्करभाष्य अन्यथा ही है॥ १९॥

अन्यार्थश्च परामर्श:॥ २०॥

(च)और भी (परामर्श:) जो यह जीवात्मा का परामर्श-सम्बन्ध वर्णन है वह (अन्यार्थ:) जीव से भिन्न परमात्मा के लिये है, जिस परमात्मा की सङ्गति करके जीव अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न निर्मल एवं शरीर-बन्धन से निर्मुक्त होता है। वह यहां कौन है जो सङ्गति करने में अपेक्षित है ऐसा उसके उत्तर के लिये कहा जाता है पर ज्योति:स्वरूप परमात्मा अपेक्षित है जिसे कहा ही है—"**परं ज्योतिरुपसम्पद्य**" (छान्दो० ८। १२।२) अत: दहर यहां परमात्मा ही है, यह निष्कर्ष आया॥ २०॥

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्॥ २१॥

(अल्पश्रुते:-इति-चेत्) "**दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश:**" (छान्दो० ८। १।१) इस वचन में स्थान की अल्पश्रुति है वह परमात्मा में सम्भव नहीं, यदि ऐसा कहा जाये तो (तत्-उक्तम्) उस अल्पस्थानता के विषय में पूर्व ही "**अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च**" (वेदान्त० १।२।७) इस सूत्र में समाधान कह दिया है। अत: यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि यहां 'दहर' परमात्मा है॥ १२॥

अनुकृतेस्तस्य च॥ २२॥

(तस्य-अनुकृते:-च) यद्यपि परमात्मा की अल्पश्रुति अर्थात् अल्प-स्थानश्रुति-हृदयस्थानता का समाधान पूर्व "निचाय्यत्वाद् व्योमवदुक्तम्" ध्यान से प्राप्त होने के कारण हृदयस्थान परमात्मा को बताया गया क्योंकि

परमात्मा अनन्त है, जीवात्मा हृदय में रहने वाला है, उसे प्राप्त करने को अनन्त नहीं हो सकता है परन्तु हृदयदेशरूप निज घर में ही उसे अनुभव कर सकता है या प्राप्त कर सकता है। हृदय देश में प्राप्त होने वाला परमात्मा का स्थान हृदय बतलाया,परमात्मा आकाश के समान सर्वत्र है ही, इसलिये अल्पश्रुति में कोई दोष नहीं, क्योंकि परमात्मा की अनुकृति अर्थात् ध्यान अनुष्ठान के प्रयोजन से है और जीवात्मा की अनुकूलता के हेतु अल्पश्रुत या अल्पस्थानवत् कथन है जैसा कि अभी बतलाया है कि परमात्मा अनन्त है, जीव अनन्त नहीं हो सकता है। जिस प्रदेश में जीवात्मा स्वरूप से ज्ञानवत्ता से अवस्थित है उसी प्रदेश में वह परमात्मा की स्मृति कर सकता है जीवात्मा का स्थान शरीर में हृदय है—"**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।**" (कठो० ६।१७) अर्थात् जीवात्मा अंगुष्ठमात्र सदा प्राणियों के हृदय में स्थित है, उसे स्वशरीर से मूंज से सींक की भांति धैर्य से निकाले। अतः उसके अनुष्ठान के हेतु या अनुकूलता के हेतु परमात्मा की अल्पस्थानता अध्यात्मप्रकरण में कही है। वेद में भी उसकी अनुकृति का बीज निर्दिष्ट है—"**त्वं वा घा स्या अहम्**" (ऋ० ८।४४।२३) "**पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः**" (अथर्व० १०।८।४३) इन मन्त्रों में परमात्मा आत्मा के साथ हृदय में होने से उसकी अनुकृति अर्थात् अनुष्ठान उपासना का द्योतन है॥ २२॥

अपि च स्मर्यते॥ २३॥

(स्मर्यते-अपि-च) और वह परमात्मा हृदय के अन्दर ध्यानियों के द्वारा स्मरण भी किया जाता है। परमात्मा के स्मरण करने का विधान "**ओ३म् क्रतो स्मर**" (यजु० ४०।१५, ईशो० १७) यह तो स्मरण करने का विधान है तथा "**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्।**" (कठो०४।१) अर्थात् कोई धीर जन इन्द्रियों को बाहर से बन्द करके अन्दर के आत्मा को देखता है अमृत की कामना करता हुआ। इसी प्रकार "**हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य**" (श्वेता०२।८)=इन्द्रियों और मन को हृदय के अन्दर स्थिर करके परमात्मा का स्मरण वहां हो सकता है।

दूसरी व्याख्या—(अपि च स्मर्यते) परमात्मा की अल्पश्रुतिता-हृदयप्रदेश में होना स्मृति में भी उपलब्ध होता है—"**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" (गीता० १८।६१)=हे अर्जुन ईश्वर समस्त प्राणियों

के हृदय में वर्तमान है एवं "**हृदये सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः। अथ ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः**" (महाभारत शान्तिप० मोक्ष० अ० ३१२। १५) और भी "**एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे। नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः।**" (मनु० ८। ९१)= जो अपने को तू समझता है कि मैं अकेला हूं सो ऐसा नहीं है क्योंकि तेरे हृदय के अन्दर तेरे पुण्य पाप कर्मों को देखने वाला यह परमात्मा हृदय में विराजमान है॥ २३॥

वह परमात्मा ऊपर हृदयदेश में लक्षित होता है, इसमें अन्य यह भी हेतु है:-

शब्दादेव प्रमितः॥ २४॥

(प्रमितः—शब्दात्-एव)हृदय देश से प्रमित अर्थात् मान को प्राप्त हुआ=लक्षित हुआ सम्यक् जाना हुआ परमात्मा शब्दप्रमाण से भी सिद्ध होता है "**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य**······ (कठो० ४। १२)=वह भूत भव्य का स्वामी परमात्मा अपनी आत्मा के लिये अंगुष्ठमात्ररूप में अनुभव होता है "**अंगुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छारीरात्प्रवृहेन्मुञ्जा-दिवेषीकां धैर्येण॥**" (कठो० ६। १७) क्योंकि जीवात्मा अंगुष्ठमात्र हृदय के अन्दर है, परमात्मा का साक्षात् भी आत्मा के निवासस्थान अंगुष्ठमात्र होने से परमात्मा को भी अंगुष्ठमात्र कहा गया है, जीवात्मा उस का स्मरण करने वाले जीव के अन्दर अनुभव होने वाला है, अतः परमात्मा की अल्पस्थानश्रुति या उसका हृदयस्थान में होना उपासना की दृष्टि से कहा गया है॥ २४॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥ २५॥

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्॥ २६॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(बादरायणः) सूत्रकार व्यासमुनि अपना नाम लेकर स्थान के साथ परमात्मा की उपासना के सिद्धान्त को दर्शाता है कि बादरायण अर्थात् व्यास तो मानता है कि (हृद्यपेक्षया तु) हृदय को अपेक्षित करके परमात्मा का वर्णन किया है, हृदय में जो अंगुष्ठमात्र परमात्मा कहा गया है वह तो (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्य के उपासनाविषयक अधिकार को दिखलाने के लिये और सामर्थ्य को बतलाने हेतु, क्योंकि हृदय में उस अनन्त की

उपासना सुगमता से की जा सकती है (तदुपर्यपि सम्भवात्) हृदय से ऊपर मूर्द्धा आदि स्थानों में भी मन को स्थिर करके उस की उपासना हो सकती है क्योंकि ऐसा होना सम्भव है—वहां भी उपासना हो सकती है। अथवा उस परमात्मा के हृदय से ऊपर अर्थात् बाहर भी विद्यमान होने से, केवल मनुष्य द्वारा उपासना का सामर्थ्य तो हृदयस्थान में ही है, यह निर्देशमात्र है॥

"तदुपर्यपि"......इस सूत्र पर तत् शब्द से "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्" इस पूर्व सूत्र से शाङ्करभाष्य में मनुष्य को लेकर उससे ऊपर अर्थात् मनुष्य से ऊपर देवादि कल्पित किये हैं—'तेषां मनुष्याणामु-परिष्टात् ये देवादयस्तानप्यधिकरोति शास्त्रम्" (शाङ्कर-भाष्यम्) शाङ्करभाष्य में यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि "मनुष्याधिकारत्वात्" ये पद तो समास है समास में से टुकड़ा करके अनुवृत्ति नहीं होती है किन्तु 'हृदि' यह पृथक् सप्तमी विभक्ति में पद है, उसी की अनुवृत्ति होनी चाहिये। इस प्रकार हृदय से ऊपर भी यह अर्थ ठीक है। तथा पूर्वसूत्र में परमात्मा की हृदयस्थान वाली अल्पश्रुति मनुष्य के अधिकार को लेकर है। वहां तो मनुष्याधिकार परमात्मा की अल्पश्रुति का कारण कहा गया है। फिर वह अल्पश्रुति देवादियों में भी यदि संक्रमित हो तब पूर्वसूत्र में उसका कारण मनुष्य अधिकार दिखाना निरर्थक ही है अतः यह विचारसरणी ठीक नहीं। और भी आश्चर्य यह है कि सूत्र का अवतरण तो देवता अधिकार दिया जाये परन्तु सूत्रव्याख्या में देव आदि कहे जायें वे कौन देव आदि '**देवा ऋषयो योगिनश्च**' अर्थात् देव ऋषि और योगी जन बतलाए। सोचना चाहिये कि ऋषि अर्थात् मन्त्रद्रष्टा भी मनुष्य ही होते हैं। यास्क ने कहा ही है—'**ऋषिर्दर्शनात्**' (निरुक्त २।११) '**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः**" (निरु० १।२०।२) योगी अर्थात् योगाभ्यासी मनुष्य ही होते हैं। रहा देवों अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य के द्वारा उपासनाप्रसङ्ग सम्भव नहीं और न उनका प्रयोजन उपासना से जड़ होने के कारण है, अतः शाङ्करभाष्य अयुक्त है॥ २५-२६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्॥ २७॥

(कर्मणि विरोधः—इति चेत्) हृदय से अन्यत्र यदि उपासना की जाये तो कर्म अर्थात् ब्रह्मचिन्तन कर्म अथवा परमात्मास्वरूप उपासनकर्म में विरोध आवे, क्योंकि देशभेद से उपासनाभेद हो जायेगा, यदि ऐसा कोई कहे तो (न-अनेक-प्रतिपत्तेः—दर्शनात्) ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि

ज्ञानी, ध्यानी जनों के द्वारा और शास्त्रों में अनेक गुण-कर्मों की सिद्धि तथा शक्ति परमात्मा के अन्दर दिखलाई गई है—"**पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेता० ६ । ८)=परमात्मा की सर्वोपरि शक्ति विविध प्रकार की शास्त्रों में कही जाती है और स्वाभाविक ही ज्ञान और बल से युक्त क्रिया भी, और भी जैसा गुण वैसा नाम परमात्मा का है। "**भूः पुनातु शिरसि, भुवः पुनातु नेत्रयोः, स्वः पुनातु कण्ठे, महः पुनातु हृदये**........" (सन्ध्यायाम्) यहां भिन्न-भिन्न स्थानों में परमात्मा को भिन्न-भिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से कहा गया है ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

(शब्दे इति चेत्) अच्छे कर्म में विरोध न हो किन्तु शब्द में विरोध तो हो जाता है, यदि कहा जाये तो (न-अतः-प्रभवात्) तो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि शब्द है वेद और वह परमात्मा से प्रकट होता है, उस वेद में भिन्न-भिन्न जो नाम उस परमात्मा के कहे हैं वे कर्मानुरूप हैं और कर्म हैं अनन्त, अतः नाम भी अनन्त हैं—"**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्**" (ऋ० १ । १५४ । १)=विष्णु अर्थात् व्यापक परमात्मा के वीर्यों-कर्मों को कहता हूँ। वहां उस नाम प्रदर्शन शब्द अर्थात् वेद का प्रादुर्भाव परमात्मा से होता है यह कैसे जाना जाये, सो कहते हैं (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष श्रुतिनिर्देश से और अनुमान अर्थात् स्मृति के द्वारा। श्रुति—"**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे**" (ऋ० १० । ९० । ९)=उस संगमनीय परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकट हुए। स्मृति— "**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ-मृग्यजुःसामलक्षणम्**" (मनु० १ । २३)=अग्नि आदि ऋषियों द्वारा परमात्मा ने ज्ञान कर्म उपासनारूप वेदत्रयी को प्रकट किया ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

(अतः-एव च नित्यत्वम्) इसी कारण जिससे कि परमात्मा से वेद की उत्पत्ति हुई है वेद नित्य है। वेद में परमात्मा के कर्मानुरूप उस के नाम का विधान है, अतः शब्द में विरोध नहीं ॥२९ ॥

अविरोध में दूसरा हेतु—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

(समाननामरूपत्वात्-च-आवृत्तौ-अपि-अविरोधः) शब्द अर्थात् शब्दप्रमाणभूत वेद का नाम, रूप समान होने से प्रतिसर्ग आवृत्ति में भी

अविरोध है अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व नाम और मन्त्रों का परिमाण रूप की समानता होने से नित्यता सिद्ध होती है (दर्शनात् स्मृतेः-च) वेद में प्रतिसर्ग नाम रूप समानता का लिङ्ग देखने में आता है— "**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्**" (ऋ० १०।१९०।३)=सूर्य और चन्द्रमा को परमात्मा ने पूर्वकल्प के समान बनाया। स्मृति में भी कहा है— "**अनादिनिधना नित्या वागुक्ता या स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः**" (महा० शान्तिपर्व मोक्ष० अ० २३३।२५) यहां आदि और अन्त से रहित अर्थात् उत्पत्ति और नाश से रहित वेद वाणी या श्रुति परमात्मा ने प्रकट की, इस कथन से समानता सिद्ध की गई है॥ ३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः॥ ३१॥

(मध्वादिषु) मधुच्छन्दा आदि ऋषियों में (असम्भवात्) शूद्र[1] के सम्भव न होने से (अनधिकारं जैमिनिः) शूद्र का शब्द अर्थात् वेद में अनधिकार जैमिनि आचार्य मानता है॥ ३१॥

ज्योतिषि भावाच्च॥ ३२॥

(ज्योतिषि भावात्-च) ब्रह्मविद्या में तीन वर्णों का अधिकार है, यह दूसरा हेतु यहां दिया गया है जैमिनि आचार्य की ओर से कि तीनों वर्णों का 'ज्योतिषि'-'ज्योतिष्षु' ज्योतियों में, जाति में एक वचन कहा गया है अर्थात् ज्योतियों में अन्तर्भाव होने से तीन ज्योतियों की तुलना तीन वर्णों के साथ हो जाना शूद्र के अनधिकार का द्योतन है। जैसा कि—"**यस्मान्न जातः परोऽन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥** (यजु० ८।३६) यहां पर प्रजापति परमात्मा प्रजा के लिये कर्मफल को प्रदान करता हुआ तीन ज्योतियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को संगत होता है। तथा अन्यत्र भी वेद में ब्राह्मण आदि तीन का अधिकार निर्दिष्ट किया है—"**स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।**" (अथर्व० १९।७१।१) यहां भी द्विज शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहे गये हैं॥ ३२॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि॥ ३३॥

(भावं तु बादरायणाः) शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार-भाव अर्थात्

---

१. शूद्राधिकार विचारक्रम यहां होने से अर्थ में शूद्र शब्द किया है। जो कि ३४ सूत्र से स्पष्ट है।

अधिकार का होना व्यास मानते हैं, क्योंकि (अस्ति हि) वहां मधुच्छन्दा आदि वैदिक ऋषियों में शूद्र का नाम भी है जैसा कि "**ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन्। दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति तं बहिर्धन्वोदवहन्, अत्रैनं पिपासा हन्तु सरस्वत्या उदकं मा पादिति। स बहिर्धन्वोढः पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्**" (ऐ० ब्रा० २।३।१) यहां कवष ऐलूष शूद्र के अपोनप्त्रीय सूक्त का ऋषि होने की चर्चा से व मधुच्छन्दा आदि वैदिक ऋषियों में एक ऋषि हो गया, अतः शूद्र का भी अधिकार ब्रह्मविद्या में है। और भी वेद में शूद्र के अधिकार के लिये स्पष्ट कहा है—"**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म-राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥**" (यजु० २६।२) अर्थात् जिस प्रकार वेद वाणी मैं मनुष्य के लिए उपदेश करता हूँ वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि के लिये तुम लोग भी करो। ऐसा वचन ईश्वर की ओर से कहा गया है। इसमें शूद्र का नाम आया ही है।

आश्चर्य है कि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में प्रसंगतः पौराणिकों की भांति जड़ों में चेतन जैसी असत् कल्पना स्वीकार करी है "आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम"। (शांकरभाष्यम्) सूर्य मनुष्य बन करके कुन्ती को प्राप्त हुआ॥ ३३॥

शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार प्रदर्शन के लिये अन्य हेतुः—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा द्रवणात् सूच्यते हि॥ ३४॥

(शुक्-अस्य तदनादरश्रवणात्) इस जानश्रुति नामक शूद्र को ब्रह्मविद्या में अनादर सुनने से शोक हुआ (द्रवणात्) तब शोक से ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिये रैक्व के पास दौड़ा-आया (सूच्यते हि) ऐसा सूचित किया जाता है कि शोक से दौड़ने से वह शूद्र है। उसे शूद्र जानते हुए रैक्व ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, इस हेतु शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है यह सिद्ध हुआ। क्योंकि वहां उपनिषत् में जानश्रुति को रैक्व ने शूद्र सम्बोधन कर के उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया—"**जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस.......पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्त्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे.....तस्य मुखमुपोद्-गृह्णन्नुवाच आजहारेमाः शूद्र! अनेनैव मुखेनालपिष्यथा इति**" (छान्दो० ४।१।१; २।३,५) यहां शूद्र सम्बोधन होने से ब्रह्मविद्या में उस का अधिकार सिद्ध है। तथा यह भी स्पष्ट होता है कि जो शूद्रादि वर्णवाचक

नाम हैं ये गुणवशात् हैं न कि जातिवाचक। व्याकरण महाभाष्य में कहा भी है—"**सर्व ऐते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः**" (अष्टा० ५।१।११५) सब ये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र शब्द गुणबोधक हैं॥ ३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्॥ ३५॥

(उत्तरत्र क्षत्रियत्वगतेः—च) जानश्रुति पौत्रायण पूर्व शूद्र था, उत्तरत्र-पश्चात् गुणकर्मों से क्षत्रियत्व को प्राप्त हो गया। अतः शूद्र से क्षत्रिय होना यह सूचित किया जाता है कि शूद्रादि वर्ण गुण कर्म से प्रसिद्ध होते हैं। अतएव शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार युक्त है। कैसे जाना जाता है कि जानश्रुति पौत्रायण क्षत्रिय हो गया। सो कहते हैं (चैत्ररथेन=लिङ्गात्) चित्ररथ अश्वतरीरथ घोड़े-गधे के संयोग से उत्पन्न चित्र अर्थात् विचित्र पशु खच्चर, उस से युक्त रथ चैत्ररथ, उस जानश्रुति के पास था, इस लिंग से वह क्षत्रिय हो गया यह स्पष्ट होता है, क्योंकि अश्वतरीरथ क्षत्रिय का होता है जैसा कि कहा गया है—"**चत्वारस्त्वां गर्दभाः संवहन्तु श्रेष्ठाश्वतर्यो हरयो वातरंहाः। तैस्त्वं याहि क्षत्रियस्यैष वाहः**" (महाभारते) अर्थात् हे राजन्! तुझे गर्दभ, अश्वतरी=खच्चर घोड़े और वातरंहा=ये तुझे सवारी देने वाले हों इन के द्वारा यात्रा कर, यह क्षत्रिय का वाहन है॥ २५॥

शूद्र का यदि ब्रह्मविद्या में अधिकार है तो जानश्रुति का उपनयन क्यों नहीं किया। इस पर कहते हैं—

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापात्॥ ३६॥

(संस्कारपरामर्शात्) शास्त्र के अध्ययन में जो उपनयन संस्कार का अभिसम्बन्ध कहा गया है, इससे ही विचार का प्रसङ्ग है किन्तु जब कभी (तदभावाभिलापात्) उस के अभाव का भी अभिलापन है, वर्णन मिलता है, जैसा कि '**तं होपनिन्ये**' (शतपथ० ११।५।३।१३) यहां तो उपनपयन संस्कार का वर्णन है कि उसका उपनयन करके किन्तु "**तान् हानुपनीयैतदु-वाच**" (छान्दो० ५।११।७) प्राचीनशाल आदि ब्राह्मणों को कैकेय अश्वपति ने वैश्वानर विद्या का उपदेश बिना उपनयन किये दिया। अतः उपनयन संस्कार न करके भी ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जाता है। ब्रह्मविद्या अधिकार में उपनयन संस्कार का प्रतिबन्ध नहीं है ॥ ३६॥

कुछ और उच्च-अवच वर्णों का कारण गुण-कर्म ही है जन्म नहीं, इसमें और उदाहरण देते हैं:—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

(तदभावनिर्धारणे च) अध्ययनविरोधी गुण-कर्म के अभाव का निर्धारण करने में भी (प्रवृत्तेः) अध्यापनप्रवृत्ति के पाये जाने से गुण कर्म ही उच्च और अवच वर्ण के कारण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि '**सत्यकामो जाबालः.....हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्या-म्युपेयां भगवन्तमिति। तं होवाच किङ्गोत्रो नु सोम्य! असीति। स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति! तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सोम्य! आहरोप त्वा नैष्ये न सत्यादगाः**'' (छान्दो० ४।४।१-५) अर्थात् सत्यकाम जाबाल ने हारिद्रुमत गौतम आचार्य के पास जाकर कहा—मैं आप की सेवा में ब्रह्मचर्यवास करूंगा, आप मेरा उपनयन करें। उससे आचार्य ने पूछा कि तेरा क्या गोत्र है? उत्तर में सत्यकाम ने कहा मैं नहीं जानता मेरा क्या गोत्र है, माता को मैंने गोत्र के सम्बन्ध में पूछा था उसने उत्तर दिया—यौवन काल में बहुत लोगों की परिचर्या में रहती हुई मैंने तुझे प्राप्त किया, मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। यह सुन आचार्य ने उसका उपनयन कर दिया। इस प्रकार अज्ञात कुल में उत्पन्न का विद्याध्ययन में अधिकार गुण के अनुसार यहां प्रदर्शित किया है। सत्यभाषण यहां गुण विद्या के अध्ययन में दिखाया गया है ॥ ३७ ॥

विद्याध्ययन में चारों वर्ण अधिकारी हैं, गुणकर्महीन व्यक्ति कोई भी वर्ण-अधिकारी नहीं, उसके तो—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

(श्रवणाध्यनार्थप्रतिषेधात्) गुण-कर्म से हीन किसी भी वर्ण के लिये श्रवण-अध्ययनार्थ प्रतिषेध पाये जाने से ''**नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः**'' (श्वे० ६।२२) अर्थात् अशान्त, पुत्ररहित और शिष्यत्वरहित को विद्या नहीं देनी चाहिये। ''**नैतदचीर्णव्रतोऽधीते**'' (मुण्डक ३।२।११) व्रताचरण से रहित जन भी पढ़ने का अधिकारी नहीं। (स्मृतेः-च) स्मृति में भी गुणहीन के लिये अध्ययन का प्रतिषेध दिखलाया है ''**विद्या है वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्**'' (निरु० २।१।४ मनु० २।११४)=विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली—''मैं

तेरा कोष हूं मेरी रक्षा कर। निन्दक, असरल, असंयमी के लिये मेरा उपदेश मत कर जिससे कि मैं बलवती होऊं। तथा—"**पृथिवीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां दद्यान्न देयं त्विदमसंयताय।**" (महा० शन्ति० मो० अ० ३०८। ३७) असंयमी, आचारहीन, जन के लिये विद्या का उपदेश न करे, चाहे वह रत्नपूर्ण पृथिवी को बदले में दान करे। अतः अध्ययन में चारों वर्णों का अधिकार है, गुणहीन का तो किसी का भी नहीं। इस प्रकार अध्ययन में योग्य मनुष्यमात्र का अधिकार जनाने का लिये यह वर्णन जानना चाहिये न कि शूद्राध्ययनप्रतिषेध के लिये। ऐतरेय महीदास ने शूद्र होते ऋग्वेद का अध्ययन करके ऐतरेय ब्राह्मण को रचा, इस प्रकार अनेक उदाहरण हैं।

यहां शाङ्करभाष्य में वेद का श्रवण करते हुए शूद्र के कानों को गर्म सीसे धातु और लाख से भरना, वेद का उच्चारण करते हुए का जिह्वाछेदन करना, वेद का स्मरण कर लेने पर शिर काट देने का प्रतिपादन और उसका स्वीकार शङ्कराचार्य के द्वारा करना महान् आश्चर्य और अनर्थ की बात है कि '**अहं ब्रह्मास्मि**'=**मैं ब्रह्म हूं, जीव ब्रह्म की एकता के वाद का स्वीकार और प्रचार करने वाला इस प्रकार का निर्दय कृत्य मानता है। और सूत्रकार व्यास मुनि का सिद्धान्त है ऐसा प्रतिपादन करके सूत्रकार को भी कलङ्कित कर दिया। यह ऐसा शिष्टाचार शिष्ट ऋषि-मुनियों का आचार नहीं जो कि यहां शङ्कराचार्य ने दिखलाया, यह तो शिष्टविरुद्ध और वेदविरुद्ध है॥ ३८॥**

विद्याध्ययन में प्रासंगिक अधिकार और अनधिकार का विचार समाप्त हुआ। पुनः वही परमात्मविषय प्रस्तुत किया जाता है।

प्राणः कम्पनात्॥ ३९॥

(प्राणः कम्पनात्) अध्यात्मप्रकरण में आया 'प्राण' शब्द परमात्मा के लिये जानना चाहिये। क्योंकि जैसे शरीरस्थ प्राण सारे शरीर को कम्पाता है, चलाता है। इसी प्रकार समष्टि का प्राणरूप परमात्मा सब जगत् को कम्पाता है, चलाता है। कहा ही है—"**यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति**" (कठो० २। ६। २)=जो यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है वह प्राण के अन्दर गति करता है, उसे जानकर ज्ञानी जन अमृतत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यहां स्पष्ट ही प्राणरूप परमात्मा में रखा हुआ जगत् गति करता है, कम्पन करता है, ऐसा कहा है। शरीर के कम्पन का कारण शरीरस्थ प्राण हो सकता है, जगत् के कम्पन का कारण नहीं। गौण वृत्ति से वायु प्राण नाम से कल्पित

किया जा सकता है सो भी यहां संगत नहीं, क्योंकि यहां पर उसके विशेषण उद्यत वज्र और महद्भय दिये हुए हैं। साथ ही उसके जानने वाले अमृत हो जाते हैं, यह भी कहा है। ये बातें वायु में नहीं घटती हैं किन्तु परमात्मा में ही स्वभावत: घटती हैं। वेद में कहा है—"**स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः**" (ऋ० १।१००।१२) तथा उपनिषद् में भी कहा है—"**भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः**" (कठो० २।६।३)=उस परमात्मा के भय से अग्नि तपता है, सूर्य तपता है और इन्द्र (विद्युत्) वायु, तथा मृत्यु भी दौड़ता है। परमात्मा को जानकर ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है, अन्य को जानकर नहीं—"**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं.....तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति**" (यजु० ३१। १८, श्वेता० १५)=मैं उस महान् पुरुष परमात्मा को जानूं उसी को जानकर मुनष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। वेद में भी जगत् के कम्पन का हेतु परमात्मा प्रतिपादित किया है—"**यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा**" (अथर्व० १३।३।३) जिस परमात्मा के द्वारा सारे लोक प्राण धारण करते हैं अर्थात् गतिमान् होते हैं॥ ३९॥

ज्योतिर्दर्शनात्॥ ४०॥

(ज्योति:) अध्यात्मप्रकरण में आया ज्योति शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है क्योंकि (दर्शनात्) साक्षात्कार करने से या प्राप्त करने से "**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छारीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य....**" (छान्दो० ८।१२।३)=यह जीव शरीर बन्धन से छूटकर परज्योति=परमात्मा को प्राप्त होता है। यहां पर परज्योति परब्रह्म परमात्मा है अन्य नहीं, क्योंकि उसका दर्शन-साक्षात्कार या प्राप्त करना यहां विधान किया गया है 'उपसम्पद्य' अर्थात् साक्षात् करके या प्राप्त करके। ज्योति शब्द से यहां परमात्मा लक्षित है यह पूरे वचन से भी स्पष्ट है—"**परं ज्योति:...स उत्तमः पुरुषः**"(छान्दो० ८।१२।३) अन्यत्र भी "**हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।**" (मुण्डक २।२।९) तथा—**तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।** (बृह० ४।४।१६) इन वचनों में परमात्मा को ज्योतियों की ज्योति कहा गया है॥ ४०॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्॥ ४२॥

(अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्-आकाश:) अध्यात्मप्रकरण में अर्थान्तरता आदि के व्यपदेश से=अन्य अर्थों का व्यवहार पाये जाने से आकाश शब्द परमात्मा के लिये है, जैसे '**आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा**

तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' (छान्दो० ८। १४। १)=आकाश सब वस्तुओं के नाम और स्वरूप का निर्वाहक विधाता है वे जिसके अन्दर रखी हैं वह अमृत ब्रह्म परमात्मा है। इस वचन में अर्थान्तरता दो प्रकार की प्रतिपादित की है, एक तो यह कि जिन वस्तुओं के नाम और रूप का विधाता है वह उन से भिन्न है, वह ऐसा परमात्मा ही हो सकता है। दूसरे अर्थान्तरता यह हैं कि वे वस्तुएं जिनके नाम रूप का विधाता है वह आकाश उनके अन्दर वर्तमान हुआ है सो ऐसा वह ब्रह्म ही हो सकता है। वस्तुओं से भिन्नता उस ब्रह्म की यहां स्पष्ट है जो कि ब्रह्म का धर्म है। अत: यहां आकाश ब्रह्म ही है। परमात्मा के सर्वार्थान्तरता=सब वस्तुओं के अन्दर वर्तमानता वेद में और उपनिषद् में भी कही गई है—''**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**'' (यजु० ३२। ८) ''**सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्**'' (श्वेता० ३। २१)॥ ४१॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन॥ ४२॥

(सुषुप्त्युक्रान्त्योः—भेदेन) सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा और उत्क्रान्ति= शरीर से जीवात्मा का निकल जाना, इन दोनों का निकल जाना इन दोनों का भेद से व्यवहार पाये जाने से। सुषुप्ति और उत्क्रान्ति जीव के अन्दर कही जाती हैं किन्तु परमात्मा इन दोनों से पृथक् वर्णित किया है—''**यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति........अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्**''। (बृह० ४। ३। १९-२१) अर्थात् जिस निद्रा में सोया हुआ मनुष्य कुछ कामना नहीं करता है, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुषुप्ति है। उस समय यह पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रज्ञात्मा अर्थात् परमात्मा के साथ मिला हुआ न बाहर को जानता है, न अन्दर को जानता है। इस प्रकार कथन में सुषुप्ति जीव के अन्दर दिखलाई गई और सुषुप्ति को प्राप्त जीव से भिन्न परमात्मा को कहा गया है। तथा ''**अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति**'' (बृह० ४। ३। ३५) यह शरीर में रहने वाला आत्मा अर्थात् जीवात्मा प्राज्ञात्मा अर्थात् परमात्मा के साथ संगत हुआ, शरीरबन्धन को त्यागता हुआ शरीर से पृथक् होता है। इस प्रकार यहां भी प्राज्ञ परमात्मा को जीव से भिन्न कहा गया है। अत: जीव से भिन्न परमात्मा है, यह सिद्ध हुआ॥ ४२॥

पत्यादिशब्देभ्यः॥ ४३॥

(पत्यादिशब्देभ्यः) पति अर्थात् अधिपति आदि शब्दों से कहा हुआ परमात्मा ही जानना चाहिये, जीवात्मा नहीं—''**एष सर्वेश्वर एष**

भूताधिपतिरेष भूतपालः'' (बृह० ४। ४। २२) तथा—''**सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च**'' (बृह० ५। ६। १) इन वचनों में सर्वेश्वर, भूताधिपति, भूतपाल, सर्वेशान, सर्वाधिपति शब्दों से परमात्मा को कहना यहां स्पष्ट है। वही समस्त जगत् का प्रशासन करता है, यह भी कहा गया है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर जीव से भिन्न सत्ता परमात्मा ही अभीष्ट है॥ ४३॥

प्रथम अध्याय का तृतीयपाद समाप्त।

चतुर्थ पाद

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च॥ १॥

(आनुमानिकम्-अपि-एकेषाम्-इति चेत्) आनुमानिक अर्थात् अनुमान के अनुक्रम से=सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम के अनुक्रम से स्थूल का समवायी कारण प्रकृति नामक अव्यक्त है। वह भी जगत् के जन्मादि का कारण प्रकृति किन्ही शाखावालों का अभीष्ट है। यदि यह कहा जाये तो (न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः) ऐसा कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति नामक अव्यक्त का जगत् के प्रति कारण निर्देश उस परमात्मा के शरीररूपक विन्यास अर्थात् अलङ्कार के ग्रहणार्थ होने से है, अन्यथा नहीं (दर्शयति च) इस प्रकार उपनिषद् शास्त्र प्रदर्शित करता भी है जैसा कि ''**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुल्लिगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति**'' (मुण्डको० २। १। १)=जैसे कि सम्यक् प्रज्वलित अग्नि से सहस्रों समानरूप चिंगारियां प्रकट होती हैं, उसी प्रकार अक्षर से विविध पदार्थ प्रकट होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। इस कथन में जड़ अग्नि का दृष्टान्त लेने से जगत् का कारण अव्यक्त प्रकृति नामक जड़ प्रतीत होता है। तथा उत्तर वचन में ''**अक्षरात्परतः परः**'' (मुण्ड० ३। १। २)=परमात्मा तो उस अक्षर प्रकृति नामक अव्यक्त से भी परे है। इस प्रकार यहां अक्षर प्रकृति नामक अव्यक्त स्पष्ट है, अतः यह अव्यक्त प्रकृति जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण है जो यह वाद उपस्थित है, इसके उत्तररूप में यहां प्रदर्शित किया जाता है कि अक्षर प्रकृति नाम जड़ जगत् के जन्मादि कर्म में परमात्मा का शरीर बनकर कारणता को प्राप्त होता है निमित्त कारण रूप में नहीं। किन्तु रूपकालङ्कार से शरीर के रूपक से मानना चाहिये। इस बात को पूर्व

उपनिषद् वचन दर्शाता भी है—"**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च..... तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्**" (मुण्ड० १।१।७) यहां कहा गया है कि जैसे तन्तुकीट अर्थात् मकड़ी का शरीर जाल के जन्मादि का कारण है वैसे ही अक्षर-प्रकृति नामक अव्यक्त भी परमात्मा का शरीर-स्थानी या शरीररूप समस्त जगत् के जन्मादि का कारण मानना चाहिये। वह भी स्वतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र तो निमित्त कारण ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ॥ १॥

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्॥ २॥

(सूक्ष्मं तु तत्) यहां शरीर रूपक अलङ्कार में तन्तुकीट-मकड़ी का शरीर स्थूल है और हम लोगों का शरीर भी स्थूल तथा कार्य और उत्पत्ति वाला होता है, फिर कैसे प्रकृति नामक अव्यक्त परमात्मा का शरीररूप होता हुआ सूक्ष्म अव्यक्त हो सकता है? इस पर कहते हैं कि वह तो सूक्ष्म ही होता है, क्योंकि (अर्हत्वात्) उसके सूक्ष्म होने की योग्यता से वह सूक्ष्म होता हुआ भी परमात्मा का शरीर है, जैसे आकाश सूक्ष्म होता हुआ भी परमात्मा का शरीर रूप है—"**य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरम्**" (बृह० ३।७।१२) अर्थात् जो आकाश में रहता हुआ आकाश से पृथक् है, जिस को आकाश नहीं जानता है परन्तु आकाश जिसका शरीर है। यहां आकाश जैसे सूक्ष्म को परमात्मा का शरीर बतलाया ही है। ऐसे ही प्रकृति नामक अव्यक्त सूक्ष्म होता हुआ भी परमात्मा का शरीर हो जाता है। जगत् का अन्तिम अन्वयी समवायी कारण अव्यक्त प्रकृति है, अतः उसे सूक्ष्म होना ही है। परमात्मा तो उसकी अपेक्षा से भी सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म है, कहा ही है—"**अणोरणीयान्**" (कठ० १।२।२०)=परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अतः प्रकृति नामक अव्यक्त उसका शरीर सिद्ध होता है॥ २॥

तदधीनत्वादर्थवत्॥ ३॥

(तदधीनत्वात् अर्थवत्) परमात्मा के अधीन होने से प्रकृति नामक अव्यक्त है, जगत् के जन्मादि में सार्थक है अन्यथा नहीं, उसके जड़ होने से, क्योंकि जो-जो जड़ होता है, वह पराधीन होता है स्वाधीन नहीं। उसकी सार्थकता चेतन के अधीन होने से ही है, जैसे मिट्टी का घटादि के रूप में आना कुम्हार के अधीन होता है, स्वाधीन नहीं। इसी प्रकार प्रकृति नामक अव्यक्त का जगत् रूप में परिणाम होना या उससे जगत् का उत्पन्न होना परमात्मा के अधीन है अर्थात् परमात्मा निमित्त कारण है और प्रकृति उसके अधीन उपादान कारण है॥ ३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

(ज्ञेयत्वावचनात् च) प्रकृति नामक अव्यक्त को कहीं भी उपासना प्रकरण में जानने योग्य नहीं कहा है। इससे भी वह जगत् के जन्मादि का ब्रह्म की भांति कारण नहीं है। जानने योग्य तो सर्वत्र आध्यात्मिक प्रकरण में परमात्मा ही कहा गया है, जैसा कि "**स आत्मा स विज्ञेयः**" (माण्डू० ७) "**तरति शोकमात्मवित्**" (छान्दो० ७। १। ३) "**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्**" (यजु०३१। १८) "**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**" (तै०उ०२। १) "**तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तै०३। १) इन वचनों में परमात्मा जानने योग्य है, उस को जानने वाला शोक से तर जाता है, उसे जानने की आकांक्षा दर्शायी है तथा ब्रह्मवेत्ता परम पद को प्राप्त होता है और उस ब्रह्म को जानो ऐसा विधान किया है, अतः जगत् के जन्मादि का कारण 'निमित्त कारण' ब्रह्म ही जानना चाहिए ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

(वदति-इति चेत्) प्रकृति नामक अव्यक्त को जानने योग्य अध्यात्म-शास्त्र कहता है जैसे—"**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्य-मगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते**" (कठो०३। ५) इस वचन में शब्दादिरहित विशेषण तथा महत्तत्व से परे। इस प्रकार वर्णन से प्रकृति नामक अव्यक्त निचाय्य अर्थात् जानने योग्य कहा गया है, क्योंकि प्रकृति नामक अव्यक्त शब्द आदिरहित होता है और महत्तत्त्व से परे अव्यक्त होता ही है। उपनिषद् में भी कहा है—"**महतः परमव्यक्तम्**" (कठो० १। ३। ११) ऐसा यदि कहे तो (न) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि (प्राज्ञः—हि प्रकरणात्) परमात्मा ही यहां जानने में अभीष्ट है। यह प्रकरण से स्पष्ट है, प्रकरण परमात्मा का ही पूर्व से चल रहा है—"**पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः....एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्ममदर्शिभिः**" (कठो० १। ३। ११-१२)परमात्मा से परे कोई नहीं, वही काष्ठा है, वही परा गति है, वह सब भूतों में गूढ हुआ-छिपा हुआ आंख से प्रकाशित नहीं होता है किन्तु सूक्ष्मदर्शी योगियों के द्वारा श्रेष्ठ सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है। इस प्रकार परमात्मा का प्रकरण स्पष्ट है। अशब्द, अस्पर्श आदि का कथन परमात्मा के जड़त्वनिवृत्ति के लिये है क्योंकि शब्द, स्पर्श आदि गुण जड़ के धर्म हैं, महत् से परे कथन महत् परिणाम वाले आकाश से परे है इसलिये कहा है। जैसे वेद में भी निर्देश है—

"**त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः**" (ऋ० १।५२।१२)=परमात्मा तू आकाश के पार है। मृत्यु के मुख से छूटना भी परमात्मज्ञान से ही होता है यह वेद में सूचित किया गया है—"**वेदाहमेतं पुरुषं महान्त**······**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**" (यजु० ३१।१८)=मैं उस महान् परम पुरुष परमात्मा को जानूं। उसी को जानकर मृत्यु को पार करता है अन्य कोई मार्ग मोक्ष के लिये नहीं है। इसलिये परमात्मा ही मोक्ष के लिये जानने योग्य है, यह सिद्ध हुआ॥ ५॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च॥ ६॥

(एवं च त्रयाणाम्-एव प्रश्नः—उपन्यासः-च) पूर्वोक्त "**अशब्दमस्पर्श**·····**महतः परम्**" (कठो० १।३।१५) अशब्दादि कथन में प्रकृतिनामक अव्यक्त आदि स्वीकार किया जावे तो तीनों ईश्वर, जीव, प्रकृति स्वीकार किये जायें जबकि तीनों ही सामान्यरूप से शब्दादिरहित हैं और महत्तत्त्व से परे अर्थात् सूक्ष्म हैं। तीनों का ही प्रश्न और निर्देश होना चाहिये। वस्तुतः वैसा यहां प्रसंग नहीं है, प्रसंग तो परमात्मा का ही है, अतः वह ही यहां जानने योग्य है। दूसरा व्याख्याप्रकार (त्रयाणाम्-एव-च-एवं प्रश्नः-उपन्यासः-च) इस कठोपनिषद् में नचिकेता का वरविषयक प्रश्न है और यम का उपन्यास अर्थात् कथन में न्यास प्रतिवचन-समाधानक्रम तीनों के सम्बन्ध में है अर्थात् प्राणरूप पिता के सम्बन्ध में, अहम् नामक अग्नि अर्थात् अहंज्योति के सम्बन्ध में, और परमात्मा के सम्बन्ध में, इनके विषय में प्रश्न और समाधान है—"**शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माऽभिमृत्यो......**" (कठो० १।१।१०) नचिकेता ने प्रश्न किया मेरा प्राणरूप पिता शान्तसङ्कल्प वाला, अच्छे मन वाला और उद्वेगरहित मेरे प्रति हो, यह प्रथम प्रश्न है। "**यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः**" (कठो० १।१।११) यम की ओर से उत्तर है कि वह प्राणरूप तेरा पिता मेरी प्रेरणा से जब तू भेजा जायेगा तुझे देखकर पूर्व की भांति प्रसन्न होगा। इस प्रकार प्रथम प्रश्न का समाधान है। पुनः "**स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्**" (कठो० १।१।१३) नचिकेता ने दूसरा प्रश्न किया कि यम! स्वर्गसाधक अग्नि को तू जानता है जिसे मैं प्राप्त करना चाहता हूं उस का मेरे लिये उपदेश दे; यह दूसरा प्रश्न है। "**प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं.... निहितं गुहायाम्**" (कठो० १।१।१४) यम ने कहा—इस तेरे अभीष्ट स्वर्गसाधक अग्नि को मैं तुझे उपदेश देता हूं वह तेरे हृदय के अन्दर है, यह दूसरे प्रश्न

का समाधान है। पश्चात् नचिकेता का तीसरा प्रश्न होता है—"**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्।**" (कठो० १।१।२०) "**अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्.... यत्तत्पश्यसि तद् वद**" (कठो० १।२।१४) कि मरणविषय में मनुष्य के अन्दर एक शंका होती है कि शरीर के मर जाने पर न मर जाने वाली एक सत्ता है, ऐसा कहते हैं; और नहीं है, ऐसा कोई कहते हैं। इसे तेरे द्वारा उपदेश पाया हुआ मैं जानना चाहता हूं तथा जो धर्म से अलग है, अधर्म से अलग है, कार्य से अलग है, कारण से अलग है, भूत से अलग है, भविष्य से अलग है, ऐसी सत्ता को जो तू जानता है, उसका मुझे उपदेश कर यह तीसरा प्रश्न है। यम की ओर से समाधान—"**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति.... ओमित्येतत्......**" (कठो० १।२।१५)=सब वेद जिस पद का पाठ एवं वर्णन करते हैं और सारे तप-नियम जिस को घोषित करते हैं, जिस की इच्छा रखते हुए ब्रह्मचर्य सेवन करते हैं, वह पद तेरे लिये संक्षेप में कहता हूँ—'ओ३म्' है, यह तीसरे प्रश्न का समाधान हुआ। अतः इस प्रकार प्रश्न क्रमानुसार प्रकृतिनामक अव्यक्त उक्त 'अशब्दमस्पर्शम्' इस अध्यात्मप्रकरण में जानने योग्य नहीं। वहां तो अन्तिम तृतीय प्रश्न प्रसंगगत परमात्मा के ही स्वरूप का प्रतिपादक वचन है॥ ६॥

महद्वच्च॥ ७॥

(महद्वत्-च) और जो "**अशब्दमस्पर्शं.......अनाद्यनन्तं महतः परं......**" (कठो० १।३।१५) यहां 'महतः परं' जो कहा गया है वह 'महत्' शब्द 'महद्वद्' जानना चाहिये। वहां 'महतः परम्' इसके स्थान पर 'महद्वतः परम्' अतः महत् परिमाणवाले आकाश से परे जानना चाहिये, जैसा कि वेद में आकाश से परे परमात्मा का निर्देश किया—"**त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः**" (ऋ० १।५२।१२)=हे परमात्मन्! तू आकाश के भी पार है।

दूसरा व्याख्याप्रकार—(महद्वत् च)'महद्वत्' यहां पर वत्प्रत्यय सादृश्य अर्थ में है और 'च' न के अनुकर्षण=अनुवृत्ति के लिये है। सूत्रार्थ हुआ कि प्रकृतिनामक अव्यक्त जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण मोक्षार्थ जानने योग्य नहीं, क्योंकि 'महद्वत्' जैसे ही महत्तत्त्व जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण नहीं है किन्तु गौण है; और न मोक्षार्थ जानने योग्य है क्योंकि "**महतः परमव्यक्तम्**" (कठो० १।३।१५) उस के पराश्रय होने से उसी भांति महद्वत्=महत्तत्त्ववत् अर्थात् महत्तत्त्व की भांति प्रकृतिनामक

अव्यक्त भी जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु गौण ही है और न ही मोक्षार्थ जानने योग्य है। जैसे ही महत्तत्त्व से परे प्रकृति-नामक अव्यक्त कहा गया है, ऐसे ही प्रकृतिनामक अव्यक्त से परे पुरुष अर्थात् परमात्मा कहा गया है—"**अव्यक्तात् पुरुषः परः**" (कठो० १।३।११)= प्रकृति-नामक अव्यक्त पुरुष के आश्रय होने से, क्योंकि पुरुष अव्यक्त से परे है, वह जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण नहीं और न मोक्षार्थ जानने योग्य है, यह सिद्ध हुआ।

शाङ्करभाष्य में "यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते।" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् जैसे सांख्यों=सांख्याचार्यों के द्वारा महत् शब्द प्रथमोत्पन्न सत्तामात्र में प्रयुक्त होता है वैसा वैदिक प्रयोग में नहीं। शङ्कराचार्य का इस प्रकार व्याख्यान करना असंगत है क्योंकि सूत्र में वत् प्रत्यय महत् शब्द से है न कि सांख्य शब्द से जिस से "यथा सांख्यैः" ऐसी कल्पना की जाये॥ ७॥

चमसवदविशेषात्॥ ८॥

(चमसवत्-अविशेषात्) जहां कहीं अध्यात्मप्रकरण में जगत् के जन्मादि का कारण प्रकृति, कर्त्ता जैसा भासित हो जैसा कि "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता० ४।५) इस वचन में लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपा अर्थात् रज-सत्-तमोगुणरूपा अजा=अजन्मा, अपनी जैसी बहुत-सी प्रजा को सर्जन करती हुई प्रकृति कही गई है। ठीक है, प्रकृति जगत् के जन्मादि में कारण हो परन्तु वह चमसवत् अर्थात् जैसे यज्ञ का कर्त्ता यद्यपि यजमान स्वतन्त्र कारण होता है तथापि चमस=चमचा हव्य पदार्थ का प्रक्षेपण साधन अथवा आधार भी यज्ञ का कारण है परन्तु वह परतन्त्र ही है। इसी प्रकार अविशेष से अर्थात् कारण के सामान्य निर्धारण से अव्यक्त प्रकृति भी जगत् के जन्मादि में कारण हो सकती है पर वह स्वतन्त्र नहीं है और न मोक्षार्थ जानने योग्य है।

दूसरा व्याख्याप्रकार—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥" (श्वेता० ४।५) इस वचन में लोहित-शुक्ल-कृष्ण रूपा 'अजा' को प्रसवधर्मी कहा गया है। वह यहां अविशेष-सामान्य धर्म से प्रकृति अभिलक्षित है और सामान्य धर्म है लोहितकृष्ण-शुक्लता सत्त्व, रजः, तमोगुण के साथ। सामान्य धर्मों के द्वारा उपमा दिये हुए पदार्थ में सारे गुण नहीं तोले जाते। उस अजारूप की सृजमानता= सर्जनकार्य होना परमात्मा के अधीन गौण ही लेना चाहिये। चमसवत्=चमस की

भांति, जैसे ही "**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः**" (बृह० २।२।३) यहां पर शिर को चमसरूप कहा गया है अविशेष अर्थात् सामान्य धर्म के कारण। वहां उपनिषद् में कहा भी है—'**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राण वै यशो निहितं विश्वरूप**....." (बृह०२।२।३)= नीचे बिल वाला ऊपर मूल वाला चमस यह शिर ही है। उसके अन्दर विश्व को रूप देने वाला यश रक्खा हुआ है। वह विश्व को रूप देने वाला प्राण है। जैसे यहां पर सिर को चमस की उपमा नीचे बिल मुख रूप और ऊपर मूल के सामान्य धर्म को लेकर दी है। इसी प्रकार अजालङ्कार में शुक्ल-लोहित-कृष्ण से सत्त्व, रज, तमोगुण की तुलना जाननी चाहिये न कि सर्जनकारी होने की स्वतन्त्रता॥ ८॥

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके॥ ९॥

(ज्योतिरुपक्रमा तु) पूर्वसूत्र के साथ इस की एकवाक्यता है। 'चमसवदविशेषाज्ज्योतिरुपक्रमा तु'=चमस की भाँति सामान्य धर्म से जो कहा गया है वह ज्योतिरुपक्रमा अर्थात् ज्योति आदि=सत्त्वादि=सत्त्व रजस् तमोगुणरूपा अजालङ्कार में प्रकृति लेनी चाहिये। ज्योति-प्रकाश-सत्त्व है उपक्रम=आरम्भ जिसका वह ज्योतिरुपक्रमा=सत्त्वादिमयी=सत्त्व-रज-तमोगुण रूपा सामान्य धर्म से प्रकृति ग्राह्य है। (तथा हि एके-अधीयते) कुछ शाखा वाले प्रकृति को ऐसा पढ़ते भी हैं कि यहां यह जो लोहित शुक्ल कृष्णरूपा त्रिगुण जगत् का मूल प्रकृति कही गई है उसमें जो लोहित आदि कथन किये हैं सो कहते हैं—"**यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य**" (छान्दो० ६।४।१) प्रकृति में जो सत्त्व है वह अग्नि का रूप है, जो रज है वह जलों का रूप है, जो तम है वह पृथिवी का है। इस प्रकार प्रकृति की त्रिगुणता के कारण-कथन से अजालङ्कार में प्रकृति त्रिगुणमयी अविशेष अर्थात् सामान्यरूप से ग्रहण करनी चाहिये, सो वह परमात्मा के अधीन ही होती हुई जगत् के जन्मादि में कारण जाननी चाहिये॥ ९॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥ १०॥

(कल्पनोपदेशात्-च) प्रकृति जो सत्त्व-रज-तमोगुण वाली यहां लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपा जो कही गई है वह कल्पना के उपदेश से है, अतः (अविरोधः-मध्वादिवत्) कोई विरोध की बात नहीं मधु आदि की भांति। जैसे ही "**असौ वा आदित्यो देवमधु**" (छान्दो० ३।१।१) यह

सूर्य देवों का मधु है। तथा "**वाचं धेनुमुपासीत**" (बृह० ५।८।१)= वाणीरूप गौ की उपासना करे। सूर्य मधु नहीं है तो भी मधु कहा गया है, वाणी गौ नहीं है तो भी गौ कही गई है। केवल किसी समानता को लेकर कल्पना की जाती है। इसी प्रकार यहां भी प्रकृति का 'अजा' त्रिगुण होने की समानता को लेकर तीन वर्ण वाली कल्पित की गई है न कि वह अजा=बकरी की भांति जगत् के सर्जन कार्य में स्वतन्त्र जाननी चाहिये॥ १०॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च॥ ११॥

(संख्योपसंग्रहात्-अपि न) "**यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥** (बृह० ४। ४।६७) इस स्थल पर "पञ्च पञ्चजनाः" ये संख्या का परिगणन पच्चीस अर्थात् पच्चीस तत्त्ववाला प्रकृति का स्वरूप प्रकृति-विकृतिमय नहीं मानना चाहिये, क्योंकि (नानाभावात्-अतिरेकात्-च) पांच-पांच संख्या की द्विरुक्ति नहीं है जिससे कि पच्चीस संख्या कल्पित की जाये, किन्तु यहां तो इनकी भिन्नता है अर्थात् प्रथम पञ्च शब्द तो संख्यावाची है, दूसरा पञ्च शब्द स्वतन्त्र नहीं है किन्तु जन शब्द से समास को प्राप्त हुआ 'पञ्चजन' एक पद के रूप में है। प्रथम पञ्च शब्द संख्यावाचक है, दूसरा शब्द पञ्चजन संख्यावाचक नहीं किन्तु पञ्चजन नामक संख्या से भिन्न पदार्थ है, अतः यहां प्रकृतिमय पच्चीस संख्या का गण नहीं है। दूसरे अतिरेक होने से भी अर्थात् आकाश और आत्मा ये दोनों पच्चीस संख्या वाले गण से अधिक हैं, अतः पच्चीस संख्या वाले प्रकृति-स्वरूप की कल्पना ठीक नहीं॥ ११॥

प्राणादयो वाक्यशेषात्॥ १२॥

(प्राणादयः) वे पञ्च संख्या में पञ्चजन प्राण हैं, क्योंकि (वाक्यशेषात्) वाक्यशेष बल से अर्थात् कहे जाने वाले वाक्य के आकांक्षा बल से। वह ऐसे कि "**प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमगयम्॥**" (बृ० ४।४।१८)=वह प्राण का प्राण है, नेत्र का नेत्र है, कान का कान है, अन्न का अन्न है, और मन का मन है, ऐसा जो उसे जानते हैं वे शाश्वत श्रेष्ठ ब्रह्म को उसे अपने अन्तरात्मा में साक्षात् करते हैं। इस वचन में पूर्व से प्राणादि आकांक्षित हैं=अभीष्ट हैं। छान्दोग्योपनिषद् में भी किन्हीं प्राणादि पांच पदार्थों का संकेत है—"**ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः**" (छान्दो० ३।१३।६)॥ १२॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

(एकेषाम्-असति-अन्ने) कुछ एक शाखा वालों अर्थात् काण्व शाखा वालों के मत में तो अन्न पाठ न होने पर 'प्राण का प्राण' कथन में अन्न शब्द के न होने पर (ज्योतिषा) ज्योति शब्द से पञ्च-पञ्चजन में पांच संख्या पूरी की जाती है। वह ज्योति शब्द पूर्व वचन में चल रहा है—"**तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते**" (बृह० ४।४।१६)=वे देव ज्योति की ज्योति को आयु मानकर उपासना करते हैं। इस प्रकार यहां ज्योति शब्द होने से पञ्चजन की पांच संख्या पूरी हो जाती है। अतः इस प्रकरण में पञ्च-पञ्चजन पच्चीस गणवाला प्रकृति रूप नहीं है। अतः प्रकृतिनामक अव्यक्त जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण नहीं है ॥ १३ ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथोपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

(आकाशादिषु च) "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः**......." (तै० उ० २।१) "**तत्तेजोऽसृजत्**" (छान्दो० ६।२।३) "**स प्राणमसृजत्**" (प्रश्नो० ६।४) "**स इमाँल्लोकानसृजत्। अम्भोमरीचीः......**" (ऐ०उ० १।२) "**असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत**" (तै०उ० २।७) "**असदेवेदमग्र आसीत्**" (छान्दो० ३।१९।१) "**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**" (छान्दो० ६।२।१-२) इन वचनों में आये हुए आकाश आदि सृष्टिप्रकरण में कहे हुए पदार्थों में सर्वत्र (कारणत्वेन यथोपदिष्टोक्तेः) कारणरूप से ब्रह्म ही कर्ता कारण की यथोपदिष्ट उक्ति है अतः ब्रह्म ही जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

कैसे वहां सृष्टिप्रकरण में कहे हुए आकाश आदियों में निमित्त कारण ब्रह्म जानना चाहिये सो कहते हैं:—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

(समाकर्षात्) सम्यक् अनुकर्षण=सम्यक् अनुवर्तन=अनुवृत्तिरूप प्रचलित प्रकरण से जानना चाहिये। जैसा कि **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः ....**" (तै० उ० २।१) इस स्थल पर पूर्व से ब्रह्म का प्रकरण चल रहा है। "**ब्रह्मविदाप्नोति परम्........सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्.........**" (तै० उ० २।१)= ब्रह्मवेत्ता पर=सर्वोपरि अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त होता है तथा सत्य-स्वरूप ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म को जो हृदयगुहा में निहित जानता है। इस प्रकार

इस वचन में ब्रह्म का प्रकरण आरम्भ कर "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायु.......**" (तै० उ० २ । १) यह वचन कहा गया है। इस वचन में 'तस्मात्' शब्द से ब्रह्म लक्षित है। दूसरा स्थल "**स प्राणमसृजत........**" (प्रश्नो० ६ । ४) यहां भी "**तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति.......**" "**स ईक्षांचक्रे......**" (प्रश्न० ४ । १-२) इस पूर्ववचन में सोलह कला वाले परमात्मा का प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। "**स इमांल्लोकानसृजत.......अम्भो मरीचीः**" (ऐ० उ० १ । २) यहां भी पूर्व से इस वचन के द्वारा "**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्.....**" (ऐ० उ० १ । १) परमात्मा का प्रकरण चल रहा है। "**असद्वा इदमग्र आसीत्...**" (तै० उ० २ । ७) इस स्थल पर भी पूर्व से ब्रह्मविषय चल रहा है, जैसे— "**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्**" (तै० उ० २ । ६)=ब्रह्म को ही असत् यहां स्पष्ट कहा गया है कोई अन्य पदार्थ नहीं तथा "**असदेवेदमग्र आसीत्तत्समभवत्**" (छान्दो० ३ । १९ । १) इस स्थल पर भी इससे पूर्व के भाग में "**आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः**" (छान्दो० ३ । १९ । १) में ब्रह्मविषय स्पष्ट है। इस प्रकार विवेचना से सर्वत्र सृष्टिप्रकरण में ब्रह्म ही जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण समाकृष्ट है, सम्यक् उपलब्ध है ॥ १५ ॥

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

(जगद्वाचित्वात्) कहीं पर जगत् के रचनाप्रकरण में, जगत् शब्द का प्रयोग नहीं है किन्तु भिन्न ही है। जैसे "**यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः**" (कौ० ४ । १९) अर्थात् हे बालाकि! जो इन पुरुषों का कर्ता है तथा जिसका यह कर्म है उस ऐसे रचयिता परमात्मा को जानना चाहिये। इस वचन में कहा हुआ कर्म शब्द जगद्वाची= जगत् का वाचक, जगत् के अर्थ में जानना चाहिये। अतः उसके जगत् वाचक होने से जगत् का कर्ता जानने के लिये जो उपदिष्ट किया वह परमात्मा है, वह ही प्रस्तुत पुरुषों का कर्ता जानना चाहिये, अन्य नहीं। इस प्रकरण में गर्गगोत्रीय बालाकि ने अजातशत्रु के पास जाकर कहा कि "**ब्रह्म ते ब्रवाणि**" (कौ० ४ । १)=मैं तेरे लिये ब्रह्म का उपदेश देता हूं। इस प्रकार ब्रह्म का प्रसङ्ग उठाया। यद्यपि बालाकि के वचनों से अजातशत्रु ने सन्तोष को प्राप्त न होकर यह कहा—"**मृषा वै खलु मां संवदिष्ठाब्रह्म ते ब्रवाणि- यो वै बालाके! एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः**" (कौ० ४ । १९)=आपने झूठ ही बोला कि मैं तेरे लिये ब्रह्म

का उपदेश करूंगा। यह जो आपने भिन्न-भिन्न दिशाओं के भिन्न भिन्न पुरुष-विशिष्ट शक्तिसम्पन्न आदित्य आदि पदार्थ कहे हैं, इनका जो कर्ता और जिस का यह कर्म अर्थात् जगत् रचा हुआ है वह ब्रह्म परमात्मा जानना चाहिये। तथापि यहां आदित्यादि पुरुषों का कर्म और यह जगत् रूप कर्म जिस का है वह जानना चाहिये, इस कथन में उस परमात्मा को छोड़कर अन्य नहीं हो सकता॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्॥ १७॥

(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्-न) पूर्वोक्त प्रकरण में जीवलिङ्ग मुख्यप्राणलिङ्ग मिलता है, अतः परमात्मा वहां अभीष्ट नहीं है किन्तु जीव जानना चाहिये या मुख्य प्राण जानना चाहिये, क्योंकि "**तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते, एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति**" (कौ० ४। २०) इस वचन में कहा गया है जैसे कि श्रेष्ठी इन अपने अनुचरों के द्वारा भोग प्राप्त करता है अथवा जैसे अनुचर लोग श्रेष्ठी को अपने भोगार्थ सेवन करते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा स्वसम्बद्ध पदार्थों से भोग प्राप्त करता है, ऐसे ही उससे सम्बद्ध पदार्थ जीवात्मा को अपने भोगार्थ सेवन करते हैं। यहां भोक्ता होने का विधान जीव का लिङ्ग है। मुख्य प्राण लिङ्ग भी मिलता है—"**यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति**" (कौ० ४। १९)=सोते हुए जिस समय कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय सब कुछ इन्द्रियवृत्तियां इस प्राण में ही एक हो जाती हैं। यहां पर मुख्य प्राण लिङ्ग स्पष्ट है, अतः यहां परमात्मा नहीं मानना चाहिये (इति चेत्) ऐसा यदि कोई कहे तो (तत्-व्याख्यातम्) इस बात का समाधान "**जीव-मुख्यप्राण-लिङ्गान्नेति चेत्०**" (वेदा० १। १। ३१) सूत्र में त्रिविध उपासनादोष के समाधान की भांति जानना चाहिये। वहां तो त्रिविध उपासनादोष का प्रसङ्ग था। प्रस्तुत सूत्र में त्रिविध कारण दोष का प्रसङ्ग है, इसलिये जैसे वहां उपासना केवल एक ब्रह्म की ही होने से ब्रह्म ही उपास्य सिद्ध हुआ जीव, और मुख्य प्राण नहीं। इसी प्रकार यहां भी जगत् के कारण प्रकरण में ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है जीव और मुख्य प्राण नहीं, वही जानने योग्य है॥ १७॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके॥ १८॥

(अन्यार्थं तु जैमिनिः) इस प्रकरण में जो कुछ भी अन्य लिङ्ग सन्देहजनक है। इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये। वहां जीव का

कथन हो किन्तु वह उस के साधना के लिये नहीं अपितु अन्यार्थ है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। (प्रश्न-व्याख्यानाभ्याम्) प्रश्न से और उस के व्याख्यान=उत्तर स्पष्ट करने से, जैसा कि "**क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत अगात्**" (कौ० ४।१९) अर्थात् हे बालाकि! यह जीवात्मा कहां सो गया था, सोते हुए कहां चला गया था, पुनः कहां से आया ? यह यहां प्रश्न है, इसके उत्तर में कहा है—"**यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति......स यदा प्रबुध्यते.... एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्त।**" (कौ० ४।१९)=जिस समय यह सोया हुआ किसी स्वप्न को नहीं देखता उस समय इस मुख्य प्राण में इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति मिल जाती है। जब यह जीवात्मा जागता है तो इस से ही प्राण इन्द्रियां अपने-अपने गोलकों के अनुसार अपने-अपने रूप में कार्य करने वाली हो जाती हैं। इस प्रकार उत्तर में भी जीवात्मा का प्रसङ्ग जागने और सोने के सम्बन्ध में है। जगत् के कारण या उसके जानने योग्य प्रसङ्ग नहीं (अपि च-एवम्-एके) ऐसा नहीं, अन्य शाखा वाले भी मानते और व्याख्यान करते हैं कि शयनकाल में जीवात्मा का अधिष्ठान या स्थिति परमात्मा के अन्दर हो जाती है। वहां भी प्रश्नोत्तर द्वारा इसी प्रकार वर्णन है जैसा कि "**य एष विज्ञानमयः पुरुषः चैष तदाऽभूत् कुत एतदागात्।**" (बृह० २।१।१६)=जो यह विज्ञानमय पुरुष अर्थात् जीवात्मा है, यह कहां चला गया था और कहां से आया ? यह प्रश्न है। इस के उत्तर में कहा है—"**य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते**" (बृह० २।११६) यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें सो जाता है। यहां हृदय के अन्दर कहा हुआ आकाश न जीव का वाचक है, न प्राण का, किन्तु परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है—"**दहरोस्मिन्नन्तराकाशः**" (छान्दो० ८।१।१) जैसे इस वचन में आकाश परमात्मा का वाचक कहा गया है तथा "**यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति......अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्**" (बृह० ४। ३।२१)=जब सोया हुआ जीवात्मा कुछ कामना नहीं करता है और न कोई स्वप्न देखता है उस समय यह जीवात्मा परमात्मा के साथ संगति को प्राप्त हुआ न बाहर की बात जानता है न अन्दर की। इस वचन में भी शयनकाल में जीवात्मा की परमात्मा के अन्दर संगति स्पष्ट बतलाई गई, अतः पूर्वोक्त प्रकरण में परमात्मा ही जगत् का कारण दर्शाया गया है। जीवात्मा और मुख्य प्राण का वर्णन तो अन्य प्रसंगार्थ है॥ १८॥

वाक्यान्वयात्॥ १९ ॥

(वाक्यान्वयात्) कहीं-कहीं अध्यात्मप्रकरण में सन्देह होने पर वाक्यान्वय=वाक्य के अनुकूल सम्बन्ध से जगत् का कर्ता परमात्मा स्पष्ट होता है। जैसे "**आत्मा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**" (बृह० ४।५।६)=आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करना चाहिये। यहां इन श्रवण आदि की आकांक्षा में निर्दिष्ट आत्मा=परमात्मा को जानना चाहिये न कि प्रारम्भ के आत्मा शब्द से जीवात्मा की कल्पना करना। जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है—"**न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति......न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति..... न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**" (बृह० ४।५।६) याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है—मैत्रेयी! पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है, इत्यादि आरम्भ करके, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः...." यह कथन किया है। यहां आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार कथन करने में परमात्मा ही आत्मा शब्द से लक्षित है क्योंकि परमात्मा का ही वाक्य में अन्वय अर्थात् अनुकूल सम्बन्ध है। जीवात्मा तो अहंवृत्ति वाला अनायास ही सब को अनुगत सिद्ध है कि "अहमस्मि=मैं हूं" इसके श्रवण-मनन-निदिध्यासन साक्षात्कार करने में उपदेश की सार्थकता नहीं है। और न ही वहां आत्मा शब्द जीवात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है, वस्तुतः यहां आत्मा शब्द निज शब्द का पर्याय है क्योंकि पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं किन्तु निज की अपनी कामना के लिये प्यारा है। इसी प्रकार धन की कामना के लिये धन प्यारा नहीं किन्तु निजी कामना के लिये=स्वार्थ साधन के लिये प्रिय है इत्यादि, और संसार में निज कामना साधन=स्वार्थ-साधन से अमरता या मोक्ष प्राप्त नहीं होता किन्तु जो तो सांसारिक वस्तुओं के द्वारा साधनीय स्वार्थ को त्यागकर परमात्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करता है वही संसार में निर्मुक्त हुआ स्थिर शान्ति को प्राप्त होता है। इस हेतु यहां यह उपदेश "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"=आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करना चाहिये, कथन में आत्मा शब्द से परमात्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार करना वाक्य के अन्वय=वाक्य के अनुकूल सम्बन्ध से सिद्ध होता है॥ १९ ॥

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

(प्रतिज्ञासिद्धेः-लिङ्गम्) "**आत्मा व अरे द्रष्टव्यः**" इस वचन में परमात्मा का लिङ्ग-द्योतन है, प्रतिज्ञा की सिद्धि से। वहां यह प्रतिज्ञा है— "**आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्**" (बृह० ४। ५।६) अर्थात् आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् कर लेने पर यह सब जगत् जाना जाता है, जैसे ही किसी शिल्पी के जान लेने पर उस का शिल्प-रचित पदार्थ जाना जाता है। इसी प्रकार जगत् के शिल्पी परमात्मा को जान लेने पर उसका शिल्प-रचित जगत् जाना जाता है। यह सर्वथा उचित है। जीवात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार से सब जगत् नहीं जाना जाता है, उसके अकर्त्ता, एकदेशी और अल्पशक्ति वाला होने से (आश्मरथ्यः) ऐसा आश्मरथ्यः आचार्य मानते और कहते हैं, अतः परमात्मा ही जगदादि का कर्ता स्वतन्त्र कारण है ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

(उत्क्रमिष्यतः—एवम्भावात्) "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**" (बृह० ४।५।६) उक्त वचन में आत्मा शब्द से जो परमात्मा कहा गया है वह उत्क्रमण करते हुए इस शरीर से पृथक् होते हुए जीव का मोक्षावस्था में आत्मा है, इस अभिप्राय से कहा गया है। जैसा कि अन्यत्र उपनिषद् में वह परमात्मा इस का आश्रयरूप में कहा गया है—"**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरी-रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८। १२। ३) अर्थात् यह जीवात्मा इस शरीर-बन्धन से पृथक् होकर परज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर अपने रूप में अभिनिष्पन्न=-सुसम्पन्न होता है। (इति-औडुलोमिः) इस प्रकार औडुलोमी आचार्य मानते हैं, अतः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस कथन में आत्मा शब्द परमात्मा के लिये है, जो कि आत्मा का आत्मा है, मोक्ष उस का आश्रय नहीं है किन्तु आत्मा का है ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

(अवस्थितेः—इति) "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः.....**" इस स्थल पर आत्मा शब्द का प्रयोग पृथिवी आदि भूतों और जीवात्मा के अन्दर अवस्थिति=अवस्थानता=विराजमानता परमात्मा की होने से अर्थात् उसके सर्वान्तर्यामी होने से वह आत्मा नाम से कहा गया है जैसा कि अन्यत्र पृथिवी आदि के अन्दर परमात्मा की अवस्थिति बतलाई गई है—"**यः पृथिव्यां तिष्ठन्....यस्य पृथिवी शरीरम्....य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो**

यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरमात्मनोऽन्तरो स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'' (बृह० ३। ७। ३-३०) इस वचन में पृथिवी आदि भूतों और आत्मा के अन्दर परमात्मा की विराजमानता स्पष्ट है। (इति काशकृत्स्नः) इसी दृष्टि से इस वचन में पृथिवी आदि भूतों के अन्दर आत्मा बन कर रहने वाला परमात्मा ''**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**'' वचन में आत्मा शब्द से कहा गया है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य का मत है, क्योंकि वह चराचर पदार्थों का अन्तरतम होने से आत्मा है और जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण है॥ २२॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥ २३॥

(प्रकृतिः—च) प्रकृति भी जगत् के जन्मादि का कारण है किन्तु परमात्मा के अधीन उपादानरूप में है न कि स्वतन्त्र कारण। जगत् का कारण उपादानरूप कारण प्रकृति कैसे है, यह कहते हैं (प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्) प्रतिज्ञा के और दृष्टान्त के उपलब्ध होने से, पाये जाने से। प्रतिज्ञा— ''**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म.....**'' (कठ० २। २। ८) इस वचन में यथेष्ट जगत् निर्माण के हेतु सोते हुओं में जागता है, ऐसा कहा गया है। उस जागते हुए परमात्मा के साथ सोने वाले भी कहे गए हैं, तब उन सोने वालों की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। उनमें प्रकृति सोई हुई है और जीव भी सोये हुए हैं, उन सोते हुओं में परमात्मा जागता है। उक्त कथन से सृष्टि से पूर्व केवल परमात्मा ही था ऐसी बात नहीं, उससे भिन्न प्रकृति भी अव्यक्तरूप थी, वह भी जगत् का कारण है, तथा '**कामं कामं निर्मिमाणः**' कथन से निर्माता परमात्मा से भिन्न अन्य वस्तु भी अपेक्षित है क्योंकि एकाकी चेतन परमात्मा में कामना अर्थात् सङ्कल्प सङ्गत नहीं, जब अपने से भिन्न वस्तु को देखता है तभी उसके सम्बन्ध में सङ्कल्प का प्रादुर्भाव होता है अन्यथा नहीं। साथ ही 'निर्मिमाणः' शब्द से वह निर्माता=कर्ता और उससे भिन्न जिससे निर्माण करता है, वह प्रकृति भी प्रतिज्ञात हुई सिद्ध होती है, अतः प्रकृति भी जगत् का कारण है, यह सिद्ध हुआ। निर्माता से भिन्न वस्तु का नाम प्रकृति सार्थक है, प्रकृत की जाती है, विकृतिरूप में लाई जाती है निर्माता के द्वारा, जो वह प्रकृति है। और दृष्टान्त में भी दिया जाता है वहीं कठोनिषद् वचन- ''**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च**'' (कठो० २। २। ९) इस दृष्टान्त में जैसे अग्नि सारे भूतों में प्रविष्ट हुआ-हुआ तैजस धर्म से उनके

अन्दर वर्तमान है, वैसे परमात्मा सारे भूतों में रहता हुआ उनके अन्दर वर्तमान है, और वह बाहर भी है। इस कथन में केवल ब्रह्म ही नहीं है, किन्तु उससे भिन्न अन्य वस्तु भी है जिससे बाहर उसकी वर्तमानता दिखलाई है जो कि ब्रह्म के अन्दर अल्पता को प्राप्त अव्यक्तरूप में रहती है जिसके विकृतिरूप ये सब पदार्थ हैं।

शाङ्करभाष्य में जो "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।** (तै०उ० ३। १) इस तैत्तिरीय वचन में पञ्चमी विभक्ति का आश्रय लेकर ब्रह्म जगत् की प्रकृति है ऐसा अर्थ-किया है, उसमें "**जनिकर्तुः प्रकृतिः**" (अष्टा०१। ४। ३०) प्रमाण से अपादान कारक परमात्मा को स्थापित किया है, वह ठीक नहीं। अन्यत्र भी पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होने से, जैसे—"**आदित्याज्जायते वृष्टिः** (मनु० ३।७६) अर्थात् सूर्य से वृष्टि होती है। यहां पर वृष्टि का जनक आदित्य कथन करने से आदित्य शब्द में पञ्चमी विभक्ति उसकी प्रकृति होने से नहीं है तथा "**तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे॥**" (यजु० ३१। ७)=यहां यज्ञ से अर्थात् यज्ञस्वरूप परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की जायमानता=उत्पत्ति कही गई है और यज्ञ शब्द से पञ्चमी विभक्ति है। यह ऋग्वेदादि की जायमानता में प्रकृति नहीं है। और फिर शङ्कराचार्य के दिये वचन "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**" (तै०उ० ३। १) में केवल जायमानता का वर्णन ही नहीं है, किन्तु पूरे वचन में तो कुछ और भी कहा गया है। पूरा वचन है—"**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तै०उ० ३। १) इसमें केवल जायमानता का ही निर्देश नहीं है, किन्तु स्थिति और नाश भी कहे गये हैं और तृतीया तथा द्वितीया विभक्ति का भी प्रयोग है। इस प्रकार यहां पञ्चमी विभक्ति से अपादानता लक्षित नहीं है, किन्तु पञ्चमी विभक्ति हेतु में जाननी चाहिये जैसा कि वेदान्तसूत्र में "**जन्माद्यस्य यतः**" (वेदा० १। १। २) इस सूत्र में जगत् के जन्म के साथ उसकी स्थिति और नाश के योग में भी पञ्चमी विभक्ति होने से वह पञ्चमी हेतु में है अर्थात् परमात्मा जगत् के जन्म-उत्पत्ति, स्थिति और नाश का हेतु है अर्थात् प्रवर्तक है॥ २३॥

अभिध्योपदेशाच्च॥ २४॥

(अभिध्योपदेशात्-च) प्रकृति भी जगत् का कारण है इसमें अभिध्योपदेश भी एक हेतु है कि अभिध्या=आभिमुख्य-रूप ध्यान अर्थात् किसी भी पदार्थ को लक्ष्य करके जो ध्यान या विचार होता है वह अभिध्यान

या अभिध्या है, उसका प्रतिपादन होने से भी। अभिध्या या अभिध्यान का लक्ष्य प्रकृति है जो कि जगत् का कारण सिद्ध होता है उसके अभिध्यान का उपदेश है—"**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो० ६। २। ६)=जैसे कोई जन अपनी स्त्री को लक्ष्य करके ध्यान करता है कि मैं इसके अन्दर प्रवेश करके प्रजारूप से बहुत हो जाऊं, उसी प्रकार परमात्मा निज शरीररूप प्रकृति में अभिध्यान से प्रविष्ट हो बहुत नामों के द्वारा कहा जाने वाला होऊं। केवल अपने आश्रय पर बहुत होने की कल्पना अकेले चेतन परमात्मा में नहीं है, उसके अखण्ड होने से तथा स्वरूप-हान के प्रसंग दोष से। स्वरूपहानि में उसका कोई लाभ नहीं है जबकि उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतः उसके अपने से भिन्न को अभिलक्षित करने से प्रकृति की सत्ता जगत् के उपादानकारणरूप में सिद्ध हो जाती है॥ २४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात्॥ २५॥

(साक्षात्-च-उभयाम्नानात्) साक्षात् भी दोनों परमात्मा और प्रकृति का सृष्टि-उत्पत्ति के कारणरूप में विधान होने से, जैसा कि "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी.....**" (तै०उ० २। १) इस वचन में तस्मात् शब्द से अव्यक्त प्रकृति और 'एतस्मात्' शब्द से परमात्मा से आकाश आदि की सृष्टि उत्पन्न हुई, ऐसा कहा गया है। और भी "**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्**" (मुण्ड० ३। १। ३) इस वचन में जगत् के उत्पत्ति कर्म में परमात्मा निमित्त कारण कहा गया है और "**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**" (श्वेता० ४। ५) इस वचन में त्रिगुणमयी=तीन गुणों वाली प्रकृति को जगत् का कारण कहा गया है। इस प्रकार इन वचनों में साक्षात् परमात्मा और प्रकृति को जगत् के कारण प्रसङ्ग में पढ़ा गया है, अतः दोनों कारण हैं। तथा "**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**" (श्वेता० ४। १०) इस वचन में परमेश्वर और प्रकृति दोनों को साक्षात् पढ़ा हुआ है ही, जो कि जगत् की उत्पत्ति के कारण हैं। वेद में भी सृष्टि की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में दोनों पढ़े गये हैं—"**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव.....सोऽस्याध्यक्षः**" (ऋ० १०। १२९। ७) इस वचन में विविध सृष्टि जिस उपादान कारण से व्यक्त हुई उस अव्यक्त प्रकृति का अध्यक्ष परमात्मा भी कहा गया है, अतः परमात्मा और प्रकृति दोनों ही जगत् के कारण हैं। निमित्त कारण परमात्मा और उपादान कारण प्रकृति है।

शाङ्करभाष्य में "**उभयाम्नानात्**" शब्द से प्रभव और प्रलय लिये गये हैं, यह उचित नहीं है; क्योंकि उभय शब्द सर्वनाम है और सर्वनाम शब्द समीपी या उपस्थित या लक्षित वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। समीपी या उपस्थित या लक्षित यहां पर परमात्मा या प्रकृति होने से ये दोनों ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्य कोई नहीं। और जो प्रभव तथा प्रलय उस परमात्मा में है, परमात्मा के कार्य दर्शाये हैं, वे न केवल दोनों ही परमात्मा के कार्य हैं किन्तु तीन हैं अर्थात् प्रभव स्थिति और प्रलय। जैसा कहा भी है—"**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तै०उ० ३। १)=जिससे ये सारे भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके आधार पर जीवित रहते हैं और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं अर्थात् जो उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का प्रवर्तक है उसको तू जान वही ब्रह्म है। इस प्रकार विवेचन से इस सूत्र का शाङ्करभाष्य अनर्गल है, अयुक्त है॥ २५॥

आत्मकृतेः परिणामात्॥ २६॥

(आत्मकृतेः परिणामात्) प्रकृति में परिणाम चेतन परमात्मा की कृति है=कारीगरी है, अतः प्रकृति उपादान कारण है, क्योंकि उसमें परिणाम होता है और परमात्मा निमित्त कारण है क्योंकि वह परिणाम का कर्ता है। जैसा कि कहा गया है—"**स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत्**" (तै० उ० २। ६)=उस परमात्मा ने अपना ज्ञानमय तप तपा, फिर ज्ञानमय तप करके इस सारे जगत् को उत्पन्न किया। वेद में भी—"**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**" (ऋ० १०। ८१। ३, यजु० १७। १९)=द्युलोक से भूलोकपर्यन्त सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला एक परमात्मदेव है। सूत्र में परिणाम का कर्ता परमात्मा कहा गया है और परिणाम होता है अनात्म अर्थात् जड़ में, सूत्र में दिये '**आत्मकृतेः**' शब्द से स्पष्ट है। इस प्रकार यहां आत्मा अर्थात् चेतन परमात्मा परिणाम का कर्त्ता और अनात्म जड़ प्रकृति परिणाम को प्राप्त होने वाली उपादान कारणरूप में संकेतित है॥ २६॥

योनिश्च हि गीयते॥ २७॥

(योनिः-च हि गीयते) अतएव परिणाम का कर्त्ता परमात्मा योनि अर्थात् सब का आश्रय कहा जाता है। जीवों का, प्रकृति का, और भूतों का वह आधार है। उसके अनन्त और परिणामकर्त्ता होने से अनन्त वस्तु स्वयं परिणाम को नहीं प्राप्त होती है किन्तु एकदेशी और वह भी जड़ वस्तु ही परिणाम को प्राप्त होती है। परमात्मा तो योनि अर्थात् आधाररूप में ही

वर्तमान होता है जैसा कि कहा गया है—"**एष ह योनिः सर्वस्य**" (माण्डू० ६) "**कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्**" (मुण्ड० ३।१।३) "**सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्**" (छान्दो० १।९।१) इन वचनों में परमात्मा को सब का योनि अर्थात् आधार कहा गया है, अतः परमात्मा निमित्त कारण है, यह जानना चाहिये।

यदि तो सब का उत्पत्तिस्थान होने से परमात्मा को योनि कहा जाये, जैसा कि नवीन वेदान्ती मानते हैं, तब तो उसके उपादान कारण होने का अनुमान किया जाये, किन्तु वह तो सब का लयस्थान भी है और इन सब उत्पन्न हुओं तथा लीन हुए हुओं अर्थात् प्रकृति के रूप में प्राप्त हुए हुओं से भी महान् है। उनकी लीनावस्था प्रकृति ही है, उस प्रकृति से भी महान् है, प्रकृति उस परमात्मा के सम्मुख एकदेशी है, तुच्छ है। यह वेद में भी कहा है—"**तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना-जायतैकम्॥**" (ऋ० १०।१२९।३)=सृष्टि से पूर्व अन्धकार था, कहना चाहिये कि अन्धकार से आच्छादित था, लिङ्ग या चिह्न से रहित था, जल के समान सब एक रस फैला हुआ था। वह ऐसा '**आभु**' नाम का पदार्थ तुच्छरूप में अनन्त परमात्मा के सम्मुख था। यहां मन्त्र में जगत् के उपादान कारण प्रकृतिरूप अव्यक्त को अनन्त परमात्मा के आधार पर तुच्छरूप में एकदेशी रूप में वर्तमान कहा गया है, यह उपादानरूप प्रकृति परिणामी है। परिणाम को प्राप्त होने वाली वस्तु अनन्त नहीं हुआ करती है, अतः परमात्मा परिणामकर्त्ता अनन्त सिद्ध हुआ। यदि परमात्मा ही परिणाम को प्राप्त होने वाला हो तो फिर वह उत्पन्न हुए तथा लीन हुए पदार्थों से कैसे महान् कहा जाये? प्रकृति तो उसके सम्मुख एकदेशी है, उसके विकार अर्थात् उत्पन्न हुए पदार्थ और पुनः वह लीन हुए प्रकृतिरूप में आये हुए एकदेशी ही हो सकते हैं, उनसे महान् परमात्मा ही सिद्ध होता है। यदि परमात्मा ही स्वयं विकार को प्राप्त हो तब किससे विकृति को प्राप्त हुए और विनाशकाल में प्रकृति को प्राप्त हुए लीन पदार्थों से महान् कौन होगा? यह प्रश्न बना रहेगा अतः परमात्मा अनन्त और सब का आश्रय होने से निमित्त कारण ही है; न कि उपादान कारण॥ २७॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः॥ २८॥

(एतेन) जगत् के उत्पत्ति आदि कर्म में ब्रह्म के निमित्त कारणत्व=

कर्त्तृत्व और अनन्तत्व के निरूपण विवेचन से (सर्वे व्याख्याता:-व्याख्याता:) सब न कहे हुए भी जगत् के जन्मादि कारणपरक वेदान्तविचार व्याख्यात अर्थात् स्पष्ट किये हुए जानने चाहिएं। '**व्याख्याता:**' शब्द का दो बार पाठ अध्यायसमाप्ति के लिये है।

प्रथम अध्याय में चतुर्थ पाद समाप्त।

तथा

प्रथम अध्याय स्वामी ब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्य सहित समाप्त।

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत् न, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्॥ १ ॥

(स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः—इति चेत्) जगत् के उत्पत्ति आदि कारणविषय में स्मृतियों की भिन्नता है। किसी स्मृति में जगत् का कारण ब्रह्म कहा है और किसी में अव्यक्त प्रकृति को कारण बतलाया है। इस प्रकार स्मृति में कहे हुए कारण को यदि न स्वीकार करें तो स्मृति का अनवकाश दोष प्रसङ्ग आ जाता है। पुनः किसी भी एक स्मृति का पक्ष लिया जावे तो (न) यह बात ठीक नहीं क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गात्) दूसरी स्मृति के अनवकाश का दोष प्रसङ्ग आ जावे, अतः उस स्मृति में प्रतिपादित जगत् का कारण ब्रह्म हो या अव्यक्त प्रकृति हो वह वह स्व-स्व क्षेत्रविषयक है अर्थात् अपने-अपने क्षेत्र में स्वीकार करने योग्य है न कि विरोध दृष्टि से देखने योग्य या मानने योग्य किन्तु दोनों को समन्वय दृष्टि से लेना और जानना चाहिये। वह इस प्रकार कि निमित्त कारण ब्रह्म और उपादान कारण प्रकृति नामक अव्यक्त है। यद्यपि स्मृतियों में अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार जगत् का कारण ब्रह्म या प्रकृति भिन्न-भिन्न कहा गया है किन्तु वहां दूसरे की अवहेलना नहीं की गई है, प्रसङ्ग से दूसरे का वर्णन भी किया है। जैसा कि सांख्य-स्मृति में—"**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारो-ऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्रापि......** (सांख्य० १।६१) अर्थात् सत्त्व, रज, तम की समावस्था= निश्चेष्टावस्था प्रकृति है, प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा आदि उत्पन्न होते हैं। यहां प्रकृति को जगत् का कारण कहा है किन्तु वहीं सांख्यदर्शन में "**अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्**" (सांख्य० ३।५५) अर्थात् प्रकृति यद्यपि कार्य नहीं है किन्तु कारणवस्तु है, तथापि कारण होती हुई भी वह परवशा है, अपने से पर या भिन्न के वश हुई-हुई है। किसके वश हुई हुई है? सो वहीं आगे कहा है—"**स हि सर्ववित् सर्वकर्ता**" (सांख्य० ३।५६)=वह सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता है। यहां स्पष्ट ही जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म स्वीकार किया है। तथा जिस स्मृति

में जगत् का कारण ब्रह्म कहा गया है वहां प्रकृति नामक अव्यक्त को भी कारणरूप में सूचित किया ही है, जैसे—"**सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः**" (मनु० १।८) इस वचन में 'स्वात् शरीरात्' अर्थात् अपने शरीर से परमात्मा ने सृष्टि को रचा। परमात्मा प्राणियों की भांति शरीरधारी नहीं है। कठोपनिषद् में भी कहा है—"**अशरीरं शरीरेषु**" (कठो० १।२।२१)=वह ब्रह्म शरीररहित है पर शरीरों के अन्दर व्यापक है, "**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्**" (यजु० ४०।८)=वह परमात्मा शरीर से रहित सर्वत्र व्यापक है। यद्यपि प्राणियों जैसा शरीर उसका नहीं किन्तु प्रकृति उस का शरीर है, जैसा कि "**यः पृथिव्यां तिष्ठन्....यस्य पृथिवी शरीरम्।....योऽप्सु तिष्ठन्....यस्यापः शरीरम्....। योऽग्नौ तिष्ठन्.....यस्याग्निः शरीरम्....। यो अन्तरिक्षे तिष्ठन्....यस्यान्तरिक्षं शरीरम्। यो वायौ तिष्ठन्....यस्य वायुः शरीरम्।......**" (बृह० ३।७। ३-७) इन वचनों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि को परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। इसी प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का शरीर जानना चाहिये, क्योंकि वह उसमें व्यापक होकर उस से बाहर भी है। अन्यत्र उपनिषद् में—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६।१२) अर्थात् जो एक बीज को बहुत प्रकार से कर देता है। इस वचन में जगत् का बीज स्पष्ट कहा गया है और वह है उपादान कारण प्रकृति। इस प्रकार समन्वय से जगत् के कारण दो हैं एक निमित्त कारण ब्रह्म और दूसरा उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति है, यह स्पष्ट हुआ॥ १॥

यदि इस प्रकार ब्रह्म और अव्यक्त प्रकृति ये दोनों जगत् के कारण स्वीकार किये जायें तो इन दोनों से इतर अर्थात् अन्य जीव भी क्यों न जगत् के कारण स्वीकार किये जायें? वे भी तो जगत् से पूर्व सत्तावाले हैं ही, उन्हीं के लिये जगत् रचना होती है, अतः वे भी जगत् के कारण होने चाहियें। इस का उत्तर दिया जाता है—

इतरेषां चानुपलब्धेः॥ २॥

(इतरेषां च-अनुपलब्धेः) ब्रह्म और प्रकृति से इतर अर्थात् जीवों का तो जगत् कारण होना कहीं भी श्रुति या स्मृति में नहीं उपलब्ध होता है। अतः जीव जगत् के कारण नहीं हैं, वे तो जगत् में केवल भोग्य ही सेवन करते हैं।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में 'इतरेषाम्' इस पद का "महदादीनाम्" महत्तत्त्व, अहङ्कार आदि अर्थ करके उनका जगत् कारण में निषेध होना

कहा है, यह अर्थ आश्चर्यपूर्ण है। जब कि शाङ्कर मत में प्रकृति का जगत् कारण होना निषिद्ध कर दिया, तब उसके विकार महत्तत्त्व आदि भी स्वतः ही निषिद्ध हो गये। उनके निषेध के लिये पृथक् सूत्र रचना की आवश्यकता ही नहीं, इस अवस्था में इस सूत्र-रचना के व्यर्थ दोष-प्रसंग आ जाने से सूत्र का शाङ्करभाष्य ठीक नहीं है ॥ २ ॥

अच्छा, जीव जगत् के कारण न हों किन्तु उनका ब्रह्म और प्रकृति के साथ योग तो जगत् कारण हो सकता है। इस विषय में कहते हैं—

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

(एतेन योगः प्रत्युक्तः) जीवों के जगत् का कारण कहीं श्रुति या स्मृति में उपलब्ध न होने से उन का ब्रह्म और प्रकृति के साथ योग भी जगत् का कारण होना खण्डित-निषिद्ध जानना चाहिये। जब कि जीव जगत् के कारण ही नहीं हैं तब उनका योग जगत् का कारण हो इसका अवसर ही नहीं रहा।

इस सूत्र पर शाङ्करभाष्य असंगत है, क्योंकि उन्होंने इस सूत्र पर योगदर्शन का खण्डन किया है कि योगदर्शन में जगत् का कारण प्रकृति मानने का भी प्रत्युत्तर अर्थात् खण्डन या निषेध जानना चाहिये, परन्तु योगदर्शन में कहीं भी ऐसा सूत्र नहीं है जिसमें प्रकृति जगत् का कारण प्रतिपादित हो। तब योग प्रतिपादित प्रकृति का जगत् कारण होना खण्डित या निराकृत हो गया। इस कथन का अवसर ही नहीं है। और भी शाङ्करभाष्य से सूत्र की व्यर्थता का दोष भी आता है जबकि "स्मृत्यनवकाशदोष-प्रसंग......" पूर्वोक्त इस सूत्र में प्रकृति नामक अव्यक्त का जगत् कारण होना प्रतिषिद्ध कर दिया। तब उसका सांख्यप्रतिपादित प्रकृति हो या योगप्रतिपादित प्रकृति हो, वह सब ही प्रतिषिद्ध हो गया, पुनः पृथक् सूत्र रचना की आवश्यकता नहीं है। और फिर पूर्व सूत्र में सूत्रकार ने सांख्य शब्द को लेकर तो निराकरण किया नहीं जिससे कि इस उत्तर सूत्र में योग नाम से निराकरण की आवश्यकता हो। और यदि प्रकृति नामक अव्यक्त के जगत् कारण का निषेध करने के लिए सूत्र आचार्य ने रचा हो, तब "स्मृत्यनवकाशदोष......" इस सूत्र के अनन्तर ही "इतरेषां चानुपलब्धेः" इस सूत्र से पूर्व ही "एतेन योगः प्रत्युक्तः" सूत्र की रचना होनी चाहिये। इस प्रकार शाङ्करभाष्य सूत्रशैली से नितान्त असंगत है ॥ ३ ॥

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, इस विषय में विशेष हेतु दिया

जाता है—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्॥ ४॥

(अस्य न विलक्षणत्वात्) इस जगत् के विलक्षण न होने से= विलक्षणतारहित होने से=समान धर्मवाला होने से प्रकृति अवश्य उपादान कारण है। प्रकृति जड़ है तो जगत् भी जड़ है। प्रकृति त्रिगुण=सत्त्वरजस्तमोमय है तो जगत् भी सत्त्वरजस्तमोमय है (तथात्वं च शब्दात्) तथात्व अर्थात् कारण से अविलक्षणरूप कार्य का होना शब्द से प्रतिपादित किया जाता— "**कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः**" (वै० २।१।१४)=कारणगुणपूर्वक कार्य का गुण होता है, अतः प्रकृति जगत् का उपादान कारण है॥ ४॥

"अविलक्षणत्व=समान धर्म जड़त्व जगत् में है, यह कैसे कहा जाता है जबकि कहीं-कहीं चेतनत्व भी शास्त्र में प्रतिपादित किया है— "**मृदब्रवीत्**" (शतपथ० ६।१।३।४)=मिट्टी बोली, "**आपोऽब्रुवन्**" (शत० ६।१।३।२)=जल बोले, "**तत्तेज ऐक्षत्**" (छान्दो० ६।२। ३)=अग्नि ने विचार किया, "**ता आप ऐक्षन्तः**" (छान्दो० ६।२।४)=जलों ने विचार किया, "**तेऽग्निमब्रुवन् विजानीहि किमेतद्यक्षमिति**" (केन० ३।३)=वे देव अग्नि को बोले कि यक्ष क्या है उसको जानो "**ते ह वाचमूचुस्त्वं उद्गाय**" (बृह० १।३।२)=वे इन्द्रियरूप प्राण वाणी को बोले तू हमारे बीच में उद्गीथ का गान कर, "**ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः।**" (बृह० ६।१।७)=वे इन्द्रियरूप प्राण मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं, इस विषय में विवाद करते हुए ब्रह्म के पास गये। इस विषय में कहते हैं:—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्॥ ५॥

(अभिमानिव्यपदेशः-तु) यहां यह यथार्थ चेतनव्यपदेश=चेतन व्यवहार नहीं है किन्तु वह तो अभिमानी=अभिनय अलङ्कार के सम्बन्ध से है, वास्तविक नहीं है। वेद में भी ऐसा आलङ्कारिक वर्णन आता है, जैसा कि निरुक्त में कहा गया है—"**मनुष्यवद् देवताभिधानम्**" (निरु० १।१)=अग्नि आदि देवताओं में नाम तथा व्यवहार का वर्णन मनुष्य की भांति है। अच्छा वह अभिमानी व्यपदेश किसलिये है? सो कहते हैं (विशेषानुगतिभ्याम्) विशेष के लिये और अनुगति अर्थात् अनुमान के लिये। वे विशेष और अनुगतिरूप अभिप्राय उस-उस प्रकरण में प्रदर्शित किए हैं, अतः प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, यह जानना चाहिए।

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

(दृश्यते तु) इस अभिमानी व्यपदेश=अभिनय या अलङ्कार का व्यवहार लोक में भी दिखलाई पड़ता है, केवल वेद या उपनिषदों में ही नहीं। जैसे '**कूलं पिपतिषति**=नदी का तट गिरना चाहता है', '**वृष्टिराजिगमिषति**=वृष्टि आना चाहती है'। कथानकों में भी '**नारदपर्वतयोः संवादः**=नारद-पर्वत का संवाद,' '**नदीपर्वतयोः संवादः**=नदी-पर्वतों का संवाद' '**समुद्र उवाच**=समुद्र बोला' इत्यादि मिलता है। अतः आभिमानिक=आभिनायिक= आलंकारिक, काल्पनिक चेतनत्व के वर्णन से जड़ वस्तुतः चेतन नहीं हो जाता है किन्तु वह तो जड़ ही रहता है। अतएव यह जड़ जगत् जड़ प्रकृति का परिणाम या विकार है। वह प्रकृति परिणामिनी है, परमात्मा तो अपरिणामी है, उसके अखण्ड एकरस और अनन्त होने से। अतः वह ही जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण है। यह भली प्रकार सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

उपादान कारण जड़ प्रकृति का, जड़ जगत् यदि उसका परिणाम=कार्य है, तो परिणाम में उसकी समानधर्मता होनी चाहिए, यह माना जावे तो "**असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत**" (तै० उ० २। ७)= जगत् से पूर्व असत् था यहां ऐसा कहा, तब उसका परिणाम जगत् भी असत् होना चाहिए, कार्य अपने कारण के गुणों का अनुसरण करता है। अतः प्रकृति जगत् का कारण नहीं। इस पर कहते हैं—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

(असत्-इति चेत्) उत्पत्ति से पूर्व असत् कथन से प्रकृति का प्रतिषेध यदि कहा जावे (न) तो ठीक नहीं; क्योंकि (प्रतिषेधमात्रत्वात्) इससे तो केवल प्रकृति का ही प्रतिषेध नहीं होगा किन्तु प्रतिषेधमात्र से जगत् से पूर्व सब का प्रतिषेध प्रसङ्ग हो जावेगा। 'असत्' के सत्तामात्र का प्रतिषेधवाची होने से। इस प्रकार ब्रह्म का भी प्रतिषेध हो जाता है। अन्य व्याख्याप्रकार (असत्-इति चेत्) उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' था, यदि कहा जावे तो. (प्रतिषेधमात्रत्वात्) प्रसक्त=प्रसिद्ध का प्रतिषेध यहां तात्पर्य है न कि अभाव लक्षित है। प्रसक्त=प्रसिद्ध है स्थूल जगत्, उसका ही प्रतिषेध है न कि कारणपदार्थ अव्यक्त प्रकृति का। यदि अतीन्द्रिय=इन्द्रियों से परे अव्यक्त प्रकृति का प्रतिषेध इससे कल्पित किया जावे, तब अतीन्द्रिय कारण परमात्मा का भी प्रतिषेध हो जावे, 'असत्' कथन में प्रतिषेध मात्रता से असत् कथन की सर्वप्रतिषेधशक्ति होने से ॥ ७ ॥

असद्वादी की ओर से आक्षेप—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥ ८॥

(अपीतौ तद्वत्प्रङ्गात्) अच्छा हो 'असत्' कथन में जगत् सत्ता का अभावमात्र प्रकृति का अभाव न सही। तब अपीति=लयावस्था रूप प्रकृति में उसके धर्म की आपत्ति हो जावे, जो ही धर्म कार्य में स्थूलता, गन्ध, रस, रूप आदि धर्म होते उनके भी प्रकृति में आने का प्रसङ्ग हो जावे, क्योंकि कार्य में गुण कारण के अनुसार ही होते हैं। तब (असमञ्जसम्) प्रकृति का मानना असञ्जस=अयुक्त हो जाता है, प्रकृति तो सूक्ष्म, अव्यक्त मानी गई है—''**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्**'' (योग० १। ४५) सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग अर्थात् प्रकृति तक है। तथा ''**सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः**'' (सां० १। १०९)=प्रकृति के सूक्ष्म होने से उसकी इन्द्रियों से उपलब्धि नहीं है॥ ८॥

समाधान करते हैं—

न तु दृष्टान्तभावात्॥ ९॥

(न तु) यह असमञ्जस=अयुक्त नहीं है। क्योंकि (दृष्टान्तभावात्) दृष्टान्तों के वर्तमान होने से पाये जाने से, लोक में दृष्टान्त हैं कि कार्य-वस्तु लयावस्था में सूक्ष्म हो जाती है। स्थूलता को छोड़ देती है, उसमें गन्ध, रस, रूप आदि नहीं ठहरता है। जैसा कि मिट्टी का पिण्ड या मिट्टी का बना खिलौना पीस दिया हुआ फूंक मार देने से आकाश में लीन किया हुआ सूक्ष्म हो जाता है, स्थूलता तो छोड़ देता ही है, और उस समय उस में गन्ध, रस, रूप आदि नहीं रहता है। उसी प्रकार समस्त जगत् भी लयावस्था में स्थूलता, गन्ध, रस, रूप आदि को छोड़कर सूक्ष्म हो जाता है और उसकी सूक्ष्म-स्थिति ही वह यही प्रकृति है, अतः असमञ्जस नहीं है॥ ९॥

इस समाधान में अन्य यह हेतु है, यदि वह न माने, तो वह हेतु ठीक नहीं। जो यह ''अपीतौ'' (८) इस सूत्र में निर्देश है, वह हेत्वाभास है—

स्वपक्षदोषाच्च॥ १०॥

(स्वपक्षदोषात्-च) इस हेत्वाभास से स्वपक्ष दूषित होता है। स्वपक्ष= आपका पक्ष=पूर्वपक्षी का पक्ष है, जगत् का कारण ब्रह्म है, उस समय ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण होना चाहिए, क्योंकि असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता है। कहा भी है—''**कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्**'' (छान्दो० ६। २। ६)=कैसे असत् से सत् उत्पन्न हो, पहिले

सोम्य सत् ही था। अतः जगत् के कारणरूप ब्रह्म के अन्दर स्थूलता, गन्ध, रस, रूप आदि भी आ जावें। अतः उपादान कारण में लयावस्था में कार्य=धर्मों का दोषप्रसङ्ग अयुक्त है॥ १०॥

फिर आशङ्का करके समाधान करते हैं—

तर्काप्रतिष्ठानादन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष-प्रसङ्गः॥ ११॥

(तर्काप्रतिष्ठानात्-अन्यथानुमेयम्-इति चेत्) स्वपक्षदोष जो कहा जाता है वह तर्क का अपवाद है, तर्क का प्रतिष्ठान नहीं है, क्योंकि एक तर्क दूसरे तर्क से कट जाता है और दूसरा तर्क अन्य तर्क से कट जाता है, इस हेतु अन्यथा अर्थात् अन्य प्रकार से अनुमेय वस्तु जानना होगा न कि पक्षदोष से, यदि यह कहा जाये तो (एवम्-अपि-अविमोक्षप्रसङ्गः) इस रीति से भी अनुमान करने में दूसरे प्रमाण के प्रसङ्ग का छुटकारा नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान भी अपने आश्रय नहीं होता, वह भी किसी दृष्टलिङ्ग की अपेक्षा रखता है। क्योंकि जो कोई भी दृष्टलिङ्ग होता है उसी से वस्तु का अनुमान होता है, जहां अनुमान में दृष्टलिङ्ग नहीं मिलता वह अनुमान तो अनुमानता को त्याग देता है। अतः जगत् से पूर्व उसका उपादान कारण प्रकृति ब्रह्म के आश्रय थी यह मानना चाहिये, न कि असत् कथन से उसका अभाव प्रसङ्ग हो सके। उपनिषदों में कहा है कि प्रकृति परमात्मा की सहचारिणी है, जगत् की रचना में कारण है—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६।१०) "**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**" (श्वेता० ४।१०) अर्थात् परमात्मा एक बीजरूप प्रकृति को बहुत रूपों में जगदाकार कर देता है, प्रकृति माया है और परमेश्वर मायी है॥ ११॥

एतेन शिष्टाऽपरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥ १२॥

(एतेन) इस व्याख्यान प्रकार से (शिष्टाऽपरिग्रहाः) शिष्ट महानुभावों द्वारा जो परिगृहीत=स्वीकृत नहीं किए जाते वे भी असत् कथन, जैसे शून्यवाद आदि (व्याख्याताः) निराकरण रूप से व्याख्यान किए हुए अर्थात् खण्डन किए हुए जानने चाहिएं॥ १२॥

अच्छा, हो प्रकृति उपादान कारण और परमात्मा निमित्त कारण तथा जीवात्मा भोक्ता भी हों, जो तो मुक्त आत्माएं हैं वे तो परमात्मा में उसके सुख का अनुभव करते हुए रहते हैं। परन्तु जो बद्ध जीव हैं वे प्रलय-अवस्था में प्रकृति के साथ उसके अन्दर लीन हुए हुए जैसे अभेद से

वर्तमान होते हैं। उस समय उनका भोक्तृ-धर्म अर्थात् भोगने का धर्म प्रकृति में आ जावे पुनः वह प्रकृति जड़त्व=जड़धर्म से च्युत हो जावे, फिर जड़त्व से च्युत होकर उपादानता से भी च्युत हो जावे। इस पर कहते हैं—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्॥ १३॥

(भोक्त्रापत्तेः-अविभागः-चेत्) प्रलयावस्था में जीवात्माओं का प्रकृति के साथ अविभाग हो तो तब उस प्रकृति में भोक्तृ-धर्म की आपत्ति=आपन्नता अर्थात् अन्यथा प्राप्ति का दोष माना जाए तो (लोकवत् स्यात्) वह दोष नहीं किन्तु लोकवत् व्यवस्था है, जैसे लोक में मनुष्य, घोड़ा, गौ आदि जीवों का अपना-अपना जड़ शरीर उन-उन जीवों के साथ अविभागापन्न अर्थात् अविभागरूप से वर्तमान होता हुआ सुषुप्ति काल में उनके भोक्तृ-धर्म से रहित होता है। उसी भांति प्रलयावस्था में जीवात्माओं की महासुषुप्ति होती है उस समय प्रकृति के साथ अविभाग से वर्तमान होते हुए उन जीवात्माओं के भोक्तृ-धर्म से प्रकृति भी विपन्न नहीं होती, उसमें भोक्तृ-धर्म की आपत्ति अन्यथा प्राप्ति नहीं हो सकती, वह तो जड़ ही रहती है, सुषुप्ति में शरीरी जीवात्मा के साथ शरीर की भांति॥ १३॥

अच्छा, जीवात्माओं के संग से प्रलयावस्था में प्रकृति के अन्दर भोक्तृधर्म की आपत्ति न हो तो इस प्रकार प्रकृति के साथ कार्य का भी अन्यत्व=भिन्नत्व होजावे। इस विषय में कहते हैं—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः॥ १४॥

(तदनन्यत्वम्) उस प्रकृति के साथ कार्य का अन्यत्व=भेद नहीं होता। क्योंकि (आरम्भणशब्दादिभ्यः) आरम्भण शब्दादि प्रयोग वाले वचनों से सिद्ध होता है—"**यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्**" (छान्दो० ६।१।४।) अर्थात् जैसे एक मिट्टी के पिण्ड से समस्त मिट्टी वाले पदार्थ विज्ञात हो जाते हैं, वाचारम्भण=वाणी से बोले जाने वाले अर्थात् भिन्न-भिन्न नामों के विकार=कार्य हुआ करते हैं, मिट्टी ही सब के अन्दर सत्तारूप से रहती है। उसी भांति पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न विकाररूप पदार्थों का प्रकृति के साथ अनन्यत्व अर्थात् अभेद जानना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में भी कहा है "**कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः**" (वैशे० २।१।२४)= कारण के गुणों के अनुसार कार्य के गुण होते हैं, अतः जड़ जगत् का प्रकृति नामक जड़ उपादान कारण है॥ १४॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

(भावे च-उपलब्धेः) कार्य के कारण से अभिन्न होने में यह दूसरा हेतु है कि भाव अर्थात् कारण के होने पर कार्य की उपलब्धि देखी जाती है, मिट्टी के होने पर घड़ा उत्पन्न होता है, तन्तुओं के होने पर ही वस्त्र बनता है। यदि कारण न होने पर कार्य हो जावे तो मिट्टी न होने पर घड़ा, तन्तुओं के न होने पर वस्त्र हो जाया करे, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य का अपने कारण के साथ अन्यत्व अर्थात् भिन्नता नहीं है। अतएव कहा गया है—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६।१२) "**कारणभावात्कार्यभावः**" (वैशे० ४।१।३) ॥ १५ ॥

और भी हेतु—

सत्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

(अवरस्य सत्वात्-च) वस्तुतः कारण अपने से अवर अर्थात् अर्वाक्कालीन कार्य का सत्त्व आत्मा है उसी के आश्रित भिन्न-भिन्न रूप से विकार होता रहता है। जैसे कड़े आदि आभूषण कार्य वस्तुएं विकार को प्राप्त होती हुई अपने कारण रूप स्वर्ण के आश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी भांति प्रकृति के आश्रित पृथिवी आदि कार्य वस्तुएं होती हैं। इस हेतु कार्य का अपने उपादान कारणों के साथ अन्यत्व अर्थात् भेद नहीं होता ॥ १६ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

(असद्व्यपदेशात्-न-इति चेत्) जो यह कहा है कि कारण-वस्तु कार्य का सत्त्व होने से कार्य उससे अभिन्न नहीं होता, यह ठीक नहीं है। जबकि सृष्टि से पूर्व 'असत्' होने का व्यपदेश=व्यवहार मिलता है—"**असदेवेदमग्र आसीत्**" (छान्दो० ३।१९।१) इस प्रकार वर्णन से कार्य का कारण से अन्यत्व नहीं होता, यदि कहा जावे तो (न) यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि (धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्) उक्त वचन में असत् का व्यपदेश कारण के प्रतिषेधार्थ नहीं है किन्तु कार्य के धर्मान्तर=रूपान्तर के ज्ञापनार्थ है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व निज व्यक्तरूप में नहीं होता है किन्तु उस समय व्यक्तरूप को छोड़कर असद्रूप अर्थात् अव्यक्तरूप या कारण रूप से वर्तमान रहता है। यह बात वाक्य-शेष से स्पष्ट होती है। वहां वाक्य का शेष अर्थात् भाग प्रमाण है—"**तत्सदासीत्**" (छान्दो० ३। १९।१)=वह कार्य जो असद्रूप था वह अभावरूप नहीं था किन्तु अव्यक्त नामक कारणरूप प्रकृतिरूप था ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

(युक्तेः शब्दान्तरात्-च) युक्ति से भी कार्य का कारण से अभिन्न होना सिद्ध होता है। मिट्टी से घड़ा और दूध से दही बन जाता है न कि दूध से घड़ा और मिट्टी से दही किसी प्रकार भी उत्पन्न होता है। तथा शब्दान्तर अर्थात् प्रमाणान्तर=अन्य शास्त्रीय प्रमाण से भी सिद्ध होता है—"**नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्**" (सांख्य० १। ११४)=असत् की उत्पत्ति नहीं होती है मनुष्य के सींग की भांति। तथा "**कारणात्कार्यभावः**" (वैशे० ४। १। ३) कारण से ही कार्य होता है। अतः कार्य अपने कारण से अभिन्न ही रहता है॥ १८॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

(पटवत्-च) सूत्र में "च" शब्द प्रकार अर्थ में है। पट अर्थात् वस्त्र की भांति, जैसे ही वस्त्र अपने कारणरूप वस्तुओं से अभिन्नरूप धर्म को प्राप्त हुआ होता है, इसी प्रकार घड़ा, दही आदि अपने-अपने कारण से अभिन्न धर्म वाले होते हैं॥ १९॥

यथा च प्राणादि ॥ २० ॥

(यथा च प्राणादि) और जैसे प्राण आदि अर्थात् प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान ये मुख्य प्राण से भिन्न नहीं होते किन्तु मुख्य प्राण के ही भेद हैं, जैसा कि प्रश्नोपनिषद् में कहा है—"**तान् वरिष्ठः प्राण उवाच...... अहमेव पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि**" (प्रश्नो० २। ३) अर्थात् उन समस्त प्राणों, इन्द्रियों को मुख्य प्राण ने कहा—मैं ही अपने को पांच प्रकार का प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, विभक्त करके इस शरीररूप बोझ को उठा रहा हूँ। इसी प्रकार पृथिवी आदि जगत् भी उपादान प्रकृति से अभिन्न धर्म वाला है॥ २०॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

(इतरव्यपदेशात्) "**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ**" (कठो० २। २। ५) "**अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**" (छान्दो० ६। ३। २) इन वचनों में शरीर के अन्दर प्राण धारण करने वाले जीव से इतर अर्थात् भिन्न परमात्मा का वर्णन है, अतः (हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः) हित के न करने और अहित के करने रूप दोष का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि इस घोर संसार में जन्म-मरण महादुःख है और जन्म-मरण के बीच में नाना प्रकार

के बहुतेरे दु:ख हैं, कहा भी है—"**विविधबाधनायोगाद् दु:खमेव जन्मोत्पत्तिः**" (न्याय० ४।१।५५) वह ऐसा परमात्मा भी जीवात्मा के साथ प्राण सञ्चालनार्थ शरीर के अन्दर व्याप्त हुआ समस्त दु:खों को प्राप्त होगा। यह पूर्वपक्ष है॥ २१॥

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर—

अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥ २२॥

(अधिकं तु) पूर्वोक्त दोष का प्रसङ्ग नहीं आता है क्योंकि जीवात्मा से ऊपर उत्कृष्ट ब्रह्म कहा जाता है। (भेद-निर्देशात्) भेद के निर्देश से। ब्रह्म का वर्णन जीवात्मा से भिन्न प्रकार का होने से। भेद से जो वस्तु कही जाती है वह अन्य ही हुआ करती है जबकि परमात्मा जीवात्मा से अन्य है, तब वह जीवात्मा के सुख-दु:ख का भागी नहीं हो सकता॥ २२॥

एक ही अवकाश में परमात्मा जीवात्मा दोनों का समावेश कैसे सम्भव हो सकता है? उनमें एक कर्त्ता-भोक्ता हो और दूसरा कर्तृत्व-भोक्तृत्व के संसर्ग से रहित हो। इस विषय में कहते हैं—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः॥ २३॥

(अश्मादिवत्-च तदनुपपत्तिः) जैसे पत्थर आदि, पत्थर, लोहे, सोने के अन्दर प्रविष्ट हुआ अग्नि, पत्थर, लोहे, सोने के साथ एक अवकाश में रहता है। इसी भांति परमात्मा भी जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ रहता है। कहा भी है—"**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते**" (ऋ० १।१३४।२०) अर्थात् जीवात्मा परमात्मा एक ही वृक्षरूप संसार या शरीर में रहते हैं। और भी जैसे पत्थर आदि का भारी आदि होना धर्म-प्रसङ्ग अग्नि में नहीं आता, उसी प्रकार जीवात्मा के कर्त्ता-भोक्ता आदि होने का धर्म-प्रसङ्ग परमात्मा में नहीं आता, जैसा कि पूर्व कहे मन्त्र में भी स्पष्ट है—"**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**" (ऋ० १।१६४।२०) अर्थात् जीवात्मा परमात्मा दोनों के बीच में जीवात्मा तो स्वाद में कर्मफल भोगता है और परमात्मा फल भोग से रहित हुआ साक्षीरूप में वर्तमान रहता है॥ २३॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि॥ २४॥

(उपसंहारदर्शनात्-न-इति चेत्) उपसंहार=उपसंग्रह अर्थात् कर्त्ता से अतिरिक्त साधनसंग्रह के दर्शन से जैसा कि घड़े के निर्माण में कर्त्ता कुम्हार से अतिरिक्त दण्ड, चक्र आदि साधन-संग्रह दृष्ट होता है उसी प्रकार जगत्

की रचना में परमात्मा भी अपने से भिन्न साधन-संग्रह को अपेक्षित करे, यदि यह कहा जाए तो (न क्षीरवत्-हि) यह कहने योग्य नहीं है, यह दोष नहीं आता, क्योंकि यह जगत् का रचना-कार्य क्षीर अर्थात् दूध की भांति है। जैसे ही गौ का स्वामी या ग्वाला गौ को लेकर दुग्ध स्रावित करता है, उसी भांति परमात्मा भी प्रकृति को लेकर जगत् का सर्जन करता है ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

(देवादिवत्-अपि लोके) देव आदि सिद्ध विद्वान्, योगीजन जैसे बाहरी साधन के बिना योग आदि के बल से अनुपस्थित या दूर वस्तु का ज्ञान और उपयोग लोक में करने को समर्थ होते हैं उसी भांति परमात्मा भी निज शक्ति-योग से प्रकृति को विविध रूप में परिणत कर देता है ॥ २५ ॥

पूर्वपक्ष को उठाता है—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

(कृत्स्नप्रसक्तिः) परमात्मा यदि बाहरी साधनों की अपेक्षा न रख कर जगत् को रचता है तो कृत्स्न अर्थात् समस्त साधनों अर्थात् किसी भी साधन की अपेक्षा न रखने का प्रसङ्ग आता है, तब प्रकृति की अपेक्षा भी न रहेगी। तथा (निरवयवत्वशब्दकोपः-वा) परमात्मा को निरवयव शब्द प्रमाण से कहा गया है, उस शब्द प्रमाण का कोप अर्थात् बाधन हो जावे। परमात्मा निरवयव कहा गया है, यथा—"**निष्कलं निष्क्रियं......**" (श्वेता० ६।१९) "**अस्थूलमनणु......**" (बृह० ३।८।८) ॥ २६ ॥

समाधान करते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

(श्रुतेः-तु) कृत्स्न साधनों की अनपेक्षा=सर्वथा साधन रहित होने के दोष-प्रसंग का अवकाश नहीं है और न ही परमात्मा के निरवयव होने का बाधन होता है, क्योंकि श्रुति जनाती है कि परमात्मा प्रकृति को जगद्रूप में परिणत कर देता है—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६।१२) यह उपनिषद्-श्रुति प्रकृति को साधनरूप में सूचित करती है। इस उपनिषद् श्रुति के (शब्दमूलत्वात्) शब्द अर्थात् वेद, शब्दमूलक प्रमाण करने योग्य हुआ करता है। वेद में "**तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥**" (ऋ० १०।१२९।३) इस मन्त्र में जगत् से पूर्व जगत् के कारण अव्यक्त को तुच्छ-रूप में एकदेशी रूप में परमात्मा के सम्मुख

वर्तमान हुआ "**आभु**" नाम से कहा गया है और "**योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्**" (ऋ० १०।१२९।७)=जिस तुच्छरूप "आभु" नाम के अव्यक्त से इस जगत् की वह परमात्मा रचना करता है वह उस अव्यक्त का अध्यक्ष-स्वामी है, यह यहां शब्दमूलतत्त्व है। ऐसे सब परोक्ष विषयों में वेद प्रमाण हुआ करता है, अतः पूर्वोक्त दोष-प्रसङ्ग नहीं आता॥ २७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च॥ २८॥

(आत्मनि च-एवं विचित्राः-च) सब के आत्मरूप परमात्मा में तो ऐसे विचित्र प्रभाव या गुण हैं उसके सर्वशक्तिमान् होने से कि वह बाहरी उपकरणों के बिना प्रकृति को द्रवित कर दे, जगत् के रूप में परिणत कर दे॥ २८॥

स्वपक्षदोषाच्च॥ २९॥

(स्वपक्षदोषात्-च) स्वपक्ष अर्थात् पूर्वपक्ष अर्थात् प्रकृति जगत् का स्वतन्त्र कारण है, यह पक्ष दूषित हो जाता है, यदि प्रकृति से भिन्न अन्य साधनों की अपेक्षा अभीष्ट हो॥ २९॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥ ३०॥

(सर्वोपेता च) परमात्मा का साधनभूत जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण प्रकृति है, वह प्रकृति सर्व उपकरण-युक्त है, उसमें आकाश काल दिशा भी अन्तर्भूत हैं। क्योंकि (तद्दर्शनात्) उसके इस प्रकार सर्वोपकरण वाली होने के प्रतिपादन से अथवा प्रकृति और उसके परिवार का प्रतिपादक दर्शन शास्त्र होने से "**प्रकृतेर्महान् महतो अहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि..... पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि........**" (सांख्य १।६१)=महत्तत्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र=सूक्ष्मभूत और स्थूलभूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ये सब प्रकृति के अन्तर्निहित होते ही हैं जो कि सृष्टिकाल में प्रकट हो जाते हैं॥ ३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्॥ ३१॥

(विकरणत्वात्-न-इति चेत्) अच्छा, आकाश, काल आदि से युक्त प्रकृति हो, दण्ड, चक्र आदि सहित मिट्टी की भांति साधन। परन्तु मिट्टी से घड़ा बनने में कुम्हार के हाथ, आंख आदि करण=अङ्ग भी होते हैं जिनके द्वारा कुम्हार मिट्टी से घड़े को बनाता है, किन्तु वैसा परमात्मा हाथ-आंख वाला नहीं है। उसे श्रुति=शास्त्र में करणरहित कहा गया है—"**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्**" (यजु० ४०।८) "**अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः**" (बृह०

३।८।८) अर्थात् परमात्मा कायरहित=इन्द्रियों के निकायों=गोलकों से रहित आंख-कान आदि करणों से रहित है। वह इस प्रकार करण-रहित होता हुआ प्रकृति को जगत् के रूप में परिणत नहीं कर सकता है, ऐसा यदि कहा जाए तो (तत्-उक्तम्) वह पीछे कह दिया गया है, उसका समाधान कर दिया गया है कि "**श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्**" (वे० २।१। २७)=उपनिषद् श्रुति=वेदमूलक होने से प्रमाण है। करणरहित होता हुआ भी परमात्मा करणशक्ति वाला है। कहा ही है—"**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्**" (ऋ० १०।८१।३, यजु० १७। १९) "**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**" (श्वेता० ३।१९)=परमात्मा सब ओर आंखों वाला, सब ओर मुख वाला, सब ओर भुजाओं वाला, सब ओर पैरों वाला कहा गया है। वह उन-उन अङ्गों या करणों की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण ही सब ओर आंख, मुख, भुजा पैरों वाला कहा गया है तथा करणरूप पैरवाला न होकर सर्वत्र गतिशील है अर्थात् पहुंचवाला है, करणरूप हाथों से रहित सर्वत्र पकड़ने की शक्तिवाला है, ऐसा कहा है॥ ३१॥

शङ्का करते हैं—

न प्रयोजनवत्त्वात्॥ ३२॥

(न) परमात्मा जगत् का कर्ता सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (प्रयोजन-वत्त्वात्) जो-जो कोई कर्ता होता है वह प्रयोजनवान् होता है=प्रयोजन को लेकर होता है, जैसे कहते हैं कि प्रयोजन के बिना मन्दबुद्धि भी प्रवृत्त नहीं होता। जगत् की रचना में परमात्मा का प्रयोजन नहीं है, उसके कामनारहित और नित्यतृप्त आनन्दस्वरूप होने से, जैसा कि कहा गया है "**अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः**" (अथर्व० १०।८। ४४) "**आनन्दरूपममृतं यद् विभाति**" (मुण्डो० २।२।७) इन वचनों में परमात्मा को अकाम=कामनारहित, रस से तृप्त=आनन्द से तृप्त=आनन्दरूप कहा गया है॥ ३२॥

समाधान करते हैं—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥ ३३॥

(लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्) यह ठीक है कि जगत् की रचना में परमात्मा का अपना कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु लोकवत्=जनवत् उसकी लीला का प्रदर्शनमात्र होता है। जैसे ही महात्मा महानुभाव जन स्वप्रभाव का प्रदर्शन लोकहितार्थ करते हैं न कि स्वार्थ=अपने अर्थ=अपने लिए।

वैसे ही परमात्मा भी जगत् को रचकर अपना कर्तृत्व आदि प्रभाव प्रदर्शन लोकवत्=लोकहितार्थ=जनहितार्थ करता है कि जन उसके कर्तृत्व, व्यापकत्व अनन्तत्व, विश्वात्मत्व आदि गुणों अर्थात् कर्ता व्यापक, अनन्त, विश्वात्मा आदि गुणवाला जानकर उसे प्राप्त करे। अथवा "**लीलाकैवल्यम्**"=कैवल्य की लीला[1], कैवल्य अर्थात् मोक्ष की लीला=संश्लेष करानेवाली, उधर झुकानेवाली, प्रवृत्त करानेवाली[2] अर्थात् मोक्षार्थ लोकवत् है। जैसे ही लोक में स्वप्रयोजन के अभाव में परप्रयोजनार्थ मार्ग-निर्माण, मार्ग-प्रदर्शन आदि कर्म किए जाते हैं। अथवा 'लोकवत्' प्रयोग मतुप् प्रत्ययान्त है, तब जगद्रचना न स्वप्रयोजनवत्=स्वप्रयोजनवाली नहीं है किन्तु लोकवत् अर्थात् लोक को अभिलक्षित करके=लोक प्रयोजनवाली जाननी चाहिए। जैसा कि कहा है—"**तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्** (योग० १।२५ व्यासः) अर्थात् परमात्मा का ऐश्वर्य अपने लाभ के अभाव में भी प्राणियों का लाभ प्रयोजन है ॥ ३३ ॥"

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

(वैषम्यनैर्घृण्ये) जगत् में विषमता और निर्दयता के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। कोई अत्यन्त सुखसम्पन्न है और कोई महादुःखभागी है। यह विषमता है, तथा कोई जन सर्वाङ्गपूर्ण और कोई विकलांग=गलितांग है, यह निर्दयता है। इस प्रकार तो परमात्मा के जगत्-कर्ता होने में इन दो दोषों का प्रसंग आता है, यदि ऐसा कहा जाय तो (न) उक्त दोष परमात्मा में नहीं आ सकते क्योंकि (सापेक्षत्वात्) यह इस प्रकार की रचना सापेक्ष है=सनिमित्त है, उस निमित्त को लेकर विविध रचना परमात्मा करता है। निमित्त है जीवों का अपना-अपना कर्म (तथा हि दर्शयति) इसी प्रकार श्रुति दर्शाती है—"**पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्**" (प्रश्नो० ३।७) "**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन**" (बृह० ३।२। १३) "**कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम्**" (सांख्य ६।४१) इन वचनों में स्पष्ट कहा गया है कि पुण्य कर्म से पुण्य लोक और पाप से पाप लोक को प्राप्त करता है तथा पुण्य से कल्याणवान् और पाप से दुःखभागी बनता है। कर्म की विभिन्नता से रचना भी भिन्न-भिन्न होती है। इस प्रकार ईश्वर के द्वारा कर्म को अपेक्षित करके विविध रचना होने से परमात्मा पर दोष नहीं

---

१. "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २।२।३१)
२. "ली श्लेषणे" (दिवादि० क्रयादि०) "ली द्रवीकरणे" (चुरादि०)

आता ॥ २४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्न, अनादित्वात् ॥ ३५ ॥

(न कर्म-अविभागात्-इति चेत्) जगत् की विविध रचना में कर्म निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि से पूर्व अविभाग होने से अर्थात् सृष्टि से पूर्व जीवात्मा शरीरयुक्त नहीं थे, शरीर के विना कर्म नहीं होता है, तब उस समय तो वे परमात्मा के अन्दर अविभाग रूप से=तादात्म्य को प्राप्त हुए हुए थे, ऐसा यदि कहा जाय तो (न) ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि (अनादित्वात्) जीवात्माओं के अनादि होने से उनका कर्म भी अनादि है केवल यही जगत् नहीं है किन्तु पूर्व भी था, जगत् तो प्रवाह से प्रवर्त्तमान है जैसा कि वेद में कहा है—"**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**" (ऋ० १०।१९०।३) अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा को परमात्मा ने पूर्व सृष्टि की भांति बनाया। अत: कर्म को अपेक्षित करके विविध जगत् की रचना करने में परमात्मा के अन्दर दोष नहीं आता।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में "**अनादित्वात्**" इस शब्द का "अनादित्वा-त्संसारस्य" संसार का अनादि होना अर्थ किया है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि संसार स्वरूप से अनादि नहीं। जगत् के वैषम्य, नैर्घृण्य दोष के परिहारार्थ यह समाधान उचित नहीं, क्योंकि जब तक जीवात्माओं को अनादि स्वीकार न किया जाए तब तक उक्त दोष का परिहार नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवात्माएं अनादि न स्वीकार किए जाएं तो "**वैषम्य-नैर्घृण्य......**" इस सूत्र पर शाङ्करभाष्य में समाधानार्थ "**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन**" (बृह० ३।२।१३) दिया प्रमाण वचन संगत नहीं होता। और भी शाङ्करभाष्य में कहा गया है—"**स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषाक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वं च दर्शयति**" (शाङ्करभाष्य) इस शाङ्करवचन से भी प्राणी अर्थात् जीवात्माएं अनादि हैं जिनका कि कर्म जगत् की विविधता में अपेक्षित है, अत: "**न कर्म.....**" इस सूत्रप्रसंग में संसार का अनादि कथन करना शाङ्करभाष्य में असंगत है ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

(उपपद्यते-च-अपि-उपलभ्यते च) जीवों के कर्म का अनादित्व उपपन्न होता है=युक्ति से सिद्ध होता है, अतएव उसका सर्वांग और विकलांग होना विविध सृष्टि-रचनकार्य उपलब्ध होता है। वेद में कहा है—"**द्वा**

सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'' (ऋ० १।१६४।२०) यहां जीवात्मा के अनादि होने के साथ भोगरूप फल के प्रदर्शन से कर्म का अनादि होना कहा गया है, कर्मप्रवृत्ति संस्कारों से होती है, संस्कार या वासना भी कर्मों के लिये अनादि कही गई है—''**अनादि-कर्मक्लेशवासनाविचित्रा**'' (योग० २।१ व्यास) ॥ ३६ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

(सर्वधर्मोपपत्तेः-च) इस सूत्र के द्वारा महर्षि व्यास सृष्टिरचना विषय का उपसंहार करते हैं कि जगत्-रचना कार्य में परमात्मा ही केवल कारण नहीं किन्तु इस प्रकरण में समस्त धर्मों की उपपन्नता के होने पर जगत्-रचना का सम्भव है अर्थात् परमात्मा निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीवात्माओं का कर्म तथा उनका फल भोग और संस्कार भी जगत् रचना में आवश्यक हैं ॥ ३७ ॥

दूसरे अध्याय का प्रथम पाद समाप्त।

द्वितीय पाद

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

(न-अनुमानम्) जैसा कि पूर्व पाद के अन्तिम समीपी सूत्र ''**सर्वधर्मोपपत्तेश्च**'' (२।१।३७) में कहा है कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है और उसी से अधिकृत=उसके अधीन प्रकृति जो उपादान कारण है वह अनुमान वस्तु है अर्थात् अनु=पश्चात् मान=निर्माण क्रिया में विकृत की जाने वाली वस्तु है। वह जगत्-रचना में स्वतन्त्र कारण नहीं है, क्योंकि (रचनानुपपत्तेः-च) रचना के अनुपपन्न होने से=न बन सकने से, प्रकृति जड़ है, जड़ स्वयं विकार को प्राप्त नहीं होती जो उससे जगत् की रचना हो जावे। मिट्टी भी घड़ा आदि रूप होने में चेतन कुम्हार निमित्त कारण को अपेक्षित करके विकृति को प्राप्त होती है। सूत्र में ''च'' शब्द प्रकृति के जगत् कारण होने में तर्कबल से स्वतन्त्रता के प्रतिषेध के समुच्चयार्थ है ॥ १ ॥

प्रकृति में प्रवृत्तिशक्ति है, उस शक्ति से वह जगत् रूप को स्वयं धारण कर सकती है। इस विषय में कहते हैं—

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

(प्रवृत्तेः—च) "च" शब्द से पूर्व सूत्र से न का अनुवर्तन है। जड़ प्रकृति में प्रवृत्ति सम्भव नहीं क्योंकि प्रवृत्ति चेतन का धर्म है, प्रवृत्ति तो ज्ञानपूर्वक होती है, ज्ञान से शून्य जड़ प्रकृति जीवों के भोग के लिये भिन्न भोग पदार्थों में उनके अनुसार कैसे परिणत हो सकती है। लोक में देखा जाता है कि जो व्यक्ति अन्य के लिए प्रवृत्त होता है, अपने को समर्पित करता है, वह चेतन धर्म से युक्त होता है, जैसा कि वर के लिए वधू या वधू के लिए वर, गुरु के लिए शिष्य, स्वामी के लिए भृत्य, महात्मा के लिए भक्त और उपास्य के लिए उपासक। अतः प्रकृति जड़ होने से स्वतन्त्रता पूर्वक अपने को प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं॥ २ ॥

यहां पर शाङ्करभाष्य में जगत् की रचना के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कहा है कि "साऽपि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च, न हि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वाऽनधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते" (शाङ्करभाष्यम्)=वह प्रवृत्ति भी अचेतन प्रकृति के अन्दर स्वतन्त्र नहीं बन सकती, मिट्टी आदि तथा रथ आदि में न देखे जाने से। मिट्टी आदि या रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए चेतन कुम्हार आदि और घोड़े आदि के द्वारा अधिष्ठित न होकर विशिष्ट कार्य में प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते हैं। इस प्रकार कथन से अचेतन प्रकृति की जगत्-रचना में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं होती, परतन्त्र अर्थात् परमात्मा के अधीन प्रकृति की प्रवृत्ति होती है। इससे प्रकृति को शाङ्करभाष्य में स्वीकार किया गया है।

क्यों जी! जैसे बछड़े के लिए दूध स्वयं प्रवृत्त होता है, या जैसे नदीरूप में जल स्वयं पर्वतों से प्रवृत्त होता है, उसी भांति प्रकृति भी जगत् होने के लिए स्वयं प्रवृत्त हो सके। इस विषय में कहते हैं—

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

(पयोऽम्बुवत्-चेत्-तत्र-अपि) दूध और जल के दृष्टान्त से प्रकृति के प्रवृत्त होने की बात यदि कही जाए तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां भी अर्थात् दूध और जल के दृष्टान्त में भी दूध और जल में प्रवृत्ति का निमित्त चेतन है, वह चेतन के द्वारा है, दूध और जल की प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं है। दूध का प्रवृत्त होना चेतन गौ के अधीन है, गौ ही बछड़े के लिए दूध को प्रवृत्त करती है और जल का नदियों के रूप में प्रवृत्त होना तो परमात्मा के

अधीन कहा गया ही है—"**एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते**" (बृह० ३।८।९)=याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि हे गार्गि! इस अक्षर नामक परमात्मा के प्रशासन में नदियां बहती हैं, वह उन्हें बहाता है॥ ३॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥ ४॥

(अनपेक्षत्वात्) निमित्त कारण परमात्मा के अपने से भिन्न की अपेक्षा न होने से (व्यतिरेकानवस्थितेः—च) व्यतिरेक अर्थात् प्रवृत्ति से भिन्न निवृत्तिरूप प्रलय या प्रकृतिभाव। यदि तो प्रकृति स्वभावतः जगत् के रूप में परिणत हो जाए तब उसका निवर्त्तन अर्थात् पुनः प्रकृतिभाव=अवस्थिति न हो सके=प्रकृतिरूप में न आ सके, क्योंकि जड़ की स्वभावतः प्रवृत्ति और फिर निवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे पर्वत से नदी प्रवृत्त होती है, वह फिर पर्वत के प्रति निवृत्त नहीं होती। और भी प्रकृतिरूप के अनवस्थित दोष से यह मन्तव्य ठीक नहीं कि प्रकृति जगत् का स्वतन्त्र कारण है।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है। वहां व्यतिरेक का अर्थ प्रकृति से भिन्न उसका प्रवर्त्तक और निवर्त्तक पदार्थ कल्पित किया है—"**न तु तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्त्तकं निवर्त्तकं वा किञ्चिद्-बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति**" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् प्रकृति से भिन्न उसका प्रवर्त्तक या निवर्त्तक कोई बाह्य वस्तु अपेक्षणीय अवस्थित नहीं है। यह व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति से भिन्न परमात्मा तो अपेक्षणीय पूर्व से ही प्रतिसूत्र कहा जा रहा है। इस प्रकार गौरवदोष भाष्य में आ जाता है कि जो प्रकृति से भिन्न प्रवर्तक और निवर्तक व्यतिरेक शब्द से कल्पित किया है। यहां निवर्तक का प्रसंग नहीं। वस्तुतः "**प्रवृत्तेश्च**" (२) सूत्र से प्रवृत्ति का प्रसंग चला है, "**पयोऽम्बुवत्तत्रापि**" (३) इस सूत्र में भी प्रवृत्ति का प्रसङ्ग है। यह बात शाङ्करभाष्य में भी कही है "**तत्रापि पयोऽम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे**" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् चेतन के अधीन हुए-हुए ही दूध और जल की प्रवृत्ति का अनुमान करते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र में व्यतिरेक शब्द से प्रवृत्ति का व्यतिरेक अर्थात् निवृत्ति यहां सूत्र में अभीष्ट है॥ ४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्॥ ५॥

(च) और प्रकृतिनामक अव्यक्त तृण आदि की भांति जगत् के रूप में स्वतन्त्र परिणत नहीं होती है। जैसे ही तृणादि गौ आदि के द्वारा खाया हुआ दूधरूप में स्वयं परिणत हो जाता है, उसी भांति प्रकृति भी स्वयं ही

जगत् के रूप में परिणत हो जावे, यदि यह कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि (अन्यत्राभावात्) तृणादि निरपेक्ष=स्वतन्त्र दूध के रूप में परिणत नहीं होता, क्योंकि गौ, महिषी, बकरी आदि से अन्यत्र बैल, भैंस, बकरे आदियों के द्वारा खाया हुआ तृणादि दूधरूप में परिणत नहीं होता॥ ५ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्॥ ६ ॥

(अभ्युपगमे-अपि) प्रकृति के अन्दर जगत् की रचना के लिए अनपेक्षित=स्वाभाविक प्रवृत्ति के स्वीकार करने पर भी दोष आता है, उसके द्वारा जगत्-रचना सम्भव नहीं है, क्योंकि (अर्थाभावात्) अचेतन प्रकृति में प्रयोजन के अभाव से अचेतन वस्तु का अपना प्रयोजन कुछ नहीं होता है और पर-प्रयोजन को जान नहीं सकती है, अतः उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का कहना और स्वीकार करना युक्त नहीं॥ ६ ॥

अचेतन वस्तु में स्वप्रयोजन के लिए प्रवृत्ति न हो किन्तु पर प्रयोजन के लिए तो देखने में आती है। जैसे पुरुष के शरीर से शल्य=लोह फलक आदि बाहर निकालने के लिए अयस्कान्त की प्रवृत्ति है, उसी भांति प्रकृति की भी प्रवृत्ति जीवों के भोग के लिए सम्भव है। इस विषय में कहते हैं—

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि॥ ७॥

(पुरुषाश्मवत्-इति-चेत्) पुरुष-शरीर अर्थात् प्राणी-शरीर से शल्य निकालने के लिए अश्म=अयस्कान्तमणि की अयस् अर्थात् लोहे के चलाने की प्रवृत्ति जैसे होती है वैसे प्रकृति में भी जीवों के भोग-सम्पादनार्थ प्रवृत्ति हो, यदि यह कहा जाए (तथा-अपि) तो भी पूर्वोक्त दोष बना रहता है क्योंकि अयस्कान्तमणि में तो वह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, उससे रहित अयस्कान्त मणि नहीं होती। प्रकृति में तो वह प्रवृत्ति निरन्तर स्वीकार नहीं की जाती किन्तु कभी प्रवृत्ति और कभी निवृत्ति रहती है। और प्रलयकाल में जीवात्माओं का संग होने पर भी प्रकृति प्रवृत्त नहीं होती है किन्तु परमात्मा की रचनाशक्ति को उपेक्षित करती है। जब ही जगत् का निर्माता परमात्मा प्रकृति को अपनी ईक्षणशक्ति से देखता है या अपनी रचनाशक्ति का उसमें प्रसार करता है तब ही प्रकृति जगत् के रूप में परिणत होती है= जगत् के रूप में होने की उसमें प्रवृत्ति होती है, न कि स्वतः या स्वभावतः। इस प्रकार प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को नियम से परमात्मा प्रेरित करता है, क्योंकि जड़ में परस्पर-विरोधी दो धर्म किसी दूसरे चेतन के विना नहीं हो सकते॥ ७॥

जीवात्माएं उस अव्यक्त प्रकृति के अङ्गी हैं और प्रकृति उनका शरीर

है। जैसे लोक में शरीर की प्रवृत्ति अंगी=शरीरी जीव के भोग साधनार्थ होती है, उसी भांति समस्त आत्माओं के शरीररूप अव्यक्त प्रकृति की प्रवृत्ति भी उनकी भोगसाधनार्थ सम्भव है, इसके उत्तर में कहते हैं—

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च॥ ८॥

(अङ्गित्वानुपपत्तेः—च) ऐसा कथन करने पर भी अव्यक्त प्रकृति में जगत्-रचना की प्रवृत्ति नहीं घटती, क्योंकि जीवात्माएं उसके अङ्गी नहीं हैं, वे तो उसके भोक्ता हैं। भोक्ता ही अङ्गी हों यह बात युक्त नहीं, क्योंकि कोई भी भोक्ता प्राणी निज भोग्य अन्नादि का अङ्गी नहीं होता और न अपने अङ्गों का भोक्ता होता है॥ ८॥

अच्छा हो, सत्त्व-रज-तम की अङ्गिनी प्रकृति हो और सत्त्व-रज-तम उसके अङ्ग हों, वह अपने सत्त्व-रज-तम गुण रूप अङ्गों का सञ्चालन करती है, जैसे कहा है—"**चलं गुणवृत्तम्**" (योग० ३। १३ व्यास)=उन गुणों में अङ्गिनी प्रकृति से प्रेरित चलन धर्म हो, इससे प्रकृति जगत्-रचना की स्वतन्त्र प्रवर्तिका है, ऐसा अनुमान किया जाये तो—

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्॥ ९॥

(अन्यथानुमितौ च) सत्त्व-रज-तम गुण चल हैं ऐसा लक्षित कर प्रकृति के अङ्गी होने का अन्यथा-अनुमान प्रसङ्ग ठीक नहीं, क्योंकि अन्यथा-अनुमान में इस बात की सिद्धि नहीं होती और न दोष से विमुक्ति होती है, क्योंकि (ज्ञशक्तिवियोगात्) प्रकृति में ज्ञातृशक्ति के अभाव से प्रकृति अचेतन है, वह सत्त्वादि गुणों में अधिष्ठाता का कार्य नहीं कर सकती और न ही उसके अन्दर सत्त्वादि गुणों को प्रवृत्त और निवृत्त करने की योग्यता है। अतः प्रकृति स्वतन्त्ररूप से जगत्-रचना करने के लिए योग्य नहीं है, किन्तु परमात्मा के अधीन ही जगत् की रचना में उपादान कारण है॥ ९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्॥ १०॥

(विप्रतिषेधात्-च-असमञ्जसम्) जगत् की रचना में प्रकृति के स्वतन्त्र कारणवाद में नास्तिकता का प्रसङ्ग आ जावे। तब नास्तिकता का विप्रतिषेध अर्थात् विपरीत प्रतिषेध=प्रतिवाद सुना जाता है—"**असन्नेव स भवति-असद् ब्रह्मेति वेद चेत्**" (तै०उ० २। ६) "**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्**" (गी० १८। ८)=ब्रह्मसत्ता नहीं है जो ऐसा मानता है वह असत् पुरुष है, तथा जो जगत् को ईश्वररचित नहीं मानता, उसका वचन असत्य और अश्रद्धेय है, इस प्रकार ईश्वर को अपेक्षित न करके जगत् की

रचना में प्रकृति का स्वतन्त्र मानना असमञ्जस है=अयुक्त है। अतः प्रकृति जगत् का स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु परमात्मा के अधीन उपादान कारण है। और परमात्मा निमित्त कारण है, ऐसा ही कहा गया है—"**एकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६। १२)=प्रकृतिरूप एक बीज को जो बहुत रूपों में कर देता है॥ १०॥

महद्दीर्घवद् वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥ ११॥

(वा) सूत्र में 'वा' शब्द सम्मुच्चयार्थ है। और (ह्रस्वपरिमण्डला-भ्याम्) ह्रस्व=द्व्यणुक और परिमण्डल=परमाणु इन दोनों के द्वारा स्वतन्त्रता से (महद्दीर्घवत्) महत् और दीर्घ परिमाण से युक्त त्र्यणुक आदि के क्रम से पृथिवी आदि जगत् उत्पन्न हुआ है, ऐसा मत भी उसी प्रकार असमञ्जस और अयुक्त जानना चाहिए, उनके जड़ होने और चेतन के सहाय से रहित होने के कारण॥ ११॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः॥ १२॥

(उभयथा-अपि-न कर्म) परमाणु में कर्म कैसे हो, यह प्रश्न है। उसके दो प्रकारों की सम्भावना है, एक तो अभिघात आदि से, दूसरे प्रयत्न से कर्म की निष्पत्ति होती है। आरम्भ में परमाणु के अन्दर दोनों प्रकार से कर्म सम्भव नहीं है, क्योंकि अभिघात=टक्कर या प्रेरणा विना निमित्त के नहीं होती और उस समय निमित्त कोई है नहीं, तथा प्रयत्न भी परमाणुओं में नहीं हो सकता, क्योंकि प्रयत्न आत्मा का लिङ्ग है=चेतन का धर्म है, वह प्रयत्न प्रकट नहीं हो सकता है। जब तक शरीरधारी आत्माएं जन्म धारण न करलें और उनके शरीर जगत् से पूर्व प्रकट नहीं होते, इस प्रकार प्रयत्न भी उसमें नहीं होता। प्रयत्न के अभाव से कर्म का अभाव रहेगा (अतः-तदभावः) अतः कर्म के अभाव से उन महत् परिमाण और दीर्घ परिमाण वाले द्व्यणुक आदि क्रम से प्रसिद्ध जगत् का अभाव रहेगा, अतः यह मत ठीक नहीं।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र पर लिखा है कि "इदानीं परमाणु-कारणवादं निराकरोति" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् इस समय परमाणु कारणवाद का निराकरण किया जाता है। शाङ्करभाष्य का यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस सूत्र में परमाणु कारणवाद का नाम भी नहीं है, किन्तु "ह्रस्वपरिमण्डला-भ्याम्" इस पूर्व सूत्र में परमाणु की चर्चा है। परन्तु वहां तो शाङ्करभाष्य में स्वपक्ष में लगा दिया कि जैसे ही परम सूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल-महान्

दीर्घ-द्व्यणुक आदि उत्पन्न होता है वैसे ही चेतन-अचेतन जगत् उत्पन्न हो सके। अतः शाङ्करभाष्य का व्याख्यान अयुक्त है॥ १२॥

अच्छा, जीवात्माओं के कर्म से निष्पन्न हुआ जो अदृष्टफलभोग संस्कार है वह जीवात्माओं के अन्दर समवाय सम्बन्ध से वर्तमान है, उसे लक्षित कर परमाणुओं में आद्यकर्म हो जावे। इस विषय में कहते हैं—

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः॥ १३॥

(समवायाभ्युपगमात्-च) और यदि जीवात्माओं में जो अदृष्ट का समवाय है, वह परमाणुओं में द्व्यणुक आदि क्रम से प्रसिद्ध पृथिवी आदि जगत् का कारण स्वीकार किया जावे तो (साम्यात्-अनवस्थितेः) उस समवाय की समानता से, सदा वर्तमान रहने से सृष्टि या प्रलय का अनवस्थादोषप्रसङ्ग आ जावे, सृष्टि और प्रलय नियम से न हो सकें किन्तु सृष्टि ही सदा रहे। तब कारणवाद की अनवस्था हो जावे, पुनः परमाणु भी सृष्टि के कारणता को प्राप्त न हो सके॥ १३॥

अनवस्थता दोष क्यों हो सके? क्यों नहीं नियम से अदृष्ट के समवाय से सृष्टि और प्रलय हुआ करें? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

नित्यमेव च भावात्॥ १४॥

(नित्यम्-एव च भावात्) जीवात्माओं के अन्दर अदृष्ट समवाय के नित्य वर्तमान रहने से सृष्टि नित्य रहेगी। अथवा (भावात्-नित्यम्-एव-च) भाव अर्थात् स्वभाव से जीवात्माओं का अदृष्ट समवाय होने से सृष्टि नित्य ही रहेगी। या अदृष्ट समवाय वाले जीवात्माओं का परमाणुओं का नित्य सहभाव होने से सृष्टि नित्य रहेगी, क्योंकि परमाणु भी नित्य हैं, जीवात्माएं भी नित्य हैं, दोनों के भाव अर्थात् सत्तारूप से वर्तमान होने के कारण अनवस्था दोष बना रहेगा॥ १४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्॥ १५॥

(रूपादिमत्त्वात्-च विपर्ययः-दर्शनात्) सूत्र में 'च' शब्द से रूपादिमान् होने और रूपादिरहित होने का ग्रहण है। वह जगत् रूपादि से युक्त है और परमाणु इसके कारण यदि स्वीकार किए जावें तो वे कैसे हैं, रूपादियुक्त हैं या रूपादि रहित हैं? यह प्रश्न है। यदि रूपादि वाले हैं तो उनका विपर्यय=नित्यता का विपर्यय अर्थात् अनित्यता सिद्ध हो जावे, क्योंकि जो-जो रूपादियुक्त है वह-वह अनित्य है। और यदि परमाणु रूपादिरहित हैं तो जगत् कैसे रूपादि वाला है, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं

होती। कहा ही है—"**कथमसतः सज्जायेत**" (छान्दो० ६।२।१-२) अर्थात् असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सके? असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, भाव से ही भाव उत्पन्न होता है। एवं विपर्यय दोष आने से जगत् की उत्पत्ति के लिए स्वतन्त्र परमाणु कारणवाद में दोष है॥ १५॥

अच्छा, तो परमाणुओं में दोनों धर्म होवें रूपादिमत्ता और रूपरहितता। पृथक्-पृथक् अवस्था में परमाणु रूपरहित हों और परस्पर सङ्गत हो जाने पर रूपादिसहित हों। जैसे कृष्णवर्ण भूमिवाले बड़े कमरे के अन्दर तोला भर फैलाए हुए रूई के अंशु रूपादिरहित होते हैं परन्तु जब झाड़ू से एकत्र किए जाएं तो परस्पर मिलकर रूपादि वाले हो जाते हैं। यदि अंश श्वेत हों तो मिलकर श्वेत प्रकट होते हैं, पीले हों तो मिलकर पीले प्रकट होते हैं। उसी प्रकार परमाणुओं में भी दोनों धर्म हो सकते हैं, अतः विपर्यय दोष नहीं आता। इस विषय में कहते हैं—

उभयथा च दोषात्॥ १६॥

(उभयथा च दोषात्) परमाणुओं में दोनों प्रकार के धर्म होना दोष के कारण युक्त नहीं। परमाणु जड़ हैं, जड़ वस्तुओं की परस्पर स्वतः सङ्गति नहीं हो सकती, जो सङ्गत होकर रूपादिमान् हो जाए। इस प्रकार स्वतन्त्र परमाणुकारणवाद में भी जगत्-रचना का अनुपपत्ति दोष तो रहता ही है, अतः जगत् की रचना के लिए स्वतन्त्र परमाणु कारणवाद ठीक नहीं॥ १६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा॥ १७॥

(अपरिग्रहात्-च-अत्यन्तम्-अनपेक्षा) वेदवेत्ता शिष्टजनों द्वारा यह स्वतन्त्र परमाणुकारणवाद परिगृहीत न होने=स्वीकृत न होने से इसकी अत्यन्त अनपेक्षा है, अर्थात् यह सर्वथा अनादरणीय है॥ १७॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥ १८॥

(समुदाये-उभयहेतुके-अपि) क्षणिकवादियों के मत में यह जगत् परमाणुओं का कार्य नहीं है, किन्तु बाह्य और आध्यात्मिक भूत एवं भौतिक चित्त एवं चैत्त समस्त दृश्य जगत् नाम से जो अन्यों के द्वारा कहा जाता है वह समुदायमात्र है। भूत और भौतिक तो परमाणुओं का समुदाय है, चित्त और चैत्तिक पञ्च स्कन्धों का समुदाय है। परमाणु तो खर=कठोर, स्नेह=पतला, उष्ण, ईरण=प्रगति स्वभाव वाले होकर भूत और भौतिक अर्थात् पृथिवी

आदि रूप में समुदाय को प्राप्त होते हैं। और पञ्चस्कन्ध तो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-संज्ञक होकर चित्त और चैत्त रूप में समुदाय को प्राप्त होते हैं। एवं ये दोनों प्रकार का दो हेतुओं वाला बाहरी भीतरी समुदाय अन्यजनों द्वारा जगत् कहा जाता है। इस प्रकार यह समुदायरूप मन्तव्य अनादरणीय है, क्योंकि (तदप्राप्तिः) उस समुदाय की अप्राप्ति अर्थात् असिद्धि है। इसलिए कि क्षणिकवाद में समुदाय का स्वरूप नहीं ठहरता क्योंकि समुदाय पहले और पिछले को अपेक्षित करके होता है, जबकि पूर्व परमाणु या स्कन्ध क्षणिक हो और पिछला परमाणु तथा स्कन्ध भी क्षणिक हो, तब कौन किसमें संगत हो=समुदाय को प्राप्त हो, एक ही क्षण में पहले और पिछले की अवस्थिति न होने से। वहां सङ्गति का अवसर नहीं है अकेले का समुदाय नहीं होता है किन्तु दो की सङ्गति ही समुदाय कहलाता है॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥ १९ ॥

(इतरेतरप्रत्ययत्वात्-इति चेत्) एक-दूसरे का कारण होने अर्थात् पूर्वपरमाणु या स्कन्ध पिछले परमाणु या स्कन्ध का समुदाय होने में कारण हो सकेगा। और वह अपने से पिछले का, इसी प्रकार वह अपने से पिछले का क्रम से कारण कहा जाए तो (न) यह ठीक नहीं (उत्पत्तिमात्र-निमित्तत्वात्) पूर्व परमाणु या स्कन्ध पिछले परमाणु या स्कन्ध का उत्पत्तिमात्र निमित्त हो, न कि उसके उत्पत्तिमात्र निमित्त होने में अन्य पिछले परमाणु या स्कन्ध का उत्पन्न होना तत्कालीन है। अतः अकेले परमाणु स्कन्ध का समुदाय होना नहीं बन सकता, इसलिए यह सिद्धान्त अनादरणीय है ॥१९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥ २० ॥

(उत्तरोत्पादे च) और उत्तरक्षणवर्त्ती परमाणु या स्कन्ध की उत्पत्ति में (पूर्वनिरोधात्) पूर्वक्षणवर्ती परमाणु या स्कन्ध का निरोध अर्थात् नाश हो जाता है क्षणिक होने से। अतः समुदायमात्र ही जगत् है अवयवी जगत् नहीं, यह क्षणिकवादियों का सिद्धान्त ठीक नहीं॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा॥ २१ ॥

(असति प्रज्ञोपरोधः) पूर्वक्षणवर्ती परमाणु या स्कन्ध न होने पर प्रतिज्ञा का उपरोध=बाध हो जावे कि पूर्व परमाणु या स्कन्ध उत्तर परमाणु या स्कन्ध का कारण है (अन्यथा यौगपद्यम्) उससे अन्यथा=पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु या स्कन्ध के विद्यमान होने पर दोनों पूर्व या उत्तर क्षण वाले

परमाणुओं या स्कन्धों की युगपत्ता=युगपद् होना=एक साथ होने का प्रसङ्ग आ जावे, यह क्षणिकवाद में दोष है; क्योंकि फिर क्षणिकवाद नहीं रहता। अत: क्षणिकवाद में जगत् की उत्पत्ति का सम्भव न होने से वह ठीक नहीं॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥ २२ ॥

(प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्ति:) क्षणिकवाद में जो प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध स्वीकार किए हैं उनकी प्राप्ति अर्थात् सिद्धि नहीं होती। प्रतिसंख्या अर्थात् ज्ञानबल से वस्तु का प्रत्याख्यान=भावात्मक वस्तु का ज्ञान-दृष्टि से अभाव स्वीकार कर जो निरोध है वह प्रतिसंख्या निरोध है। उसके विपरीत स्वाभाविक विनाश अप्रतिसंख्यानिरोध इन दोनों निरोधों अर्थात् दोनों प्रकार के विनाशों की असिद्धि क्षणिकवाद में है, क्योंकि (अविच्छेदात्) विच्छेद के अभाव से=विच्छेद के न बन सकने से। क्योंकि विच्छेद अवयवी का अवयवरूप में हो जाना है, क्षणिकवाद में तो अवयवी स्वीकार नहीं किया जाता, जबकि बुद्धि में अवयवी नहीं है। तब किसका विनाश अर्थात् किसी का नहीं, जबकि अवयवी रूप से कोई वस्तु उपस्थित नहीं, फिर उसका विनाश कैसे हो ? अथवा अविच्छेद से=विच्छेद के अभाव से=विच्छेद के अप्रसङ्ग से जबकि क्षणिकवाद में सब क्षणिक हैं, तब उनका विच्छेद प्रसङ्ग सम्भव ही नहीं, वह तो स्वत: दूसरे क्षण में रहते ही नहीं, किनका विच्छेद हो ? अथवा विच्छेद नहीं हो सकता क्षणिकवाद में, जबकि सान्तानिक उत्पादक-क्रम की सन्तति से क्रम की निरन्तरता से उत्पत्ति है, तब सन्तति-निरन्तरता एक दूसरे की निरन्तरता के विच्छेद का असम्भव है। और भी उत्पत्ति भावगोचर अर्थात् वस्तु को लक्ष्य करती है। भावों=वस्तुओं का अवयवरूप से विनाश हुआ करता है, पुन: उनका अवयवीभाव उत्पाद या उत्पत्ति है। क्षणिकवाद में अवयवी स्वीकार नहीं किया जाता है, परन्तु अवयवी भाव कभी झुठलाया नहीं जा सकता। जिसको मैंने देखा उसे मैं छूता हूँ, इस प्रकार स्मृति के बल से अवयवी का विच्छेद-नाश नहीं होता। अत: क्षणिकवाद में जगत् की उत्पत्ति और विनाश सम्भव न होने से वह अनादरणीय है॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात्॥ २३ ॥

(उभयथा च दोषात्) पूर्व सूत्र में कहे प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध क्षणिकवाद में जो माने जाते हैं यद्यपि उनकी असिद्धि दर्शा दी गई, तथापि उन्हें स्वीकार कर लिया जाए तो दोनों प्रकार से दोष

प्रसंग आता है, क्योंकि जो प्रतिसंख्यानिरोध स्वीकार किया जाता है वह तो ज्ञानदृष्टि से ज्ञान के द्वारा ही है। तब उस निरोध का हेतु ज्ञान है वह निर्हेतु नहीं है। यह क्षणिकवाद में अपसिद्धान्त, सिद्धान्त की विचलितता का दोष आगया है। और अप्रतिसंख्या निरोध स्वाभाविक स्वयं ही क्रमशः अभीष्ट है, तब समस्त दुःख क्षणिक है। यह भावनोपदेश या मार्गोपदेश अनर्थक हो जावे, इससे भी क्षणिकवाद ठीक नहीं॥ २३॥

आकाशे चाविशेषात्॥ २४॥

(आकाशे च-अविशेषात्) और आकाश के प्रसंग में भी वैनाशिकों=क्षणिकों के मत में दोष आ जाये, क्योंकि अविशेष अर्थात् समानता से प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध के कारण उनके मत की समानता से। वैनाशिक=क्षणिक आदि प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश इन तीन पदार्थों को अभावमात्र निरूपाख्य=अनिर्वचनीय और नित्य मानते हैं। जैसे ही प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध सिद्ध नहीं होते हैं ऐसे ही आकाश भी निरूपाख्य वस्तुरूप आवरण का अभाव है, यह सिद्ध नहीं होता। क्योंकि उसकी वस्तुसत्ता सर्वत्र शास्त्रों में वर्णित की है—**''तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।'' आकाशाद् वायुः** (तै० उ० २।१) इस वचन में आकाश की उत्पत्ति और आकाश से वायु की उत्पत्ति दिखलाई है। जो उत्पन्न होता है और जिससे उत्पन्न होता है वह वस्तुरूप होता है, अवस्तुरूप या अभाव नहीं होता। शब्द गुण वाला होना आकाश का लक्षण है। जैसे गन्धादि गुणवाले पृथिवी आदि द्रव्य हैं, उसी भांति आकाश भी शब्द गुणवाला होने से द्रव्य है अभाव नहीं; अतः आकाश अभावरूप अवस्तु या निरूपाख्य नहीं कहा जा सकता॥ २४॥

अनुस्मृतेश्च॥ २५॥

(अनुस्मृतेः-च) पूर्व प्राप्त या अनुभूत वस्तु का पश्चात् स्मरण अनुस्मृति या प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। अनुस्मृति या प्रत्यभिज्ञा से क्षणिकवाद ठीक नहीं है। यदि तो सब प्राप्त होनेवाली वस्तु क्षणिक हो या उसका प्राप्तकर्ता क्षणिक हो तो अनुस्मृति=प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती कि जिसे मैं देखता हूं उसे मैं छूता हूँ। अनुस्मृति=प्रत्यभिज्ञा होती ही है, अतः सब वस्तु क्षणिक नहीं और न उसका उपलब्ध करनेवाला क्षणिक है। दर्शन-क्षण में जो वस्तु दिखलाई पड़ती है, तो वह स्पर्शन-क्षण में अन्य हो जावे, उसके क्षणिक होने से, तब उसकी अनुस्मृति नहीं होनी चाहिए, वस्तु के भिन्न हो जाने से; दर्शन-स्पर्शन क्षण में उसका अन्यत्र स्वीकार करने से। और उसको प्राप्त

करनेवाला भी अनुस्मृति न कर सके उसके भी क्षणिक होने से। अन्य का अंगभूत अन्य स्मरण नहीं करता। अनुस्मृति को करता है अहम्=मैं शब्द के द्वारा, कि जिसको मैं देखता हूँ उसे मैं छूता हूँ। अतः क्षणिकवाद ठीक नहीं है ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

(न-असतः—अदृष्टत्वात्) पूर्वक्षणवर्ती वस्तु नष्ट हो जाती है, पश्चात् अगले क्षण में अन्य वस्तु उत्पन्न होती है, जैसे बीज भूमि में पड़कर पूर्व नष्ट होता है पश्चात् अंकुररूप में आता है। इस प्रकार युक्ति का अवलम्ब करके असत् अर्थात् अभाव या नाश से उत्पत्ति होती है, ऐसा यदि कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि असत् से सत् कभी उत्पन्न नहीं होता है, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि अदृष्ट होने से। अदर्शन से=अभाव से कहीं भी पदार्थ की उपलब्धि न देखने से, बीज के उपमर्दन=नाश के अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है। जो बीज उपमर्दित हुआ है, भूमि में पड़कर गला है, वही अंकुर का कारण बनता है। वह अंकुर की कारणता को नहीं त्यागता। यदि वह त्याग दे तो फिर उपमर्दित गेहूँ से कैसे गेहूँ उत्पन्न हुए ? क्यों न चने उत्पन्न हुए ? इसी प्रकार चने के उपमर्दन से चने ही क्यों उत्पन्न हों, गेहूँ क्यों नहीं ? अन्य बीज के उपमर्दन से अन्य अंकुर हो जाया करे, क्योंकि उपमर्दन तो सब का समान है। वस्तुतः वह उपमर्दन नाश या अभाव नहीं है किन्तु वह तो भूमि की रज-शक्ति से युक्त फूला हुआ बीज है, अंकुर के लिए बड़ा हुआ बीज है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। कारण के विनाश से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। वर्तमान तन्तुओं में वस्त्र और वर्तमान मिट्टी में घड़ा उत्पन्न हुआ करता है और अवर्तमान तन्तुओं में वस्त्र और अवर्तमान मिट्टी में घड़ा कभी उत्पन्न नहीं होता। बने हुए वस्त्र में तन्तु और बने हुए घड़े में मिट्टी वहां समवाय सम्बन्ध या समवायी कारणता से विद्यमान हैं ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

(उदासीनानाम्-अपि च-एवं सिद्धिः) यदि असत् से सत् अर्थात् अभाव से भाव उत्पन्न हो जाए, तब उदासीनों=न प्रयत्न करनेवाले मनुष्यों की भी कार्यसिद्धि या वस्तुसिद्धि हो जाया करे। जो जन खेत नहीं जोतते और न बीज बोते हैं उनके यहां भी स्वतः धान्यसिद्धि हो जाए। ऐसे ही जो कुम्हार नहीं हैं उनके यहां भी घड़े बनने लगें, और जो जुलाहे नहीं हैं उनके यहां भी वस्त्र बन जाया करें। ऐसी सिद्धि उनकी नहीं होती। अतः अभाव

से भाव उत्पन्न नहीं होता है, यह मन्तव्य ठीक है ॥ २७ ॥

अभाव कारणवाद का खण्डन कर दिया गया। अब सब अभावमात्र है, वस्तुप्रतीति बाहरी भावरूप नहीं किन्तु केवल भीतरी विज्ञानमात्र ही है इस सिद्धान्त का निराकरण करते हैं—

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

(न-अभावः) सब अभावमात्र है ऐसा नहीं, क्योंकि (उपलब्धेः) भावरूप से उपलब्ध होने के कारण। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भाव उपलब्ध होता है, उपलब्ध होने पर उसे अभाव नहीं कह सकते। और जो विज्ञान अन्दर उपस्थित होता है वह भी बाहरी भावरूप पदार्थ के विना सम्भव नहीं है, जबकि बाहर भावरूप नहीं, तब अन्दर किस का विज्ञान होगा? तब तो शून्यता ही प्रतीत हो न कि विज्ञान? विज्ञान करने वाला द्रष्टा और अन्तःकरण विज्ञान का साधन=दर्शन का कारण किसके हों जब कि बाह्य दृश्य न हो?

अच्छा, बाह्य भावरूप पदार्थ उपलब्ध हों किन्तु वे सत्य नहीं, स्वप्नादि की भांति कल्पित हैं, विज्ञान के बल से। इस विषय में कहते हैं—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

(न स्वप्नादिवत्) वे भावरूप जगत् के पदार्थ स्वप्नादि की भांति अर्थात् स्वप्न या माया की भांति नहीं हैं। क्योंकि (वैधर्म्यात्-च) विपरीत धर्म वाले कारण से। स्वप्न पदार्थों की जागरण काल में, माया पदार्थों की व्यवहार काल में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्ति नहीं होती। किन्तु उनसे भिन्न अवस्था वाले पदार्थों की तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्धि होती ही है। यह वैधर्म्य=विपरीतधर्मता है, अतः अभाव मात्र सब माया की भांति प्रतीति है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं।

जगत् मिथ्या स्वप्न की भांति है, ऐसा मत भी यहां सूत्र में खण्डित किया गया, यह जानना चाहिए॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

(न भावः—अनुपलब्धेः) वासनाओं का भाव=विद्यमानता स्वतः नहीं होती, क्योंकि अनुपलब्धि से बाह्य पदार्थों की उपलब्धि न होने से=बाह्य पदार्थों की उपलब्धि के विना वासना उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि वासना भीतरी संस्कार है और संस्कार बाह्य पदार्थ में व्यवहार करने पर होता है, अतः बाह्य पदार्थों के विना वासनाओं की असिद्धि विज्ञानवाद में है ॥ ३० ॥

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

(च) और (क्षणिकत्वात्) विज्ञानवाद के क्षणिक होने से वासनाओं की भी क्षणिकता हो जावे, पुन: बाह्य पदार्थों का हेतु वासना न बन सके। जिसका आश्रय लेकर वासना हो वह स्थिर होना चाहिए। दोनों ही वासना का आश्रय हैं, बाहरी भोग और आन्तरिक भोक्ता दोनों स्थिर होने चाहिएं और ये दोनों क्षणिकवाद या विज्ञानवाद में स्थिर नहीं हैं, अत: यह सिद्धान्त श्रेष्ठ नहीं है ॥ ३१ ॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

(सर्वथाऽनुपपत्तेः—च) विज्ञान और वासना की सर्वथा=सब प्रकार से अनुपपत्ति=असिद्धि होने के कारण यह सिद्धान्त ठीक नहीं है ॥ ३२ ॥

नैकस्मिनासम्भवात् ॥ ३३ ॥

(न-एकस्मिन्-असम्भवात्) दूसरा अनीश्वरवाद पक्ष निराकृत किया जाता है वह यह अनेकान्तवाद है। इसमें जो पदार्थ माने जाते हैं वे हैं "जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः सप्त, अर्थात् जीव-अजीव-आस्रव-संवर-निर्जर-बन्ध-मोक्ष" वहां पर और भी पांच हैं—"जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय"। उन सब में सप्तभङ्गी न्याय-नियम क्रमित होता है=चलता है। स्यादस्ति=सत्ता है, स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च=सत्ता नहीं है। स्यादस्ति और नास्ति-सत्ता है और नहीं है, स्यादवक्तव्यः=अवक्तव्य है, 'स्यादवक्तव्यश्च'=सत्ता है और अवक्तव्य है। स्यान्नास्ति=सत्ता नहीं है और अव्यक्त है। सत्ता है और सत्ता नहीं है और अवक्तव्य वक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य है। उक्त कथन में अस्ति=है और नास्ति=नहीं है ये विरुद्ध व्यवहार एक पदार्थ में युक्त नहीं, असम्भव होने से। परस्पर विरुद्ध धर्म वाला निरन्तर निरपेक्ष नहीं हो सकता, उसके ऊपर कोई होना चाहिए। जो ही पदार्थ जिस रूप वाला होता है वह उसी समय उसी से भिन्नरूप नहीं हुआ करता। घड़ा घड़े रूप वाले काल में अघड़ारूप में नहीं होता। इस प्रकार तो महान् अविश्वास हो जाए। न जीव, न प्रयत्न, न निर्णय, न निर्वाण, न मोक्ष सिद्ध हो सके, उसके उसी समय प्रतिकूल स्वरूप की स्थापना से, अत: यह सिद्धान्त ठीक नहीं ॥ ३३ ॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥ ३४ ॥

(एवं च-आत्माऽकात्स्न्र्यम्) अनेकान्त वाद में जैसे एक वस्तु में

परस्परविरुद्ध धर्म होने का प्रसंग दोष है। इसी प्रकार आत्मा अथवा जीवात्मा की अकृत्स्नता=अपूर्णता का प्रसंग भी आता है। क्योंकि वहां यह स्वीकार किया जाता है कि आत्मा शरीर में परिणामधर्मी है। मनुष्य के शरीर में उसके शरीर जितना बड़ा, हाथी के शरीर में हाथी के शरीर जितना बड़ा, चींटी के शरीर में चींटी के शरीर जितना होता है। उनके यहां किसी कर्म से मनुष्य शरीर को छोड़कर हाथी के शरीर को प्राप्त कर पूरा न व्याप सके और हाथी के शरीर वाला जीवात्मा चींटी के शरीर में जाकर न समा सके। इस प्रकार जीवात्मा की अपूर्णता अर्थात् स्वरूप की स्थिति का दोषप्रसंग आता है ॥ ३४ ॥

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

(न च पर्यायात्-अपि-अविरोधः) यदि तो जीवात्मा के परिमाण का विकास और संकोच शरीर को प्राप्त करके पर्याय अर्थात् बारी-बारी से दीपप्रकाश की भांति हो जावे कि जब बड़े शरीर को प्राप्त होता हो तो जीवात्मा विकास-धर्म से बढ़ जाता है और अब छोटे शरीर को प्राप्त होता है तब संकोच-धर्म से घट जाता है। इस प्रकार भी अविरोध नहीं किन्तु विरोध भी आता है। (विकारादिभ्यः) विकार आदि धर्म से जीवात्मा के अन्दर विकारादि धर्म आ जाए। निरवयव चेतन वस्तु में सङ्कोच और विकास धर्म नहीं घटते। संकोच और विकास तो अवयव वाले जड़ पदार्थ के धर्म होते हैं, अवकाश को अपेक्षित करके। जैसे कपास के अंशुओं=बारीक रोमों का अवकाश के अनुसार संकोच और विकास होता है। प्रदीप=प्रकाश के भी संकोच और विकास और अवकाश के अनुसार उसके सावयव होने से होते हैं। यदि आत्मा के संकोच और विकास होते हों तो वह भी अवयव वाला हो जावे। अवयव वाला हो जाने पर विकार आदि धर्म भी आ जावें। विकार, विकृति, विरूपता, रूपान्तरता आदि शब्द से कार्यता, अनित्यता, जड़ता ये दोष आजावें ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

(अन्त्यावस्थितेः-च-उभयनित्यत्वात्-अविशेषः) अन्त मोक्ष है, उसमें होने वाला अन्त्य जीव परिमाण, उस अन्त्य परिमाण की अवस्थिति के कारण मोक्ष में जीवात्मा न संकोच को प्राप्त होता है, न विकास को प्राप्त होता है किन्तु उस समय एकरस होता है। वह एकरस होने का धर्म दोनों संकोच और विकास में भी रहता है। इस प्रकार दोनों में भी वर्तमान रहने से संकोच विकास भी विकार धर्म वाले नहीं नित्य ही हैं, ऐसा यदि कहा

जाय, तो यह कथन भी अविशेष है विशेष नहीं है अर्थात् समान ही दोषप्रसंग है। नित्य चेतन तथा एकरस वस्तु में उसके विपरीत धर्म का उपजन या प्रादुर्भाव नहीं होता। फिर यह कैसे बन सके कि मोक्ष में अपरिमाणी वस्तु संसार में परिमाणी हो जावे, कहां से वह परिमाण उसमें आजावे। यह सब अयुक्त है॥ ३६॥

पत्युरसामञ्जस्यात्॥ ३७॥

(पत्युः-असामञ्जस्यात्) किन्हीं जनों के द्वारा ईश्वर साकार कल्पित किया जाता है जो कि प्रजाजनों या राष्ट्र के पति की भांति विश्व का पति है उस विषय में कहते हैं कि उस ऐसे राष्ट्रपति की भांति साकार जगत्पति ईश्वर की कल्पना असंगत होने से ठीक नहीं। जो ही आकारवान् होता है वह परिच्छिन्न=एकदेशीय और अल्पशक्तिवाला होता है। तब ऐसा साकार=आकार वाला ईश्वर अतिसूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति का तथा असंख्य जीवात्माओं का आधिपत्य कर सके, कैसे वह अव्यक्त प्रकृति को पकड़ कर कार्यरूप में परिणत कर सके और कैसे जीवात्माओं को जगत् में प्रवृत्त कर सके? यह सब असंगत है, अतः आकारवान् विश्व का पति परमात्मा नहीं हो सकता॥ ३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च॥ ३८॥

(सम्बन्धानुपपत्तेः-च) उस प्रकार के ईश्वर का प्रकृति और जीवात्माओं के साथ सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं हो सकता=ठीक नहीं हो सकता=नहीं बन सकता। यदि तो ईश्वर निराकार, विभु माना जाए, तब तो उसके व्यापक होने से सम्बन्ध संगत है, तब वह प्रकृति को विकृत कर सके और जीवात्माओं को जगत् में प्रवृत्त कर सके किन्तु साकार ईश्वर का ऐसा सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग सम्बन्ध भी साकार ईश्वर में सम्भव नहीं, क्योंकि सृष्टि से पूर्व प्रकृति अव्यक्त रूप में और जीवात्माएं शरीररहित थे। इनके साथ साकार ईश्वर का संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता है। समवाय-सम्बन्ध भी साकार ईश्वर का नहीं हो सकता है। परस्पर भिन्नस्वरूप होने से, अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं॥ ३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥ ३९॥

(अधिष्ठानानुपपत्तेः-च) साकार ईश्वर को अधिष्ठान भी कल्पित नहीं कर सकते कि वह प्रकृति का अधिष्ठान है क्योंकि सृष्टि से पूर्व आकार की सम्भावना नहीं, सृष्टि के पश्चात् ही आकारवान्=शरीरवाला हो सकता है।

तब ऐसे ईश्वर का मानना निरर्थक हो जाता है। अतः यह मत ठीक नहीं ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

(करणवत्-चेत्) यदि ईश्वर का अधिष्ठान होना साकार-रूप से करणवत्=करणवान्=इन्द्रियोंवाला=नेत्रादि इन्द्रियों से युक्त कल्पित किया जावे तो (न) ठीक नहीं (भोगादिभ्यः) भोगादि प्रसंगों से अर्थात् भोगवासना जरा आदि दोष वहां आ जावें, क्योंकि कोई भी इन्द्रियवान् भोगादि से पृथक् नहीं हो सकता, अतः यह मत ठीक नहीं ॥ ९० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

(अन्तवत्त्वम्-असर्वज्ञता वा) करणवान्=इन्द्रियों वाला ईश्वर मानने पर यह भी दोष आ जाता है कि वह ऐसा ईश्वर अन्तवान्=विनाशवान् तथा अवधिमान्=एकदेशी और असर्वज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ होजावे एवं उसके अन्दर विनाश एकदेशिता और असर्वज्ञता का दोष आ जावे, ऐसा ईश्वर सृष्टिरचना करने में समर्थ नहीं हो सकता और न ही जीवों के कर्मों को जान सके, पुनः उनके कर्मफलों का भोग तो कैसे करावे ॥ ४१ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥

(उत्पत्ति+असम्भवात्) जो इन्द्रियों वाला होवे वह अवश्य उत्पन्न होवे परन्तु जगत्-निर्माता ईश्वर की उत्पत्ति असम्भव है, उसकी उत्पत्ति के असंभव से इन्द्रियों वाला ईश्वर नहीं हो सकता।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की जीव की उत्पत्ति के निषेध में व्याख्या की है वह उचित नहीं, क्योंकि प्रकरण ईश्वरविषयक है जीवविषयक नहीं, और फिर जीव की उत्पत्ति का निषेध विषय के "**नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**" (वेदा० २। ३। १७) इस सूत्र द्वारा कथन करने और सिद्ध कर देने से है ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

(न च कर्तुः करणम्) और फिर जो उत्पन्न होता है उसका कोई उपादानरूप साधन होता है जिससे कि वह उत्पन्न होवे, कर्त्ता का कोई करण उपादानरूप साधन नहीं होता, कार्य का ही उपादान हुआ करता है कर्त्ता ईश्वर का नहीं होता, जैसा कि कहा भी है—"**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**" (श्वेता० ६। ८) ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

(विज्ञानादिभावे वा) विज्ञान का आदि कारण होने पर उस ईश्वर के

विषय में उत्पत्ति की कल्पना करना सम्भव नहीं। जो ही विज्ञानमात्र का आदिप्रवर्तक है उसको कौन उत्पन्न कर सके? उससे अधिक उत्पादनविज्ञान अन्य में कैसे हो सके जो कि उसे उत्पन्न कर सके? कहा भी है—"**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेता० ६। ८)=उस परमेश्वर में ज्ञान और बल की क्रिया स्वाभाविक है। उसके ज्ञान के ऊपर और उसके बल के ऊपर कोई नहीं, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, अत: (तदप्रतिषेध:) उस जगत् के कर्त्ता निराकार ईश्वर का प्रतिषेध नहीं हो सकता जो कि वैदिक ईश्वर स्वीकार किया जाता है॥ ४४॥

विप्रतिषेधाच्च॥ ४५॥

(विप्रतिषेधात्-च) विरोधी का प्रतिषेध विप्रतिषेध कहलाता है। वेदोक्त ईश्वर से विरुद्ध धर्मवाले ईश्वर अर्थात् साकार ईश्वर का प्रतिषेध किया जाता है—जैसे "**अज एकपात्**" (यजु० ३४। ५३)=ईश्वर अजन्मा है—"**अकायमव्रणमस्नाविरम्**" (यजु० ४०। ८)=ईश्वर अकाय=शरीररहित है, "**अपाणिपादो०**" (श्वेता० ३। १९)=परमात्मा हाथ-पैर वाला नहीं है, अत: जगत् का कर्त्ता ईश्वर उत्पत्ति से रहित तथा शरीर इन्द्रियों और आकार से रहित है, यह सुतरां सिद्ध है॥ ४५॥

द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद समाप्त॥

तृतीय पाद

न वियदश्रुतेः॥ १॥

(वियत्-न) आकाश उत्पन्न नहीं होता। उसका उत्पत्ति धर्म से रहित होना कैसे है, सो कहते हैं (अश्रुते:) उत्पत्तिप्रकरण में उसके लिये उत्पत्तिप्रदर्शक श्रुति के न होने से, जैसा कि "**सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति........तत्तेजोऽसृजत**" (छान्दो० ६। २। १-३)=सत्-रूप से सदा सर्वत्र विराजमान जो ब्रह्मसत्ता थी, सृष्टि से पूर्व उसने उत्पत्ति करने का सङ्कल्प किया तो तेज-अग्नि को उत्पन्न किया इत्यादि उत्पत्ति के प्रकरण में आकाश का नाम नहीं है। यदि आकाश की उत्पत्ति हो, तो उसका भी नाम होता। यह पूर्व पक्ष है॥ १॥

अब उत्तर पक्ष देते हैं—

अस्ति तु॥ २॥

(अस्ति तु) है तो आकाश की उत्पत्तिप्रदर्शिका श्रुति, जैसे—"**सत्यं**

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म.......तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० उ० २। १) अर्थात् सत्य, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है, उस अव्यक्त से और इस ब्रह्मात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ॥ २॥

फिर पूर्वपक्ष रूप से कहता है—

गौण्यसम्भवात्॥ ३॥

(गौणी) यह तैत्तिरीयोपनिषद् में आकाश की उत्पत्ति सुनी जाती है यह गौणी है=गौण है न कि मुख्य। क्योंकि (असम्भवात्) उसकी उत्पत्ति के असम्भव से। सर्वगत व्यापक आकाश की उत्पत्ति न हो सकने से, अवकाशरूप से उसके अभिव्यक्तिभाव से उत्पत्ति का कथन है॥ ३॥

उसी विषय में हेतु दिया जाता है—

शब्दाच्च॥ ४॥

(शब्दात्-च) आकाश के अनुत्पत्ति विषय में प्रयुक्त हुए विशेषण शब्द से भी वह उत्पत्ति गौण ही माननी चाहिए, क्योंकि "**वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्**" (बृह० २। ३। ३)। वायु और आकाश अमृत हैं। जो उत्पत्ति वाला होता है वह तो नश्वर होता है, अमृत नहीं। यदि आकाश उत्पत्तिवाला=उत्पन्न होनेवाला हो तो अमृत शब्द से विशिष्ट न किया जावे। इस प्रकार शब्द उसके उत्पत्तिवाला होने का प्रतिषेध करता है। अतः तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रदर्शित आकाश की उत्पत्ति गौण ही माननी चाहिए॥ ४॥

आकाश की उत्पत्ति गौण है, इसमें अन्य हेतु पूर्व पक्षरूप से देते हैं—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्॥ ५॥

(स्यात्-च-एकस्य) वहां तैत्तिरीयोपनिषद् में "**आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः**" (तै० उ० २। १) जो प्रयुक्त सम्भूत शब्द है वह मुख्यरूप से आकाशविषयक उत्पत्ति अर्थवाला नहीं है किन्तु गौणरूप से हो सकता है; हाँ, वायु आदि के प्रति तो उत्पत्तिबोधक हो। कैसे एक प्रकरण में गौण मुख्य प्रवृत्तिवाला सम्भूत शब्द हो, सो इस विषय में कहते हैं (ब्रह्मवत्) जैसे ही ब्रह्म शब्द एक ही प्रकरण में गौण मुख्य अर्थों में प्रयुक्त होता है "**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति**" (तै० उ० ३। २) अर्थात् तप से ब्रह्म को जानो, तप ब्रह्म है। इस प्रकरण में ब्रह्म शब्द का मुख्य और गौण अर्थ स्पष्ट है। पूर्व भाग में मुख्य अर्थ और पिछले भाग में गौण अर्थ। इसी भांति यहां भी सम्भूत शब्द गौण-मुख्य अर्थ को कहनेवाला मानना

चाहिये। आकाश के लिये गौण अर्थ में और वायु आदि के लिये मुख्य अर्थ में योजनीय है ॥ ५ ॥

अब सब का समाधान करते हैं—

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

(अव्यतिरेकात्) यह सम्भूत शब्द केवल एक ही अर्थ को कहता है किन्तु ब्रह्म शब्द की भांति गौण मुख्यवाला मानना चाहिए, इस कथन में दोष है, क्योंकि उस सम्भूत शब्द के अव्यतिरेक=अभिन्नार्थवाला=एक अर्थवाला होने से (शब्देभ्यः प्रतिज्ञाऽहानिः) सर्वत्र उत्पत्ति प्रकरण में पढ़े शब्दों द्वारा की गई प्रतिज्ञा की अहानि=रक्षा होती है। जैसा कि "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**" (तै० उ० ३ । १)=जिस ब्रह्म से ये भूत-पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं........। पञ्च भूतों में आकाश प्रसिद्ध ही है="**तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी**" (तै० उ० २ । १) यहां तो स्पष्ट पूर्व की प्रतिज्ञा=भूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रतिज्ञा की उक्त वचन के शब्दों से हानि नहीं किन्तु रक्षा होती है="**तत्तेजोऽसृजत**" (छान्दो० ६ । २ । ३) यहां प्रतिज्ञा तेज की उत्पत्ति सम्बन्धी है, प्रतिज्ञा वह रहे उसकी हानि नहीं होती। यह श्रुति तो मूर्ति वाली अर्थात् दृश्य सृष्टि प्रकाशन-परक=व्यक्त सृष्टि प्रकाशनपरक है, इससे अमूर्त=अदृश्य सृष्टि का निषेध नहीं है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है किन्तु बनाने से पूर्व मिट्टी का चूर्ण बनाता है, उसमें जल डालकर नरम पिण्ड भी तो करता है। घड़ा बनाने के कथन में मिट्टी के चूर्ण करने, कोमल पिण्ड बनाने का निषेध नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार तेज=अग्नि आदि की सृष्टि करने में भी जाने ॥ ६ ॥

समाधान में दूसरा हेतु—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

(यावद्विकारं तु विभागः) जितनी विकार रूप वस्तु होती है वह कार्य है, रचयिता से उसका विभाग अर्थात् पृथक् होना सिद्ध है (लोकवत्) जैसे लोक में घड़े आदि विकार, रचयिता कुम्हार, निमित्त कारण पृथक् दिखलाई पड़ते हैं, उसी भांति यहां भी "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**" (तै० उ० २ । १) इस ब्रह्मात्मा से आकाश विकाररूप पृथक् कहा गया है। अच्छा आकाश सर्वगत या व्यापक हो परन्तु उसका सर्वगत या व्यापक होना भी मूर्त्त द्रव्यों की अपेक्षा से है न कि परमात्मा की समता

से, परमात्मा तो आकाश से भी महान् है, कहा भी है—"**ज्यायानन्तरिक्षात्**" (छान्दो० ३।१४।३) आकाश से बड़ा है। वेद में भी कहा है—"**त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः**" (ऋ० १।५२।१२)=परमात्मन् तू आकाश से भी पार है। अतः आकाश की उत्पत्ति युक्त है॥ ७॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥ ८॥

(एतेन) इस व्याख्यानप्रकार से या विवेचन से (मातरिश्वा व्याख्यातः) वायु भी व्याख्यात किया हुआ जानना चाहिए। वह भी प्रतिज्ञाबल से और विकाररूप से उत्पत्तिवाला और कार्यरूप है॥ ८॥

आकाश और वायु अमूर्त्त होते हुए भी जब उत्पत्तिमान् हैं तो अमूर्त्त परमात्मा की भी उत्पत्ति हो सके, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥ ९॥

(सतः-असम्भवः) सृष्टि से पूर्व शाश्वतिक सत्ता से वर्तमान परमात्मा का सम्भव अर्थात् उत्पाद नहीं=उत्पत्ति नहीं, उसके लिये सम्भूत शब्द का प्रयोग नहीं है, वह तो "**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**" (छान्दो० ६।२।१) सृष्टि से पूर्व निरन्तर सत्ता से वर्तमान परमात्मा ही था। उसके विषय में 'आसीत्' प्रयोग सृष्टि से पूर्व वर्तमान था उस परमात्मा की उत्पत्ति नहीं (अनुपपत्तेः) उत्पत्ति के न बन सकने से। कहा भी है—"**स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः**" (श्वेता० ६।९)=वह परमात्मा तो जगत् का निमित्त कारण है, करणों=नेत्रादि साधनों के स्वामी जीवात्मा का भी स्वामी है, उसका कोई उत्पादक नहीं और न कोई स्वामी है। वेद में भी कहा है—"**अज एकपात्**" (यजु० ३४।५३) परमात्मा अजन्मा है, अतः वह परमात्मा अजन्मा शाश्वतिक है॥ ९॥

तेजोऽतस्तथा ह्याह॥ १०॥

(अतः-तेजः) इस मातरिश्वा=वायु के अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुआ है (तथा हि-आह) वैसे ही क्रम में श्रुति कहती है—"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः.....**" (तै० उ० २।१) वायु के अनन्तर अग्नि कहा है॥ १०॥

आपः॥ ११॥

(आपः) अग्नि के अनन्तर 'आपः=जल' उत्पन्न हुए 'तथा ह्याह' ऐसा ही कहा है—"**अग्नेरापः**" (तै०उ० २।१)=अग्नि के अनन्तर जल उत्पन्न हुए। पृथक् सूत्र रचना एक-एक की अनन्तरता दिखलाने के लिये

है ॥ ११ ॥

पृथिव्यधिकरणरूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

यह सूत्र योगविभाग द्वारा व्याख्या करने योग्य है। उसमें प्रथम विभाग 'पृथिवी' दूसरा 'अधिकरणरूप शब्दान्तरेभ्यः' उनमें—

पृथिवी ॥ १२क ॥

(पृथिवी) पृथिवी उत्पन्न हुई जलों के पश्चात्। 'तथा ह्याह' तै० उपनिषद् में वैसा ही कहा है—"**अद्भ्यः पृथिवी**" (तै०उ० २।१)॥ १२क॥

छान्दोग्योपनिषद् में जो सृष्टिक्रम कहा है वहां "**ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त**" (छान्दो० ६।२।४) अर्थात् जलों ने ईक्षण किया कि हम बहुत गुणयुक्त हो जावें, उन्होंने अपने पश्चात् अन्न उत्पन्न किया, इस कथन में 'अद्भ्यः'=जलों के पीछे अन्न की उत्पत्ति दिखलाई गई है। यहां अन्न से जौ, गेहूँ आदि अन्न लेना चाहिए या कि पृथिवी, इस आकांक्षा में कहा जाता है—

अधिकरणरूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ख ॥

(अधिकरणरूपशब्दान्तरेभ्यः) "**ता आप ऐक्षन्त........... अन्नमसृजन्त**" (छान्दो० ६।२।४) यहां अधिकरण=लक्ष्य-प्रकरण, सृष्टिक्रम, तद्रूप शब्दान्तरों से निर्णय किया जाता है कि पृथिवी ग्रहण करने योग्य है, पृथिवी उत्पन्न हुई इसके लिये शब्दान्तर अर्थात् भिन्न शब्द भूतविषयक "**तत्तेजोऽसृजत.....तदपोऽसृजत**" (छान्दो० ६।२।३)=तेज, जल ये शब्द भिन्न भूतविषयक हैं, अतः यहां अधिकरणरूप=वस्तुरूप= भूतवस्तु-वाचक भिन्न शब्दों के साहचर्य से "**अन्नमसृजन्त**" (छान्दो० ६।२।४) में अन्न शब्द से पृथिवी लेने योग्य है।

अन्य व्याख्या प्रकार—"**ता आप ऐक्षन्त........अन्नमसृजन्त**" (छान्दो० ६।२।४) इस वचन में (अधिकरणरूप-शब्दान्तरेभ्यः) अधिकरण, रूप और शब्दान्तर हेतुओं से। अधिकरण=लक्ष्यप्रकरण, वह है महाभूत सृष्टिविधान "**तत्तेजोऽसृजत........तदपोऽसृजत**" (छान्दो० ६।२।३), अतः यहां अन्न शब्द से पृथिवी लेने योग्य है। रूप भी वहां पृथिवी का निर्दिष्ट किया है—"**यत् कृष्णं तदन्नस्य**" (छान्दो० ६।४।१) कृष्णरूप जो गेहूं आदि अन्न का नहीं होता, पृथिवी का तो प्रायः होता है। ब्राह्मणग्रन्थ में भी कहा है—"**यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं**

श्रितम्'' (मन्त्र-ब्राह्मण० १।५।३३) अर्थात् जो चन्द्रमा में कृष्ण है वह पृथिवी का हृदय रखा है। शब्दान्तर=भिन्न श्रुतिप्रमाण भी हेतु है पृथिवी के ग्रहण करने में। अन्य उपनिषद् में जलों के पश्चात् पृथिवी की उत्पत्ति स्पष्ट कही है—''**अद्भ्यः पृथिवी**'' (तै०उ० २।१) अतः यहां सृष्टिक्रम में जलों के पश्चात् उत्पत्ति 'अन्न' शब्द से पृथिवी की ही जाननी चाहिए॥ १२॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः॥ १३॥

(तदभिध्यानात्-एव तु सः) उन पृथिवी आदि भूतों के अभिध्यान-तदभिमुखी सङ्कल्प, उन्हें लक्ष्य बनाए सङ्कल्प से ही, क्योंकि उन्हें सर्जन क्रिया में परमात्मा लक्ष्य करता है, उन्हें बनाना चाहता है, अतः वह उनका स्रष्टा (तल्लिङ्गात्) उस परमात्मा का लिङ्ग=लक्षण सर्जनक्रिया में ईक्षण स्पष्ट है—''**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो० ६।२।३) ''**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च**'' (तै०उ० २।६) ''**सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**'' (छान्दो० ६।३।२) इन स्थलों में परमात्मा की ईक्षणक्रिया आई और जो ''**तत्तेज ऐक्षत....ता आप ऐक्षन्त**'' (छान्दो० ६।२।४) अग्नि ने ईक्षण किया, जलों ने ईक्षण किया, इत्यादि प्रयोग तो आलङ्कारिक हैं, यह प्रथम ही सूत्रकार ने कह दिया है—''**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्**'' (वेदा० २।१।५) इन स्थलों में भी वही परमात्मा अन्तर्यामीरूप से अवस्थित है। जैसा कि कहा है—''**योऽप्सुतिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो...... यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयति। योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो..........यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति**'' (बृह० ३।७।४-५)=जो जलों में रहता हुआ जलों का यमनकर्ता है, जो अग्नि में रहता हुआ अग्नि का यमनकर्ता है, वह सब का स्रष्टा परमात्मा है॥ १३॥

उत्पत्तिक्रम कह दिया अब दूसरा लयक्रम कहते हैं—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते॥ १४॥

(अतः क्रमः-तु विपर्ययेण-उपपद्यते) इस उत्पत्तिक्रम से दूसरा क्रम है लय। वह तो विपर्यय=प्रतिलोम=उलटे ढंग से सिद्ध होता है युक्ति एवं शास्त्र से। युक्ति=सीढ़ी का आरोहण=चढ़ना जिस क्रम से किया जाता है, उसके विपरीत क्रम से अवरोहण=उतरना किया जाता है यह लोक में देखा जाता ही है। तथा रूई के रोमों में धागे, धागों से वस्त्र बनते हैं, यह वस्तु

का उत्पत्तिक्रम है। इसके विपरीत वस्त्र का नाशक्रम=लयक्रम है। वस्त्र के नाश से धागे रहते हैं, धागों के विनाश से रूई के रोम रहते हैं। उसी भांति यहां भी पृथिवी जलों में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश परब्रह्म में लय को प्राप्त हो जाता है। शास्त्र में भी—"**एवमेव खलु सोम्यान्नेन [पृथिवीस्थानीयेन] शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ**" (छान्दो० ६। ८। ४) अर्थात् अन्न-पृथिवीरूप अंकुर से जल मूल को खोज, जलरूप अंकुर से तेज मूल को खोज, तेजोरूप अंकुर से नितान्त सद्रूप ब्रह्म मूल को खोज तथा "**जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते**" (महाभा० १२। ३४१। २९)=हे देवर्षि! पृथिवी जलों में लीन हो जाती है, जल अग्नि में लीन हो जाते हैं, अग्नि वायु में लीन हो जाती है॥ १४॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्॥ १५॥

(अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गात्) आकाश आदि पञ्चभूतों की उत्पत्ति और प्रलय तो अनुलोम-प्रतिलोम से निर्णीत कर दिए, किन्तु उस परमात्मा से केवल आकाश आदि पञ्चभूत ही उत्पन्न नहीं होते अपितु परमात्मा और भूतगण के अन्तरालमध्य में विज्ञान और मन अर्थात् बुद्धिक्रियासमूह=ज्ञानेन्द्रियसमूह और मन ये दोनों वस्तुएं भी उत्पत्तिप्रसङ्ग में और लयप्रसङ्ग में क्रम से निर्णीत करने चाहिएं, क्योंकि उन दोनों का भी उत्पत्तिलिङ्ग मिलता है—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**" (मुण्ड० २। १। ३) (इति चेत्-न-अविशेषात्) यदि ऐसा कहा जावे तो उनके विषय में पृथक् निर्णय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविशेष से=अभेद से या अविरोध से वहां मुण्डकोपनिषद् में बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थों का उल्लेखमात्र ही अभीष्ट है, वहां क्रम के विचार की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि बाह्य या आभ्यन्तर वस्तुमात्र भौतिक ही है और भूत पांच आकाश आदि हैं। उनका उत्पत्तिक्रम और लयक्रम निर्णीत कर दिया, उनके निर्णय से उन विज्ञान=ज्ञानेन्द्रि-समूह और मन को भी उत्पत्तिक्रम और लयक्रम भूतों के साथ निर्णीत हो गए यह जानना चाहिये, उनके अन्तर्गत होने से; अतः पृथक् सूत्र नहीं रचा है॥ १५॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्॥ १६॥

(चराचरव्यपाश्रय:-तु तद्व्यपदेश:-भाक्त: स्यात्) जङ्गम-स्थावर शरीरों का आश्रय तो वह उत्पत्ति-प्रलय का व्यपदेश=जन्ममरण व्यवहार भाक्त है=गौण है, जङ्गम-स्थावर शरीरवर्ती जीवात्मा की उत्पत्ति और नाश नहीं होते हैं। कहा ही है—"**अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" (कठो० १। २। १८)=जीवात्मा अजन्मा है नित्य है सदा से वर्तमान है, मरने—नष्ट होने वाले शरीर में नष्ट नहीं होता है। "**अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्यात्.....यदेकां शाखां जीवो जहाति.....सर्वं शुष्यति जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते**" (छान्दो० ६। ११। ३)=इस महान् वट आदि वृक्ष के मूल में आघात करे तो वह जीता हुआ उस आघात से रस रिसाता है। यदि इसकी एक शाखा को जीव छोड़ दे, तो वह शाखा सूख जाती है एवं दूसरी, तीसरी के प्रति भी, ऐसा ही होता है। सब वृक्ष को जीव छोड़ दे तो सब वृक्ष सूख जाता है, जीव से रहित वृक्ष मरता है, जीव नहीं मरता है। वैसे यह भाक्त=गौण व्यवहार है (तद्भावभावित्वात्) उस जीवात्मा के जङ्गम-स्थावर देहभाव से भावी होने से=वर्तमान होने से। जैसे कहा है—"**स वा अयं पुरुषो जायमान: शरीरमभिसम्पद्यमान: स उत्क्रामन् म्रियमाण:**" (बृह० ४। ३। ८)=वह यह आत्मा जायमान अर्थात् शरीर को प्राप्त हुआ तथा वह शरीर से निकलता हुआ म्रियमाण कहाता है। अत: गौण जन्ममरण व्यवहार जीव में किए जाते हैं, जीवात्मा की उत्पत्ति और नाश नहीं होते, वह तो नित्य अजन्मा अमृत है।

इस सूत्र से जीव की नित्यता सिद्ध होती है। जो नवीन वेदान्त में जीवकल्पना मिथ्या कही जाती है, वह निराकृत हो जाती है॥ १६॥

और—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य:॥ १७॥

(न-आत्मा) आत्मा-जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, अत एव न विनष्ट होता है। जीवात्मा के उत्पत्ति और प्रलय नहीं होते। क्योंकि (अश्रुते:) उसके उत्पत्ति-विनाश के सम्बन्ध में श्रुति नहीं है, अपितु (ताभ्य:-नित्यत्वात्-च) उन श्रुतियों से जीवात्मा का नित्य होना स्पष्ट है, जैसा कि "**न जायते म्रियते वा विपश्चित्.....अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो......**" (कठो० १। २। १८) अर्थात् यह चेतन जीवात्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है,

यह नित्य सनातन है। "**जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते**" (छान्दो० ६।११।३)=जीव से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता है। वेद में भी कहा है—"**जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः**" (ऋ० १।१६४।३०) जीवात्मा अमर्त्य=अमर है।

यहां शाङ्करभाष्य में यद्यपि जीवात्मा उत्पत्तिधर्मरहित तथा स्वतन्त्र माना है—"नात्मा जीव उत्पद्यते इति। कुतः अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्ति-प्रकरणे श्रवणमस्ति......नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते....। ताः काः श्रुतयः '**न जीवो म्रियते**' (छान्दो० ६।११।३)" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् आत्मा= जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अश्रुति से, उत्पत्ति प्रकरण में इस का श्रवण नहीं है, किन्तु श्रुतियों से इसका नित्य होना निश्चित होता है। वह श्रुति है— '**न म्रियते**'=जीव नहीं मरता है। इस प्रकार जीवात्मा को नित्य मानते हुए भी शङ्करस्वामी उसकी सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं स्वीकार करते। जिस जीवात्मा को सूत्रकार नित्य मानते हैं और श्रुतियों में जो अजन्मा=नित्य कहा गया है, स्वयम् भी शङ्कराचार्य ने जिसे अनादि स्वीकार किया है, फिर उसकी सत्ता को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए, उसकी सत्ता का विलोप करते हुए, आचार्य शङ्कर ने न अपनी पुष्टि की और न सूत्रकार की ही तथा न ही श्रुति की पुष्टि की, यह विज्ञजन देखें। उनकी यह ऐसी विचारसरणि किस अभिप्राय को प्रकट करती है, यह तो शङ्कराचार्य ही जानें। प्रत्यक्ष तो यही स्पष्ट होता है कि जीवविषयक शाङ्करमत वेदान्तदर्शन के विरुद्ध है॥ १७॥

ज्ञोऽत एव॥ १८॥

(अतः-एव ज्ञः) इसी कारण से जीवात्मा उत्पत्तिधर्मरहित अविनाश धर्मवाला होता हुआ ज्ञानवान् चेतन अभौतिक कहा जाता है और "**अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा**" (छान्दो० ८।१२।४)=जो जानता है कि मैं सूंघता हूं, देखता हूं, इत्यादि अनुभव करता है, वह आत्मा है। "**एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**" (प्रश्नो० ४।९)=यह ही द्रष्टा, श्रोता, सूंघनेवाला, चखनेवाला, मन्ता, कंर्मकर्ता, विज्ञानस्वरूप पुरुष है। "**कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**" (बृह० ४।३।७) आत्मा कौन है जो यह इन्द्रियों के मध्य ज्ञानस्वरूप हृदय में वर्तमान, ज्योतिरूप चेतन है। योगदर्शन में भी कहा है—"**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**" (योग० २।२०)=द्रष्टा देखनेवाला मात्र शुद्ध होता हुआ भी प्रतीतियों का अनुभव

करने वाला है ॥ १८ ॥

जीवात्मा उत्पत्ति और विनाश धर्मों से रहित है, यह विचार तो कर लिया गया है। अब वह किस परिमाण वाला है, विभु है, या अणु है ? यह विचार किया जाता है—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

(उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्) उत्क्रान्ति=शरीर से निकलना, गति=अन्यत्र जाना, आगति=आना, अन्य स्थान से आना। इस प्रकार शरीर से निकलने, जाने-आने धर्मों के प्रतिपादन से जीवात्मा अणु परिमाण वाला अर्थापत्ति से सिद्ध होता है, क्योंकि ये धर्म विभु में सम्भव नहीं हैं। इस विषय में प्रमाण है—"**स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति**" (कौषीतकि० ३। ३)=वह जीव जब इस शरीर से निकलता है, साथ इन सब प्राणों के निकलता है, यह उत्क्रान्ति के विषय में हुआ। "**ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**" (कौषीतकि० १। २)=जो कोई इस लोक से मर जाते हैं वे सब चन्द्रमा को जाते हैं, तथा "**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति**" (मुण्डको० १। २। ११)=जो जङ्गल में ब्रह्मनिष्ठा और तप का सेवन करते हैं, शान्त विद्वान् महानुभाव साधुचर्या का सेवन करते हुए वे निर्दोष हुए सूर्य के द्वारा ब्रह्मलोक में जाते हैं। यह जाना हुआ। "**तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे**" (बृह० ४। ४। ६)=उस लोक से फिर आते हैं कर्म करने के हेतु इस लोक के लिए यह आना हुआ। इस प्रकार शरीर से निकलने, जाने-आने धर्मों के कारण जीव अणु है, विभु नहीं॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

(उत्तरयोः स्वात्मना च) उत्तरों=पिछले दोनों गति और आगति के स्वात्मा कर्तारूप अपने आत्म-स्वरूप के साथ सम्बन्धित होने से उन गति-आगति=जाने-आने के कर्त्ता आत्मा का परिच्छिन्न होना एकदेशी होना और अणु होना भलीभांति सिद्ध होता है। ऐसे ही उत्क्रान्ति=आत्मा का शरीर से निकल जाना भी निःसन्देह सिद्ध होता है। ऐसा कहा भी है— "**चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा शरीरप्रदेशेभ्यः**" (बृह० ४।४।२)=आंख से, मूर्धा से, या शरीर के भागों से आत्मा निकल जाता है।"**शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्**" (बृह० ४। ३। ११)=शुक्र को लेकर फिर स्थान को प्राप्त हो जाता है— "**स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति**" (बृह०

४।४।१)=वह तेजोमात्राओं=सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों को लेता हुआ हृदय को ही प्राप्त हो जाता है, यह शरीर के अन्दर गति प्रतिपादित की जाती है, यह सब अणु होने से ही सम्भव है॥ २०॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्॥ २१॥

(न-अणुः-अतच्छ्रुतेः-इति चेत्) आत्मा अणु नहीं है क्योंकि उस से भिन्न प्रमाण होने से—"**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु**" (बृह० ४।४।२२)=वह यह महान् अजन्मा आत्मा है जो यह प्राणों=इन्द्रियों में विज्ञानमय इन्द्रियविज्ञानों का अनुभवकर्ता है। तथा "**नित्यं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः**" (मुण्ड० १।१।६)=नित्य, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, अव्यय, भूतयोनि को धीर जन देखते हैं, यदि ऐसा कहा जावे तो (न-इतराधिकारात्) ठीक नहीं, इतर परमात्मा का अधिकार होने से जीवात्मा का नहीं होने से॥ २१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च॥ २२॥

(स्वशब्दोन्मानाभ्यां च) स्वशब्द साक्षात् अणु शब्द से और उन्मान= उद्धृत मान=तुलारूप में प्रदर्शित मान से आत्मा अणुपरिमाण वाला है, यह सिद्ध होता है। जैसे—"**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश**" (मुण्ड० ३।१।९)=यह आत्मा अणु है जो मन से युक्त जानने योग्य है, जिसमें पांच प्राण आदि आश्रित हैं। यह स्वशब्द= अणुशब्द है। "**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः**" (श्वेता० ५।८)=बाल के अग्रभाग के सौवां भाग का भी सौवां भाग कल्पित किए की तुलना से जीव जानना "**आराग्रमात्रो ह्यवरो दृष्टः**" (श्वेता० ५।८)=आरे के अग्रभाग के समान जीवात्मा है। यह उन्मान है॥ २२॥

अविरोधश्चन्दनवत्॥ २३॥

(अविरोधः) आत्मा अणु है, इस विषय में यदि कोई शङ्का करे कि उसके एकदेशी होने से शीत-उष्ण आदि का ज्ञान न हो सके और हाथ-पैर आदि चलाना न बन सके, क्योंकि शीत-उष्ण आदि ज्ञान कराने के साधन और गतिप्रवृत्ति के साधन जड़ हैं, जड़ों में चेतनवत् व्यापार हो तो विरोध पड़ जावे। इसका समाधान अविरोध=विरोध नहीं है, क्योंकि (चन्दनवत्) जैसे एकदेशस्थ चन्दन वृक्ष अपने पास के अचन्दन वृक्षों को भी चन्दन कर देता है, अपनी सुगन्ध से सुगन्धवान् कर देता है, उसी भांति अणु

आत्मा चेतन अपने से सम्बन्धित अचेतन साधनों को भी चेतन कर देता है, अपनी चेतनता को प्रेरित करता है या प्रेरणा प्रदान करता है, अतः आत्मा के अणु होने में दोष नहीं॥ २३॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि॥ २४॥

(अवस्थितिवैशेष्यात्-इति चेत्) तथापि विरोध ही अवस्थितिवैशेष्य से, चन्दनवृक्ष तो एकदेश में अवस्थित है उसके जड़ होने से, अचल होने से, परन्तु आत्मा तो चेतन है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक का भेद है, अतः उसका एकदेशी होना यदि कहो तो (न हृदि हि-अभ्युपगमात्) यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा की हृदयप्रदेश में स्थिति के स्वीकार करने से "**हृदि ह्येष आत्मा**" (प्रश्नो० ३।६)=यह आत्मा हृदय में है, "**स वा एष आत्मा हृदि**" (छान्दो० ८।३।३) "**कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**" (बृह० ४।३।४)=कौन आत्मा है? जो यह प्राणों में विज्ञानमय हृदय के अन्दर वर्तमान ज्योतिरूप पुरुष है। वेद में कहा है—"**बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः**" (अथर्व० १६।३।५)=मेरा आत्मा वाणी का स्वामी नायक मनवाला हृदय में रहनेवाला है॥ २४॥

गुणाद्वा लोकवत्॥ २५॥

(गुणात्-वा लोकवत्) 'च' के अर्थ में 'वा' है। अपने ज्ञान आदि गुण से भी वह आत्मा समस्त शरीर में सारे उपकरणों में कार्य करता है, समस्त शरीर और सारे उपकरणों को अपने गुण से प्रवृत्त करता है। जैसे लोक में मणि या दीप आदि एकदेश में स्थित हुए भी सारे घर को अपने प्रकाश से प्रकाशवान् कर देते हैं, अतः दोष नहीं है॥ २५॥

व्यतिरेको गन्धवत्॥ २६॥

(व्यतिरेकः गन्धवत्) यदि कोई कहे गुणी से पृथक् गुण नहीं रहता है, जैसा कि वस्त्र का श्वेत होना गुण वस्त्र से पृथक् नहीं होता, ऐसे ही आत्मा गुणी का गुण चेतनत्व आत्मा से पृथक् नहीं होता। इस प्रसङ्ग में सूत्रकार निरूपित करता है कि आत्मा के गुण ज्ञान या चेतनत्व आत्मा से पृथक् प्रसूत या प्रभावकारी होता है, गन्ध गुण की भांति। जैसे गन्धवाले फूल आदि एकदेशस्थ से उसका गन्ध गुण पृथक् दूर प्रसृत या प्रभावकारी होता है, ऐसे ही हृदयस्थ आत्मा का गुण ज्ञान या चेतनत्व अन्यत्र प्रसृत या प्रभावकारी होता है॥ २६॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

(तथा च दर्शयति) ऐसे ही शास्त्र दर्शाता है—"**आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः**" (छान्दो० ८। ८। १)=हृदयस्थान से आत्मा लोमों की जड़ों तक और नाखूनों के सिरे तक प्रवर्तमान है, अपने चैतन्य गुण से ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

(पृथक्-उपदेशात्) आत्मा के गुण का उस से भिन्न प्रवर्तन में पृथक् उपदेश भी है—"**प्रज्ञया शरीरं समारुह्य**" (कौषीतकि० ३। ६)=प्रज्ञा-प्रज्ञान अर्थात् निज चैतन्यगुण से आत्मा शरीर में प्रविष्ट होकर रहता है। अतः अपने गुण के द्वारा प्रवृत्ति सर्वदेशवाले शरीर में अणु आत्मा होते हुए भी सम्भव है ॥ २८ ॥

शङ्का करता है—

तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

(तद्गुणसारत्वात्-तु तद्व्यपदेशः) उस आत्मा का गुण ही प्रज्ञा प्रज्ञान=चेतनत्व के सार=प्रधान प्रमुख होने से अर्थात् आत्मा के गुण चेतनत्व प्रधान होने से तो उसका व्यपदेश=अणुत्व का व्यवहार है, वास्तविक नहीं (प्राज्ञवत्) जैसे प्राज्ञ परमात्मा भी विभु होता हुआ कहीं-कहीं उपासना-बुद्धि से थोड़े परिमाणवाला व्यवहार किया गया है—"**अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य**" (कठो० २। १। १२)=परमात्मा अंगुष्ठमात्र आत्मा में रहता है जो परमात्मा भूत में हुए और भविष्य में होनेवाले का स्वामी है—"**एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्......**" (छान्दो० ३। १४। ३)=यह मेरा आत्मा-परमात्मा हृदय के अन्दर अणु है, चावल से, या जौ से, सरसों या श्यामक धान से, या श्यामक चावल से। यही मेरा आत्मरूप परमात्मा हृदय में रहता हुआ पृथिवी से बड़ा अन्तरिक्ष से बड़ा है। इसी प्रकार अणु होना आत्मा का वास्तविक गुण नहीं। किन्तु बुद्धि का गुण है बुद्धि के विमोक्ष से अणुत्व का भी अभाव हो जाता है, अतः अणुत्व आत्मा का गुण नहीं है ॥ २९ ॥

समाधान करते हैं—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

(यावदात्मभावित्वात्-च न दोषः) ठीक है, बुद्धि उस आत्मा का

गुण है, किन्तु गुण यावदात्मभावी होता है अर्थात् जब तक वस्तु का आत्मा-स्वरूप है तब तक रहनेवाला होता है, क्योंकि गुण के बिना वस्तु की सत्ता सम्भव नहीं, जैसा कि अग्नि की सत्ता तब तक है जब तक उसके गुण दाह और प्रकाश रहते हैं। आत्मा नित्य है यह प्रथम ही सूत्रकार ने सिद्ध कर दिया है, अतः आत्मा के गुणरूप बुद्धि का विमोक्ष या अभाव नहीं होता। वह तो मोक्ष में भी उसके साथ समवाय सम्बन्ध से अवस्थित रहता है। आत्मा तो संसार में या मोक्ष में बुद्धिगुण से युक्त होता ही है। अतः दोष नहीं है (तद्दर्शनात्-च) तथा मोक्ष में भी आत्मा के गुण का प्रतिपादन दीखता है—"**शृण्वन् श्रोत्रं.....मन्वानो मनः......भवति**" (शत० का० ४। २। १७)=सुनने के हेतु श्रोत्र, मनन के हेतु मन हो जाता है इत्यादि। "**एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः**" (छान्दो० ८।१।४)=यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, भूख-प्यास-रहित होता हुआ सत्य-कामनावाला, सत्यसङ्कल्पवाला है। तथा **एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन्.....अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ.....मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते**" (छान्दो० ८।११। ३—५)=यह आत्मा इस शरीर से=शरीर-बन्धन से पृथक् होकर परम ज्योतिःस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर अपने रूप से व्यक्त होता है। वह उत्तम पुरुष आत्मा है, वहां मोक्ष में विचरता है, खाता-खेलता हुआ जो अनुभव करता है कि मैं यह सूंघता हूं यह आत्मा गन्ध के लिये घ्राण=नाक को.......मन से इन कामनाओं को देखता हुआ रमण करता है इत्यादि। अतः मोक्ष में भी आत्मा के गुण बुद्धि की वर्तमानता से बुद्धि का विमोक्ष नहीं होता, उसके यावदात्मभावी होने से=वस्तु का स्वरूप जब तक है तब तक होने से। अतः आत्मा के अणुत्व प्रतिषेध में बुद्धि का अणु धर्म है, यह हेतु प्रदर्शन हेत्वाभास ही है ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

(सतः-अभिव्यक्तियोगात्) सुषुप्ति के पश्चात् जागृतकाल में और प्रलय के अनन्तर सर्गकाल में बुद्धि की अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है, यह प्रसिद्ध है। किन्तु वह अभिव्यक्ति=प्रकटता विना बीजशक्ति के या नवीन ही नहीं है, क्योंकि जो-जो अभिव्यक्तियोग प्रकटता का प्रसङ्ग है वह अभिव्यक्ति के बीज=अभिव्यक्ति के अव्यक्त पूर्वरूप होने पर ही होती है। क्योंकि

(पुंस्त्वादिवत् तु-अस्य) जैसे पुंस्त्व आदि अर्थात् पुरुष का वीर्यसेचन सामर्थ्य और स्त्री का उस वीर्य को अपने गर्भ में धारणसामर्थ्य, जो यौवन काल में अभिव्यक्त-प्रकट होता है, वह बाल्यकाल में भी उसके अभिव्यक्ति योग=प्रकटता का पूर्वरूप या शक्तिरूप में वर्तमान रहता ही है, अन्यथा नहीं। उसी भांति इस आत्मा के गुण बुद्धितत्त्व का अपूर्व प्रादुर्भाव या बिना अव्यक्त बुद्धि-शक्ति के जगत् काल में या सर्गकाल में नहीं होता है किन्तु सुषुप्ति में और प्रलय में भी उसके सूक्ष्मरूप से वर्तमान होने से होता है। अतः बुद्धि का यावदात्मभावी होना=आत्मा के साथ शाश्वत होना अत्यन्त सिद्ध है। इसलिये जैसे सुषुप्ति में और प्रलय में बुद्धि का अभाव नहीं होता एवं मोक्ष में भी उसका अभाव नहीं, उसके यावदात्मभावी=निजगुणी आत्मा सत्ता के साथ वर्तमान रहने से। अतएव जीवात्मा अणु है, यह सिद्ध होता है॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा॥ ३२॥

(अन्यथा) आत्मा के अणुत्व स्वीकार से अन्यथा अर्थात् विभुवाद में (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः-अन्यतरनियमः-वा) विषयों की नित्य उपलब्धि=प्राप्ति या नित्य अनुपलब्धि=अप्राप्ति का प्रसङ्ग हो जावे। क्योंकि विभुवाद में=विभु मानने में विभु का तो सब पदार्थों के साथ नित्य सम्बन्ध रहने से नित्य उपलब्धि होवे, परन्तु होती नहीं, यह दोष आया। अथवा नित्य अनुपलब्धि ही रहे क्योंकि जो अनुपलब्धि का कोई कारण माना जावे तो विभु के साथ वह सदा रहेगा ही। अथवा अन्य ही नियम कल्पित करना होगा। उस में भी महान् दोष आता है क्योंकि विभु के साथ कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता है॥ ३२॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥ ३३॥

(कर्ता) वह आत्मा कर्ता है। क्योंकि (शास्त्रार्थवत्त्वात्) शास्त्र की अर्थवत्ता से=शास्त्र के सार्थक होने से अन्यथा शास्त्र अनर्थ हो जावे। शास्त्र ही आत्मा के कर्ता होने को लक्ष्य करके विधिनिषेध का उपदेश करता है—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०। २)=इस संसार में कर्मों को करता हुआ या कर्मों के करने के हेतु मनुष्य सौ और बहुत वर्षों तक जीने की इच्छा करे। "**सत्यं वद, धर्मं चर**" (तै० उ० १।११) सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, "**मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्**

प्रयतात्मा जितेन्द्रियः। जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः'' (मनु० ४। १४५)=जितेन्द्रिय, प्रयतात्मा, शुभ कर्मों के आचरण से युक्त हो, नित्य जप करे, होम करे। ''**गां मा हिंसीः**'' (यजु० १३। ४३)=गौ की हिंसा न करे, ''**पशून् पाहि**'' (यजु० १। १)=पशुओं की रक्षा करे, ''**अक्षैर्मा दीव्यः**'' (ऋ० १०। ३४। १३)=पाशों से मत खेल ''**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत**'' (छान्दो० १। १। १)=ओ३म् अक्षर उद्‌गीथ की उपासना करे, ''**एष हि स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**'' (प्रश्नो० ४। ९)=यह ज्ञानस्वरूप, चेतन, स्पर्शकर्ता, श्रवणकर्ता, मननकर्ता, समझनेवाला कर्मकर्ता है॥ ३३॥

विहारोपदेशात्॥ ३४॥

(विहारोपदेशात्) यथेच्छ विहरण=विचरण के उपदेश से आत्मा कर्ता सिद्ध होता है—''**स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तते। एवमेव एष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते**'' (बृह० २। १। १८)=जैसे महान् राजा जनपदाधिकारियों को लेकर अपने जनपद=देश में यथेच्छ आता-जाता है। इसी प्रकार यह आत्मा इन प्राणों को लेकर अपने शरीर में यथेच्छ आता-जाता है। ''**स्वप्ने स ईयतेऽमृतो यत्रकामं.....**'' (बृह० ४। ३। ११-१२)= स्वप्न में वह अमर आत्मा जहां चाहे जाता-आता है॥ ३४॥

उपादानात्॥ ३५॥

(उपादानात्) आत्मा कर्ता है, उपादान इसका कर्म है—''**तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते**'' (बृह० २। १। १७)=इन प्राणों के विज्ञान को बुद्धि से आदान करके जो हृदय में आकाश है यह आत्मा वहां सो जाता है। तथा ''**शुक्रमादाय पुनरेति**'' (बृह० ४। ३। ११)=शुक्र को आदान करके फिर आ जाता है। यहाँ विज्ञान का आदान कर 'शुक्र का आदान कर' शब्दों से उपादान कर्म से आत्मा कर्ता सिद्ध होता है॥ ३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः॥ ३६॥

(क्रियायां व्यपदेशात्-च) विधान की हुई क्रिया में आत्मा के कर्ता होने के व्यपदेश से भी जीवात्मा कर्ता है, यह जाना जाता है। वह व्यपदेश है—''**विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च**'' (तै० उ० २। ५। १) यहां यज्ञक्रिया रूप कर्मविधि में विज्ञान अर्थात् विज्ञानरूप आत्मा कर्ता

कहा गया, विज्ञान नाम आत्मा का है—"**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो.... यस्य विज्ञानं शरीरम्**" (बृह० ३।७।२२) यहां "**य आत्मनि निष्ठन्नात्मनोऽन्तरो.....यस्यात्मा शरीरम्**" यह पाठान्तर है (न चेत्) यदि विज्ञान-निर्देश आत्मा का नहीं किन्तु बुद्धि का निर्देश है, ऐसा कहा जावे, तो (निर्देशविपर्ययः) निर्देश का विपर्यय हो जावे "विज्ञानं यज्ञं तनुते" ऐसा निर्देश न होकर "विज्ञानेन यज्ञं तनुते" ऐसा हो, जैसे अन्यत्र निर्देश है बुद्धि का—"**तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय**" (बृह० २।१।१७) ॥ ३६ ॥

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

(उपलब्धिवत्-अनियमः) आत्मा के कर्तृत्व में जो अनियम दिखलाई पड़ता है कि वह कभी हित का आचरण करता और कभी अहित का अनुष्ठान करता है, यह दोष नहीं है। क्योंकि उपलब्धिवत्=बुद्धि की भांति=अनुभव की भांति यह बात है। उपलब्धि कहते हैं बुद्धि को, जैसे न्यायदर्शन में कहा है—"**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्**" (न्याय० १।१।१५) जैसे आत्मा न नियम से सुख अनुभव करता है और न नियम से दुःख ही किन्तु कभी सुख अनुभव करता है और कभी दुःख अनुभव करता है, तो भी उसके ज्ञातृत्व=ज्ञाता होने की हानि नहीं होती। उसी भांति हित कर्म के आचरण और अहित कर्म के अनुष्ठान में उसके कर्तृत्व की हानि नहीं होती। वह कर्ता=कर्मकर्ता तो सिद्ध है ही, अतः आत्मा कर्ता है बुद्धि नहीं ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

(शक्तिविपर्ययात्) यदि आत्मा कर्ता न हो उससे भिन्न बुद्धि में कर्तृत्व का स्वीकार किया जावे तो आत्मा की शक्ति का विपर्यय दोष आ जावे। बुद्धि तो उसका कारण है जब कि कारण ही कर्ता हो जावे, तब बुद्धि ही सुख-दुःख की जाननेवाली बन जावे, फिर आत्मा के स्वरूप का हानिप्रसङ्ग आ जावे। अतः आत्मा ही कर्ता है ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

(समाध्यभावात्-च) समाधि के अभाव प्रसङ्ग से भी बुद्धि कर्ता नहीं किन्तु उससे भिन्न आत्मा ही कर्ता है। समाधि-निरोध है, निरोध बुद्धि का ही किया जाता है, तब निरोध का कर्ता बुद्धि से भिन्न आत्मा ही सिद्ध होता है अन्यथा समाधि न हो सके। कर्ता स्वयं अपना निरोध तो नहीं

करता है, अतः आत्मा कर्ता है, बुद्धि नहीं॥ ३९ ॥

समाधि में तो सब वृत्तियों का निरोध करनेवाला उस समय कर्तारूप में अवस्थित नहीं होता है, फिर उसका कर्तृत्व कैसे सिद्ध हो ? इस पर कहते हैं—

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

(यथा च तक्षा-उभयथा) जैसा कि बढ़ई वसोले आदि साधनों से तक्षणकाल=काष्ठ के गढ़ने-छीलने काल में तक्षणक्रिया=गढ़ने की क्रिया का कर्ता स्पष्ट दीखता है और अतक्षण काल में=न गढ़ने के काल में तक्षण क्रिया=गढ़ने की क्रिया का कर्ता तो नहीं होता परन्तु तक्षण क्रिया शक्तिवाला तो है ही। सम्बन्ध के अभाव से उस समय उसका अकर्तृत्व है, स्वरूपतः नहीं। वैसे ही आत्मा का भी कर्तृत्व व्यक्त और अव्यक्त रूप से दोनों प्रकार का है ही। बुद्धि तो कार्य करने=कर्म करने में साधक है, बढ़ई के वसोले की भांति। कहा भी है आत्मा कर्ता है—"**एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**" (श्वेता० ५।७)। अतः आत्मा ही कर्ता है॥ ४० ॥

अच्छा न हो बुद्धि में कर्तृत्व किन्तु जीवात्मा में कर्तृत्व हो, परन्तु वह—

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

(परात्-तु) जीवात्मा का कर्तृत्व पर आत्मा=परमात्मा की ओर से है, क्योंकि (तच्छ्रुतेः) परमात्मा के पास से जीवात्मा में कर्तृत्व प्रदर्शन की श्रुति होने से। जैसा कि "**एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं येभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते**" (कौषीतकि० ३।८)=यह परमात्मा ही पुण्य कर्म कराता है जिसे इन लोकों से उन्नत करना चाहता है। यह पाप कर्म करवाता है उससे जिसको नीचे ले जाना चाहता है। अतः जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं। यह पक्षान्तर से प्रश्न है॥ ४१ ॥

उत्तर देते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

(कृतप्रयत्नापेक्षः-तु) परमात्मा बिना निमित्त जीवात्मा को पुण्य-पाप कर्म नहीं कराता है। वह यदि कर्म करने की शक्ति देता है तो जीवात्मा के अपने लिए प्रयत्नानुसार ही पुण्य-पाप में डालता है। जैसे ही जिस आत्मा

ने प्रयत्न धर्म-अधर्म रूप किया है उसे अपेक्षित कर वह पुण्य-पाप लोकों में प्रेरित करता है। यदि तो परमात्मा जीवात्मा के किए कर्म की अपेक्षा न करे तो (विहितप्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः) शास्त्रों में विहितकर्मों का और प्रतिषिद्ध कर्मों का प्रतिपादन व्यर्थ हो जावे। जैसे "**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" (यजु० ४०। १)=त्याग से भोग कर, "**सत्यं वद**" (तै०उ० १। ११। १)=सत्य बोल, इत्यादि विहित कर्मों तथा "**अक्षैर्मा दिव्यः**" (ऋ० १०। ३४। १३)=पाशों से मत खेल, "**मा गृधः कस्य स्विद्धनम्**" (यजु० ४०। १)=किसी के भी धन को मत चाह या मत इच्छा को बढ़ा, धन किस का है? सोच, किसी का नहीं। इत्यादि प्रतिषिद्ध कर्मों का कथन व्यर्थ न हो जावे, अतः जीवात्मा के किए प्रयत्न को अपेक्षित करके पुण्य-पाप लोकों में प्रेरणा करता है तथा विविध शरीर और विविध भोग भी न दिखलाई पड़े। वस्तुतः जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। जीवात्मा के किए प्रयत्न को अपेक्षित कर प्रेरणा वाञ्छित है—"**धियो यो नः प्रचोदयात्**" (ऋ० ३। ६२। १०, यजु० ३६। ३)=परमात्मा हमारी बुद्धियों या अन्तःकरणों को प्रेरित करे। "**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव**" (ऋ० ५। ८२। २५)=परमात्मदेव समस्त दुरितों=दोषों दुःखों को दूर कर और जो पुण्य कल्याण है, उसे हमें प्राप्त करा॥ ४२॥

जीवात्मा के किए प्रयत्न को अपेक्षित करता हुआ परमात्मा जीवात्मा का प्रेरक है यह कहा गया, तब जीवात्मा प्रेरणीय है सो किस सम्बन्ध से यह कहते हैं—

अंशो नानाप्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादि-त्वमधीयत एके॥ ४३॥

(अंशः) जीवात्मा परमात्मा का अंश या अङ्ग है और परमात्मा उसका अंशी=अवयवी या अङ्गी है, अतः उस अंशी या अङ्गी से वह प्रेरणीय है, क्योंकि अङ्गी अङ्ग को प्रेरित करता ही है। परमात्मा का अङ्गरूप जीवात्मा कहा जाता है—"**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो.......यस्यात्मा शरीरम्**" (बृह० ३। ७। २२ पर शतपथपाठः) यहां भौतिक खण्ड सदृश परमात्मा का अंश जीवात्मा है, परमात्मा के अखण्ड होने से।

शाङ्करभाष्य में भी ऐसा ही कहा है—"अंश इवांशः। न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति (शाङ्करभाष्यम्)=अंश के समान अंश है अर्थात् सर्वथा अंश-खण्ड नहीं क्योंकि निरवयव=अवयवरहित=खण्डरहित परमात्मा का

मुख्य अंश अवयव या खण्डन सम्भव नहीं है, यह शङ्कराचार्य का भी कथन है। वस्तुत: जीवात्मा को परमात्मा का अंश होना परमात्मा के अन्दर उसका एकदेशी स्थितिरूप से वर्तमान होने के कारण है। परमात्मा का अंशरूप जीवात्मा क्यों कहा गया? क्यों नहीं जीवात्मा भी परमात्मा ही समझा जावे, दोनों में चेतनता समान होने से परमात्मा ही जीवात्मा हो, फिर एक ही चेतनसत्ता हो? इस पर कहते हैं (नानाव्यपदेशात्) परमात्मा और जीवात्मा दोनों का भेद से प्रतिपादन होने के कारण दोनों एकसत्ता नहीं हैं किन्तु जीवात्मा तो परमात्मा का अंश ही है। दोनों का भेद कहा है— "**सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**" (छान्दो० ८।७।१)=उसे खोजना चाहिए, उसे जानना चाहिए। यहां खोजने योग्य=जानने योग्य वस्तु परमात्मा और खोजनेवाला जाननेवाला जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न हुए। "**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तै०उ० २।७)=परमात्मा रसरूप आनन्दरूप है, उस रसरूप आनन्दरूप परमात्मा को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनन्दी हो जाता है। यहां भी आनन्दरूप परमात्मा प्राप्तव्य और उसे प्राप्त कर आनन्दी आनन्दवान् बन जानेवाला जीवात्मा है। प्राप्तव्य और प्राप्तकर्ता भिन्न-भिन्न कहे हैं। वेद में भी—"**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**" (ऋ० १।१६४।२०) यहां जीवात्मा फल का भोक्ता और परमात्मा भोक्ता न होता हुआ साक्षी है, इस प्रकार दोनों भिन्न-भिन्न कहे हैं। दूसरा हेतु उसके अंश होने में यह है (अन्यथा) यदि जीवात्मा परमात्मा का अंश न हो किन्तु परमात्मा ही जीवात्मा हो तो फिर (दाशकित-वादित्वम्-अपि-एके-अधीयते) परमात्मा में दाशत्व=भाण्डधर्म कितवत्व=जुवारीपन का दोष भी आजावे क्योंकि कुछ शाखा वाले पढ़ते हैं कि "**ब्रह्मदाशा [दासद्!] ब्रह्मदासा [दासद् ?] ब्रह्मेमे कितवा उत। स्त्रीपुंसौ ब्रह्मणो जातौ**" (पैप्पलाद संहिता, ८।१।१०) ऐसा पढ़ते हैं। संसार में ब्रह्म से दाश=दास, भाण्ड=भड़वे व्यभिचारी और ब्रह्म से कितव= जुवारी तथा ब्रह्म से स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए, ये सब ब्रह्म हो जावें, यदि ब्रह्म से भिन्न कर्मकर्ता जीवात्वा न हो। ब्रह्म में व्यभिचार करने और जुवा खेलने का दोष आ जावे। अत: परमात्मा का अंशरूप जीवात्मा है॥ ४३॥

अंश होने में अन्य हेतु भी देते हैं—

मन्त्रवर्णाच्च॥ ४४॥

(मन्त्रवर्णात्-च) मन्त्र=वेद में वर्णन होने से भी परमात्मा का अंश

जीवात्मा है, यह सिद्ध होता है। "**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (ऋ० १०।९०।३)= समस्त भूत=चराचर को उस परमात्मा का पाद कहा गया है, पाद=अवयव= अंश हुआ।

शाङ्करभाष्य में भी परमात्मा का अंश जीवात्मा है इस विषय में यह मन्त्र प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। यहां यह भी जानना चाहिए कि जो अंशी परमात्मा का अंश जीवात्मा कहा गया है वह खण्डभाव=टुकड़ा होने से नहीं, क्योंकि स्थावर पदार्थ भी तो उसके अंशरूप में कहे गए हैं, वे उसके खण्ड होने सम्भव नहीं हैं। उसके अखण्ड होने से तत्साहचर्य से जीवात्मा भी खण्डरूप से अंश नहीं किन्तु केवल एकेदशी वृत्ति से ही है।

यहां शाङ्करभाष्य में मन्त्र अर्थात् वेदमन्त्र=वेदवचन उदाहृत नहीं किया किन्तु छान्दोग्योपनिषद् का वचन उदाहृत किया है। जबकि इस शास्त्र में तथा अन्य शास्त्र में मन्त्र शब्द से 'वेदवचन' लिया जाता है तब उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, वह यह आलोचन-प्रकार देखिये— "**मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते**" (वेदा० १।१।१५) इस सूत्र पर॥ ४४॥

अपि च स्मर्यते॥ ४५॥

(अपि च स्मर्यते) अपितु वह अंश-निरूपक मन्त्रवर्णन उपनिषद् में भी स्मरण किया है—"**तदेतदृचाभ्युक्तम्-तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति**" (छान्दो० ३। १२।६)॥ ४५॥

जीवात्मा अंश परमात्मा अंशी है, तब उस अंशरूप जीवात्मा के पीड़ित दूषित या अविद्यादि क्लेशों से युक्त होने पर उसके साथ अंशी परमात्मा भी पीड़ित, दूषित, अविद्यादि क्लेशों से युक्त हो जावे, क्योंकि अंश के विकार से अंशी विकारवान् हो जाता है, यह देखा जाता है। इस पर कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः॥ ४६॥

(परः-न-एवम्) पर आत्मा=परमात्मा जीवात्मा की भांति अपने अंशरूप जीवात्मा के पीड़ित—दूषित या अविद्यादि क्लेशों से युक्त के साथ पीड़ित दूषित या अविद्यादि क्लेशों से युक्त नहीं होता। (प्रकाशादिवत्) जैसे कि प्रकाश या आकाश अपने मलिन एकदेश में स्थित मलिन वस्तु रूप एकदेश के साथ मलिन नहीं होता है।

अन्य व्याख्यामार्ग—(एवं प्रकाशादिवत्-न परः) इस प्रकार प्रकाशादिवत्=अग्नि, जल, पृथिवी की भांति अंशवान्= अवयववाला पर=परमात्मा नहीं है, जिससे वह अंश=खण्ड या अवयव के दूषित होने से दूषित हो जावे, क्योंकि वह तो अमूर्त है, अमूर्त अपने एकदेशस्थ द्रव्य से दूषित कभी नहीं होता है ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

(स्मरन्ति) परमात्मा का सुखदुःखादि से रहित होना स्मृति में भी पढ़ा है। (च) से श्रुति भी कहती है। स्मृति में—"तत्र यः परमात्मा स हि नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशैकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥" (व्यासस्मृति)=जो परमात्मा नित्य निर्गुण है, वह सुख-दुःख फलों से जल में पद्मपत्र की भांति निर्लेप रहता है। जो कर्मकर्ता जीवात्मा है वह मोक्ष और बन्धों से युक्त होता है, वह १७ ज्ञानेन्द्रिय आदि लक्षणों से—पुनः पुनः युक्त होता है। तथा "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**" (योग० १। २४)=ईश्वर तो क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से सम्पर्क रहित है। श्रुति—"**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि-चाकशीति**" (ऋ० १। १६४। २०)=जीवात्मा फल को भोगता है, परमात्मा न भोगता हुआ साक्षीमात्र रहता है ॥ ४७ ॥

जीवात्मा को परमात्मा का अंश स्वीकार कर लेने पर शास्त्र में कहे अनुज्ञा और परिहार न बन सकेंगे, क्योंकि परमात्मा निराकार, नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त, स्वभाव है। उसके अंश जीवात्मा को भी वैसा ही होना चाहिए। पुनः उसके लिये शास्त्र के अनुज्ञा=सत्कर्मविधि और परिहार=असत्कर्म प्रतिषेध नहीं बन सकते। इस प्रकार कहते हैं—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

(अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धात्) शास्त्र में कहे अनुज्ञा और परिहार= सत्कर्म विधि और असत्कर्म प्रतिषेध जीवात्मा के प्रति बन जावेंगे, देह के सम्बन्ध से, देह में प्रवेश करने से। परमात्मा तो अजन्मा और अकाय है जीवात्मा उसका अंश होता हुआ भी देह में प्रवेश करता है। देह में विधि प्रतिषेध का व्यवहार हुआ करता है (ज्योतिरादिवत्) अग्नि आदि जैसे स्थान के सम्बन्ध से आदान=ग्रहण करने और परिहार=त्यागने के योग्य हुआ करते हैं। जैसे पुरोहित के घर का अग्नि ग्रहण करने योग्य और श्मशान का अग्नि त्यागने योग्य होता है। बहते नदी-सोते का जल ग्रहण

करने योग्य और रुके हुए छोटे जलाशय का जल त्यागने योग्य होता है। इसी प्रकार देहसम्बन्ध से जीवात्मा के लिये अनुज्ञाविधि और परिहार=प्रतिषेध हो सकते हैं॥ ४८॥

यदि देह के सम्बन्ध से अनुज्ञा और परिहार हों तो उनके फलों को व्यतिकर=सङ्कर, अदल बदल=उलटफेर हो जावे, क्योंकि शरीरसम्बन्ध समस्त जीवात्माओं का समान है। अन्य के लिए कर्म का फलभोक्ता अन्य हो जाया करेगा। इस पर कहते हैं—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः॥ ४९॥

(अव्यतिकरः) व्यतिकर=सङ्कर नहीं आयेगा, अन्य के किये कर्म का फलभोक्ता अन्य न बनेगा। क्योंकि (असन्ततेः-च) सन्तति=सन्तान= संश्लेष=अपृथकता के अभाव से, जीवात्माओं के शरीर पृथक्-पृथक् हैं, सबका एक शरीर नहीं होने से पृथक्-पृथक् होने से। अतः एकदेही=देह में वर्तमान जीवात्मा के कर्म का फल दूसरी देह में वर्तमान जीवात्मा न भोग सकेगा, अतः कर्मफल का सङ्कर या अदला-बदली न हो सकेगी॥ ४९॥

आभास एव च॥ ५०॥

(आभासः-एव च) और भी दूसरा हेतु यह भी है कि कर्मफल के सङ्कर या अदलाबदली न होने में कि जीवात्मा आभास=ईषद्भास थोड़ी शक्तिवाला एवं अल्पज्ञ है, उसके अणु होने से। जिस शरीर से युक्त या सम्बन्ध को प्राप्त है, उसे छोड़कर अन्य शरीरों में अन्य जीवात्मा के किये कर्मफल को भोगने नहीं संक्रमित हो सकता, नहीं जा सकता। अतः जीवात्मा परमात्मा का अंश होता हुआ अल्पज्ञ, अदृश्य, शक्तिमान् और एक शरीरवर्ती है, यह सिद्ध हुआ॥ ५०॥

अदृष्टानियमात्॥ ५१॥

(अदृष्टानियमात्) जीवात्माओं के विभुवाद में सुख-दुःख भोगों का सांकर्य दोष नहीं आयेगा अदृष्ट के कारण, यदि ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं, अदृष्ट के अनियम से=अदृष्ट का नियम न हो सकने से; क्योंकि किसी भी शरीर में धर्म-अधर्म वाला अदृष्ट समस्त जीवात्माओं का समान है। उनके विभु होने से सब ही जीवात्माएं प्रत्येक शरीर में रहते हैं, तब वे सब ही उस अदृष्ट से संयुक्त हो जावेंगे। तब ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस जीवात्मा का यह अदृष्ट है और इसका नहीं है। अतः जीवात्मा का विभुवाद ठीक नहीं है॥ ५१॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्॥ ५२ ॥

(अभिसन्ध्यादिषु-अपि च-एवम्) अभिसन्धि=अभिविचार=लक्ष्य विचार, सङ्कल्प आदि से ज्ञान और प्रयत्न। अभिसन्धि आदि=सङ्कल्प ज्ञान और प्रयत्न आदि जीवात्माओं के विभुवाद में सुख, दु:ख, भोग के साङ्कर्य= अदला-बदली को हटा देंगे, ऐसा कहा जावे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इन में भी वैसा ही दोष बना रहता है। जो भी मैं इसे प्राप्त करूं या छोड़ूं या जानता हूँ या इसे करता हूं इत्यादि ये अभिसन्धि आदि=सङ्कल्प आदि व्यवहार एक ही आत्मा के नहीं हो सकेंगे, सब के विभु होने से। अत: अदृष्ट की भांति वे अभिसन्धि आदि=सङ्कल्प आदि के भी अनियम से= नियम के अभाव से। अत: जीवात्माओं का विभुवाद ठीक नहीं॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्॥ ५३ ॥

(प्रदेशात्-इति चेत्) उक्त अभिसन्धि आदि=सङ्कल्प आदि, सङ्कल्प ज्ञान और प्रयत्न मन के संयोग से हुआ करते हैं और मन का संयोग शरीर के प्रदेश=हृदय में होता है, मन के वहां प्रतिष्ठान से—"**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**" (यजु० ३४। ६)=हृदय में प्रतिष्ठित गतिशील, अत्यन्त वेगवाला मन कहा गया है। अत: जीवात्माओं के विभुवाद में सुख-दु:ख भोग का साङ्कर्य या अदला-बदली न होगी, यदि यह कहा जावे तो (न-अन्तर्भावात्) ठीक नहीं, क्योंकि वहां हृदय-प्रदेश में भी एक ही आत्मा न होगा किन्तु उनके विभु होने से वहां सब ही जीवात्माओं की विद्यमानता होगी, उनके सब के वहां अन्तर्भाव से अन्दर वर्तमान होने से। अत: जीवात्माओं का विभुवाद निर्दोष नहीं अणुवाद ही सुसिद्ध है॥ ५३ ॥

द्वितीय अध्याय में तृतीय पाद सभाषानुवाद समाप्त॥

चतुर्थ पाद

तथा प्राणाः॥ १ ॥

(तथा प्राणा:) 'प्राणा:' यहां इन्द्रियां हैं। जैसा कि कहा है "**अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे अहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति। ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः**" (छान्दो० ५। १। ६-७)=प्राण=इन्द्रियों ने मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, इस विषय में विवाद किया। पुन: प्रजापति पिता के पास गए। ऐसा प्रारम्भ कर उन प्राणों=इन्द्रियों में से श्रेष्ठता के परीक्षणार्थ शरीर में से "**सा ह वागुच्चक्राम...। चक्षुर्होच्चक्राम...। श्रोत्रं होच्चक्राम...।**"

(छान्दो० ५।१।८, ९)=वाणी चली गई, नेत्र चला गया, श्रोत्र चला गया। तथा "**य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते**" (बृह० २।१।१७)=प्राणों के विज्ञान, गन्ध आदि अनुभूति को लेकर.......इत्यादि कथन में प्राण-इन्द्रियां कहीं हैं। सूत्र में 'तथा' शब्द उत्पत्ति-क्रम वाली उपमा को कहता है। वहां उत्पत्तिक्रम में प्राणों की उपमा दी है आकाश-वायु आदि उत्पत्ति वालों से, जिसके अनन्तर पिछला पाद उत्पत्ति प्रकरण वाला था। उसके साथ वाले पाद के प्रारम्भ में उत्पत्ति विषय होना चाहिए ही था, अतः इस पाद में प्राणों का उत्पत्तिवाला=उत्पन्न होना लक्ष्य करके 'तथा' से उपमा दी है कि यथा=जैसे आकाश आदि उत्पत्तिवाले=उत्पन्न हुए हैं तथा=वैसे प्राण=इन्द्रियां भी उत्पत्तिवाली=उत्पन्न हुई हुईं हैं॥ १॥

गौण्यसम्भवात्॥ २॥

(गौण्यसम्भवात्) गौणी का असम्भव=गौण्यसम्भव। गौणी के असम्भव से। यदि कहा जावे कि प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं होती है जहां कहीं उनकी उत्पत्ति दर्शाई गई है, वह गौणी है मुख्या नहीं है, क्योंकि आकाश आदि के उत्पत्ति-प्रकरण में प्राणों की उत्पत्ति नहीं दिखलाई— "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः।**" (तै०उ० २।१) यहां आकाश आदि की उत्पत्ति तो कही है, परन्तु इनके साथ प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं कही है। अतः वह गौणी जाननी चाहिए, यदि ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं, क्योंकि प्राणों-इन्द्रियों की गौणी उत्पत्ति का असम्भव है। जिस इस वचन को उनकी उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए आधार बनाया जा रहा है, उसी वचन में "अन्नात् पुरुषः" पुरुष अर्थात् शरीर को उत्पन्न हुआ कहा गया है ही। शरीर है प्राणों=इन्द्रियों का आयतन="**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्**" (न्याय० १।१।११) पुनः प्राणों-इन्द्रियों के आयतन शरीर की उत्पत्ति के साथ प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वतः आ ही जाती है, अतः प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति गौण नहीं है॥ २॥

तथा—

तत्प्राक् श्रुतेश्च॥ ३॥

(तत्प्राक् श्रुतेः-च) उन आकाश आदि से पूर्व प्राणों=इन्द्रियों की

उत्पत्तिविषयक श्रुति के होने से भी तथा स्मृति से इन्द्रियों की उत्पत्ति स्पष्ट होती है। श्रुति—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**" (मुण्ड० २।१।३) इस वचन में आकाश आदि की उत्पत्ति से पूर्व प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है। तथा "**स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी।**" (प्रश्नो० ६।४) यहां भी आकाश आदि से पूर्व प्राण की उत्पत्ति दिखलाई है। स्मृति—"**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि**" (सांख्य० १।६१) यहां दोनों प्रकार की इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश-वायु आदि स्थूल भूतों से पूर्व कही गई है॥ ३॥

यदि आकाश आदि से पूर्व प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति श्रुतियों में कही गई तब छान्दोग्योपनिषद् में "**अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति**" (छान्दो० ६।५।४,) ६।६।५, ६।७।६) तेज आदि के पश्चात् 'आपोमयः प्राणः' मयट् प्रत्यय विकार अर्थवाले से प्राण की उत्पत्ति क्यों दिखलाई है? इसका उत्तर देते हैं—

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः॥ ४॥

(वाचः-तत् पूर्वकत्वात्) "**अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति**" (छान्दो० ६।५।४, ६।६।५, ६।७।६) इस वचन में मयट् प्रत्यय से वाक्, प्राण, मन की उत्पत्ति नहीं दिखलाई जा रही है, इसलिये कि वाक् इन्द्रिय या प्राणपूर्वक होने से-वाक्=वाणी की प्राणपूर्वक ही उत्पत्ति सम्भव है। शरीर में प्राण उत्पन्न हो जाने पर ही वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है किन्तु इस वचन में तो वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति प्राण से पूर्व दिखलाई है, क्योंकि यहां '**तेजोमयी वाक्**'=अग्निरूप वाक् इन्द्रिय है और तेज=अग्नि तो जल और अन्न=पृथिवी के सृष्टिक्रम=उत्पत्तिक्रम में प्रथम उत्पन्न होता है यह कहा गया है—"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्.....**" (तै०उ० २।१) अतः इस प्रकार वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति अग्नि से होने के कारण प्रथम समझी जावेगी, क्योंकि तेज-अग्नि के पश्चात् ही जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है, इससे तो जलों से प्राण की उत्पत्ति वाक् इन्द्रिय के पश्चात् बैठती है जो कि श्रद्धेय नहीं है। शास्त्रीय एवं भौतिक उत्पत्तिक्रम की परम्परा के विरुद्ध होने से। अतः "अन्नमयं हि सोम्य मनः....." इत्यादि वचन से प्राणों=

इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि से पुरातनी है, इसका विरोध नहीं आता। "अन्नमयं हि मन:" में मयट् किस लिये है? सो कहते हैं कि मयट् प्रत्यय का प्रयोग पूर्व से उत्पन्न प्राण आदियों की शक्ति के आविर्भावार्थ है, यह वहां ही उपक्रम से जाना जाता है, जैसा कि "दध्न: सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति तत्सर्पिर्भवति। एवमेव खलु सोम्यान्न-स्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति तन्मनो भवति। अपामश्य-मानस्य योऽणिमा स समुदीषति स प्राणो भवति। तेजस: सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति सा वाग् भवति। अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमय: प्राणस्तेजोमयी वागिति" (छान्दो० ६।६।१-५) अर्थात् मथी जाती हुई दही का जो सूक्ष्म भाग है वह ऊपर आ जाता है। वह घृत (मक्खन) होता है। इसी प्रकार खाए जाते हुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग है वह मन होता है। जो खाए-पीए जाते हुए जलों का सूक्ष्म भाग है वह ऊपर आ जाता है, वह प्राण होता है। खाए जाते हुए तेज=अग्नि का जो सूक्ष्म भाग है वह ऊपर आ जाता है, वह वाक् इन्द्रिय हो जाता है। अत: मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाक् इन्द्रिय तेजोमयी=अग्निमयी है। मन में शक्ति का आविर्भाव अन्न से होता है, प्राण में शक्ति का आविर्भाव जल से होता है और वाक् इन्द्रिय में शक्ति का अविर्भाव तेज-अग्नि=आग्नेय पदार्थों के सेवन से होता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि प्राणों=इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि से पूर्व होती है ॥ ४ ॥

ठीक है प्राण-इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं, पर वे कितनी हैं, यह कहते हैं—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

(सप्त) प्राण सात हैं। सो कैसे (गते:-विशेषितत्वात्-च) सामान्य गति=सामान्य रीति एवं ज्ञान से और विशेषित होने से=पृथक्-पृथक् प्रतिपादन से भी—"**सप्त प्राणा: प्रभवन्ति तस्मात्**" (मुण्ड० २।१।८)=सात प्राण होते हैं यह सामान्य गति-सामान्य विधान है—"**सप्त वै शीर्षण्या: प्राणा: द्वौ कर्णा द्वे चक्षुषी द्वे नासिके मुखञ्च**" (तै०सं० ५।१।७।१)=सिर में सात प्राण हैं—दो कान, दो आंखें, दो नाक=नाक के छिद्र और मुख=ये सात हुए। ये पृथक्-पृथक् नाम से विशेषित किए हैं, अत: सात प्राण हैं ॥ ५ ॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

(हस्तादय:-तु) हाथ आदि भी तो हैं सात से अतिरिक्त प्राण—

"**हस्तौ वै ग्रहः**" (बृह० ३।२।८) "**हस्तौ चादातव्यं च**" (प्रश्नो० ४।८) यहां दोनों प्रकरणों में हाथ आदि का परिगणन कराया है, वे सात से अतिरिक्त हैं। तथा "**दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः**" (बृह० ३। ९।४) शरीर में दश प्राण-इन्द्रियां हैं, ग्यारहवां मन या अन्तःकरण है। यहां आत्मा शब्द से मन या अन्तःकरण लिया जाता है, इन्द्रिय उपकरण के अधिकार होने से, ऐसा ही शङ्कराचार्य ने भी कहा है—"आत्मशब्देनान्तः करणं परिगृह्यते करणाधिकारात्" (शाङ्करभाष्यम्) "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं च सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति**" (बृह० ४।४।२)=उस जीवात्मा के उत्क्रमण-शरीर से निकल जाने के साथ प्राण निकल जाता है, प्राण के निकल जाने के पीछे-पीछे सारे प्राण= इन्द्रियां=इन्द्रियशक्तियां निकल जाती हैं। इस प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवां मन या अन्तःकरण हुआ, ये ग्यारह प्राण=इन्द्रियां हुईं (स्थिते) ऐसा सिद्धान्त सिद्ध होने पर (अतः-न-एवम्) सात ही प्राण हैं, ऐसी बात नहीं। यह सात का कथन तो मुखभाग=ग्रीवा से ऊपर के भाग में छिद्रों की दृष्टि से है॥ ६॥

अणवश्च ॥ ७॥

(अणवः-च) वे ये प्राण=इन्द्रियां=इन्द्रियशक्तियां सूक्ष्म हैं। कैसे ये प्रत्यक्ष तो स्थूल हैं नेत्र आदि। इसीलिये यह सूत्र कहा गया है कि गोलकों को देखकर लोग न समझ बैठें कि इन्द्रियां स्थूल हैं। ये तो इन्द्रियों के गोलक हैं। इन गोलकों में वृत्तिरूप या शक्तिरूप प्राण=इन्द्रियां तो सूक्ष्म ही हैं, यह जानना चाहिए। उनका सूक्ष्म होना सङ्केतित किया भी है— "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं च सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति**" (बृह० ४।४।२)=मुख्य प्राण के उत्क्रमण के साथ अन्य नेत्रादि प्राणों=इन्द्रियों का उत्क्रमण भी कहने से सङ्केत किया जाता है कि वे प्राण=इन्द्रियां सूक्ष्म हैं क्योंकि प्राण के उत्क्रान्त हो जाने=निकल जाने पर नेत्र आदि गोलक तो बने ही रहते हैं॥ ७॥

श्रेष्ठश्च ॥ ८॥

(श्रेष्ठः-च) श्रेष्ठ=ज्येष्ठ=मुख्य प्राण भी उत्पत्तिमान्=उत्पन्न होने वाला और अणु है। वह श्रेष्ठ=ज्येष्ठ या मुख्य प्राण कौन है, सो कहते हैं। जो कि शरीर में प्राणन क्रिया करता है, जीवन सञ्चार करता है, जो कि अपने को पञ्च प्रकार से विभक्त करके शरीर में रहता है, जिसके विषय में कहा है "**तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं**

प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति'' (प्रश्नो० २ । ३)=उन नेत्रादि प्राणों को श्रेष्ठ=मुख्य प्राण बोला—तुम मोह-अभिमान में चूर या मुग्ध मत होओ, मैं ही अपने को पांच प्रकार से विभक्त करके इस शरीर-भार को पकड़ कर धारण कर रहा हूं। फिर उसकी श्रेष्ठता कैसे है, सो कहते हैं—यद्यपि प्राण की श्रेष्ठता लोक में प्रसिद्ध है तथापि शास्त्र से उसकी श्रेष्ठता बतलाई जाती है—''**तेऽश्रद्दधाना बभूवुः......सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते.......ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति......या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या च चक्षुषि या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः**'' (प्रश्नो० २ । ४-१२) उक्त कथन सुनकर उन नेत्र आदि प्राणों ने श्रद्धाहीन हुए मुख्य प्राण के कथन की उपेक्षा की। पुनः वह मुख्य प्राण शरीर से ऊपर निकलने को जैसे हुआ तो उसके निकलने के साथ अन्य सब नेत्र आदि प्राण भी निकलने लगे, पुनः उसके रहने पर रह गये। वे प्रसन्न हुए नेत्र आदि प्राण मुख्य प्राण की स्तुति करने लगे कि हे प्राण! जो तेरा अंश वाक् इन्द्रिय में रखा है जो श्रोत्र में, जो नेत्र में, जो मन में, उसे कल्याणरूप बना, शरीर से मत निकल। क्योंकि ''**न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्**'' (बृह० ६ । १ । १३)=तेरे बिना हम जीवित नहीं रह सकेंगे।''**प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च**'' (छान्दो० ५ । १ । १)=मुख्य प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वह यह मुख्य प्राण भी उत्पन्न होता है, सो कहा भी है''**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**'' (मुण्ड० २ । १ । ३)=इस परमात्मा से प्राण उत्पन्न होता है, मन और सारी इन्द्रियां भी उत्पन्न होती हैं ॥८ ॥

और वह श्रेष्ठ प्राण—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

(वायुक्रिये न) वायु और क्रिया, तत्क्रिया वायु की क्रिया। वह श्रेष्ठ या मुख्य प्राण किस स्वरूपवाला है, सो कहते हैं। वह प्राण क्या प्रसिद्ध वायु है या वायु की क्रिया है जैसा कि अन्यत्र कहा है—''**यः स प्राणो वायुः सः**'' (जै० उ० १ । २६ । १)=यह जो प्राण है वायु है तथा''**वायुर्वाव संवर्गः·····इत्यधिदैवतम्.....अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः**'' (छान्दो० ४ । ३ । २-३)=भौतिक देवताओं में संवर्ग वायु है और शरीर में संवर्ग प्राण है। भौतिक वायु की समानता प्राण से की है। इस प्रकार प्राण एक वायु है ऐसा प्रतिभासित होता है। दूसरे प्राण क्या शरीर में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की व्यवहाररूप वायुक्रिया=वायु की विशेष क्रिया है ? क्योंकि शरीर में प्रत्येक

इन्द्रिय की व्यहाररूप क्रिया से प्राण का अनुमान होता है। सो उत्तर में कहा है कि यह मुख्य प्राण न वायु है और न ही वायु की क्रिया है, सो क्यों(पृथक् उपदेशात्) उसके पृथक् वर्णन से, जैसा कि "**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः....**" (मुण्ड० २।१।३) यहां प्राण का उपदेश वायु से पृथक् प्रथम ही किया है। तथा "**स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः......**" (प्रश्नो० ६।४) यहां भी प्राण का उपदेश वायु से पृथक् प्रथम किया है। अतः वह वायु नहीं है। जबकि वह वायु ही नहीं। तब शरीर के अन्दर वह वायु की क्रिया भी नहीं है, शरीर में बाह्य वायु के द्वारा कोई जीवन क्रिया नहीं होती। जहां कहीं प्राण का वायु होना कहा गया। वह चलन धर्म की समानता से गौण रूप में कहा गया है सामान्य ज्ञानार्थ, जैसा कि जगत् में वायु चलन धर्मवाला स्वयं चलता है, दूसरों को चलाता है। ऐसे ही शरीर में प्राण भी चलन धर्मवाला है, स्वयं चलता है, दूसरों— शरीरस्थ रक्त आदि को चलाता है; परन्तु वह तो शक्तिरूप है॥ ९॥

अच्छा, मुख्य प्राण वायु न हो और न वायु की क्रिया हो परन्तु इससे उसका कोई विशेष स्वरूप लक्षित नहीं होता कि वह किस सत्ता वाला है, वह कहना चाहिए। सो कहते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः॥ १०॥

(चक्षुरादिवत्-तु) वह मुख्य प्राण नेत्र आदि के समान जीवात्मा का विशेष साधन है। कैसे जाना जाता है सो कहते हैं (तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः) उन नेत्र आदि इन्द्रियों के साथ उस मुख्य प्राण की शिक्षा-शासन-उपदेश-प्रतिपादन आदि होने से तथा शरीरधारण करने के विषय में विवाद और निर्णय से भी। जैसा कि "**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**" (मुण्ड० २।१।३) परमात्मा की ओर से प्राण मन और सारी इन्द्रियां उत्पन्न हुईं। इस वचन में नेत्र इन्द्रियों के साथ प्राण की, शरीर के अन्दर उत्पत्ति की शिक्षा या उसका उपदेश किया है। तथा "**अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे....**" (छान्दो० ५।१।६)=मुख्य प्राण के नेत्र आदि प्राणों ने विवाद किया, अपने-अपने को बड़ा सिद्ध करने को। विवाद करने वालों की उस विवादप्रसङ्ग में कोई समानता होती है। पुनः "**सा ह वागुच्चक्राम......चक्षुरुच्चक्राम.....**" **अथ ह प्राणा उच्चक्रमिष्यन्.... तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं**

प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति......." (छान्दो० ५ । १ । ७-१३)=सब इन्द्रियों ने मिलकर कहा तू श्रेष्ठ है, मत शरीर से निकल। वाक् इन्द्रिय ने कहा जो मैं वसिष्ठा हूँ सो तू वसिष्ठ है। नेत्र ने कहा, जो मैं प्रतिष्ठा हूं सो तू प्रतिष्ठ है, इत्यादि कथन में निर्णय नेत्र आदि के बीच में प्राण के श्रेष्ठ होने से भी मुख्य प्राण नेत्र आदि के समान जीवात्मा का विशेष साधन है, यह सिद्ध हुआ॥ १०॥

यदि कोई शङ्का करे कि मुख्य प्राण तो नेत्र आदि के समान जीवात्मा का विशेष साधन है, तब उसका भी कोई रूप आदि जैसा विषय होना चाहिए, यह प्रसङ्ग आ जावेगा। इस विषय में उत्तर देते हैं—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥ ११॥

(अकरणत्वात्-च न दोषः) ठीक है, मुख्य प्राण नेत्र आदि के समान जीवात्मा का उपयोगार्थ साधन है परन्तु वह अकरण है, नेत्रादि की भांति इन्द्रिय नहीं है। अतः रूपादि किसी विषय वाला होने का प्रसङ्ग नहीं होता मुख्य प्राण में। यदि मुख्य प्राण भी नेत्रादि की भांति गन्ध आदि विषय का ग्राहक हो जावे, तब श्रुति-स्मृतियों में उसके रूप आदि विषय का वर्णन भी किया जावे, किन्तु वह तो नेत्र आदि इन्द्रियों से विलक्षण ही है (तथा हि दर्शयति) वैसे ही श्रुति दर्शाती है—"**यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः**" (छान्दो० ५ । २ । ६-७)=जिस प्राण के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त दूषित दिखाई पड़े वह तुम्हारे में श्रेष्ठ है। "**तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति**" (छान्दो० १ । २ । ९)=उस से जो खाता है-पीता है, उससे अन्य प्राणों=इन्द्रियों की रक्षा करता है। "**प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्**" (बृह० ४ । ३ । १२)=प्राण से इस स्थूल शरीर की रक्षा करता है। "**यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव शुष्यति**" (बृह० १ । ३ । १९)=जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है वह सूख जाता है। इस प्रकार और इन्द्रियों का धारण-रक्षण-पोषण-जीवन यह सब प्राण का व्यापार या धर्म या कार्य है, यह जानना चाहिए॥ ११॥

इस प्रकार वह मुख्य प्राण जीवात्मा का विशेष साधन है नेत्रादि की भांति, और उन नेत्रादि से भिन्न भी होता हुआ स्वरूप से वह—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते॥ १२॥

(पञ्चवृत्तिः-मनोवत्-व्यपदिश्यते) वह मुख्य प्राण मन की भांति पांच वृत्तियों वाला कहा जाता है। मन यहां अन्तःकरण है, जैसे ही अन्तःकरण

की वृत्तियां हैं मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, ऐसे ही मुख्य प्राण भी वृत्तिभेद से भिन्न-भिन्न नामों से पांच प्रकार का कहा जाता है। अन्तःकरण तो चार व्यवहार भेदों से मन-बुद्धि-चित्त अहङ्कार नामों से कहा जाता है। प्राण के नाम व्यापारभेद से पांच नाम हैं—"**प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽत इत्येत्सर्व प्राण एव.....**" (बृह० १।५।३) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान हैं। प्राण का वृत्तिव्यापार और कार्यविभाग कैसा? वह भी कहा गया है—"**एष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते। पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते, मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समुन्नयति........। नाडीशाखासु व्यानश्चरति**" (प्रश्नो० ३।४-६)=यह मुख्य प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् व्यवस्थित करता है। गुदा और उपस्थ में अपान को, आंख-कान में मुख-नाक द्वारा स्वयं प्राण रहता है, मध्य शरीर में समान यही खाए हुए अन्न का सम्यक् रस पाक करता है, नाड़ी शाखाओं में व्यान विचरता है। 'मनोवत्' शब्द में वृत्ति भेद की समानता चित्त की पांच वृत्तियां हो सकती हैं—"**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**" (योग० १।६) प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति हैं। प्राण की वृत्तियां प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान हैं॥ १२॥

अणुश्च॥ १३॥

(अणुः-च) चकार से 'अणुश्च मनोवत्' मनोवत् का अनुवर्तन है। प्राण अणु भी है मन की भांति। जैसे मन अणु है, ऐसे ही प्राण अणु सूक्ष्म है भी। इन्द्रियों में मन की भी गणना है। जैसे मन इन्द्रिय होता हुआ अणु-सूक्ष्म इन्द्रिय है, ऐसे मुख्य प्राण अणु-सूक्ष्म है। यद्यपि श्वास-प्रश्वास से स्थूल-सा प्रतिभासित होता है, किन्तु स्थूल नहीं अपितु सूक्ष्म है। अपनी पांच वृत्तियों से समस्त शरीरव्यापार करने से शरीर से निकलते हुए आत्मा के साथ निकलने के कारण सूक्ष्म है। कहा भी है "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति**" (बृह० ४।४।२)=शरीर से निकलते हुए आत्मा के साथ प्राण भी निकल जाता है॥ १३॥

अच्छा, वह नेत्र आदि प्राण शरीर में किस को अधिष्ठान मान कर रहते हैं, सो कहते हैं—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्॥ १४॥

(ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु) उन नेत्र आदि प्राणों का ज्योति आदि, अग्नि

आदि पञ्चभूत अधिष्ठान तो हैं ही, वे अधिष्ठानरहित नहीं हैं। पाञ्चभौतिक शरीर होने से उनका अधिष्ठान पांच भूत होने ही चाहिएं। (तदामननात्) वैसा उनके अधिष्ठान का श्रुति में प्रतिपादन होने से—"**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्**" (ऐ०ब्रा० २।४)=अग्नि वाक् इन्द्रिय बनकर मुख में प्रविष्ट हो गई, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हो गई, सूर्य दृष्टिशक्ति बनकर आंख गोलकों में प्रविष्ट हो गया॥ १४॥

ये नेत्र आदि भोगसाधन होकर शरीर में किस के साथ सम्बद्ध होकर अपना-अपना व्यवहार करते हैं? ये मुख्य प्राण के साथ या प्राणस्वामी प्राणवान् जीवात्मा के साथ, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

प्राणवता च शब्दात्॥ १५॥

(प्राणवता) प्राणवान्-प्राणी=प्राणस्वामी प्राण को धारण करते हुए जीवात्मा के साथ सम्बद्ध हुई नेत्र आदि इन्द्रियां भोगसाधन होकर प्रवृत्त होती हैं, अपना-अपना व्यवहार करती हैं। उस प्राणवान् जीवात्मा के लिये भोग हो साधती हैं। इस कारण उस से ये प्रेरित किए जाते हैं या एवं प्रयोग में लाए जाते हैं। क्योंकि (शब्दात्) श्रुतिवचन से=श्रुति के प्रमाण से=श्रुति में जीवात्मा ही भोक्ता कहा गया है; जैसा कि="**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**" (ऋ० १।१६४।२०, मुण्ड० ३।१।१) मन्त्र में 'अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' से जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता कहा गया है। तथा "**अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः, दर्शनाय चक्षुः। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्**" (छान्दो० ८।१२।४)=जिस अवकाश में आँख लगती है देखने को वहां आँख से देखने वाला द्रष्टा आत्मा देखता है। जो आत्मा अनुभव करे या सोचे कि मैं इसे सूंघूं वह आत्मा है, गन्ध ग्रहण के लिए नासिका है। इस प्रकार इन्द्रियों द्वारा भोग प्राणवान् आत्मा के लिये हैं, आत्मा के साथ सम्बद्ध हुई इन्द्रियां प्रवृत्त होती हैं॥ १५॥

अन्य हेतु—

तस्य च नित्यत्वात्॥ १६॥

(च) जीवात्मा के भोक्ता होने में यह और हेतु है (तस्य नित्यत्वात्) शरीर के अन्दर रहने वाले पदार्थों में उस जीवात्मा के नित्य होने से,

जीवात्मा नित्य है प्राण अनित्य है। अनित्य भोक्ता नहीं हो सकता उसके अकर्ता होने से। जो ही कर्ता है वह ही भोक्ता होता है—'**जो कर्ता सो भोक्ता**' यह प्रसिद्धि है। कर्तृत्व ज्ञानपूर्वक होता है, ज्ञानवान् स्वतन्त्र कर्ता का "**स्वतन्त्रः कर्ता**" (अष्टा० १।४।५४)=कर्ता स्वतन्त्र होता है, इस विधान से। अतः मुख्य प्राण से युक्त नेत्र आदि इन्द्रियां जीवात्मा के साथ सम्बद्ध हुई भोग के साधन हैं॥ १६॥

नेत्रादि इन्द्रियां जीवात्मा के भोग साधन हैं इस में अन्य हेतु देते हैं—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्॥ १७॥

(ते-इन्द्रियाणि) वे नेत्र आदि प्राण जीवात्मा के भोग साधन स्वसंज्ञा से इन्द्रियां भी कहे जाते और जाने जाते हैं कि वे नेत्र आदि प्राण इन्द्रियां नाम से समाख्या बल से जीवात्मा के भोगसाधन हैं, क्योंकि जीवात्मा इन्द्र है, इन्द्रियां इन्द्र की होती हैं यह प्रसिद्ध है ही। कहा भी है वेद में—"**इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आवृणे**" (ऋ० ३।३७।९) अर्थात् हे इन्द्र जो तेरी इन्द्रियां पञ्च जनों में हैं उन्हें मैं स्वीकार करूं=अनुकूल बनाऊं या मैं सुरक्षित करूं। तथा शब्दशास्त्र व्याकरण में कहा है—"**इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्......**" (अष्टा० ५।२।९३) इन्द्र का लिङ्ग है इन्द्रिय। अच्छा, तो नेत्र आदि प्राण होते हुए भी इन्द्रियां क्यों कहे जाते हैं (तद्व्यपदेशात्-अन्यत्र श्रेष्ठात्) श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण से अन्यत्र उन नेत्र आदि का व्यपदेश=नाम व्यवहार है। अतः मुख्य से भिन्न नाम वाले कहे जाते हैं—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**" (मुण्ड० २। १।३)=परमात्मा से प्राण मन और सारी इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं॥ १७॥

वे नेत्र आदि प्राण मुख्य प्राण से सर्वथा भिन्न हैं, यह दिखलाते हैं—

भेदश्रुतेः॥ १८॥

(भेदश्रुतेः) भेद श्रवण से, मुख्य प्राण से नेत्र आदि का भेद श्रुतियों में उपदिष्ट है—"**वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति**" (प्रश्नो० २।४) वाक्, मन, नेत्र, श्रोत्र इन्द्रियां प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करती हैं। "**ते ह वाचमूचुः.......ते ह चक्षुरूचुः.....ते ह श्रोत्रमूचुः.....**" (बृह० १।३।२-६)=वे सब वाक् को बोले, वे सब नेत्र को बोले, वे सब श्रोत्र को बोले। ऐसा उपक्रम कर "**अथ हेयमासन्यं प्राणमूचुः**" (बृह० १। ३।७) पुनः इस मुख्य प्राण को बोले। इस प्रकार मुख्य प्राण से भेद करके नेत्र आदि श्रुतियों में सुने गए हैं, दर्शाए गए हैं॥ १८॥

इसी विषय में और भी हेतु देते हैं—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

(च) और भी यह अन्य हेतु कि मुख्य प्राण से भिन्न हैं नेत्र आदि प्राण (वैलक्षण्यात्) विलक्षणता से=सुषुप्ति में नेत्रादि प्राण अपनी=अपनी वृत्ति को त्यागकर सो जाते हैं। किन्तु मुख्य प्राण तो अपनी पांचों वृत्तियों से जागता ही है, कहा भी है—"**तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति**" (प्रश्नो० ४। २-३) अर्थात् यह आत्मा सुषुप्ति में न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न हाथ से पकड़ता है, न गुप्तेन्द्रिय की क्रिया करता है, न मलत्याग करता है, न गति करता है। 'सोता है' इतना ही कहते हैं, प्राण अग्नि ही इस पुर=देहपुर में जागते हैं। तथा नेत्र आदि का धर्म अपने अपने रूप आदि विषयों का ग्रहण करना है, जैसा कहा है—"**वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्......**" (बृह० १।५।२१)=मैं बोलूंगा, अतः वाक् इन्द्रिय को धारण करता हूँ, कार्य में लाऊंगा देखूंगा इसलिये नेत्र को, सुनूंगा इस हेतु कान को धारण करता हूं। परन्तु मुख्य प्राण का धर्म है शरीर और इस नेत्र आदि इन्द्रियों को धारण करना, जीवन देना। जैसे कहा है—"**तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि**" (प्रश्नो० २।३) अर्थात् उन नेत्र आदि को मुख्य प्राण बोला मोह=गर्व को मत प्राप्त होओ। मैं ही अपने को पांच प्रकार से विभक्त करके इस शरीरभार को उठाकर धारण कर रहा हूं। इस प्रकार नेत्र आदियों से मुख्य प्राण की विलक्षणता होने से वह इन से भिन्न विशेष साधन जीवात्मा का है ॥ १९ ॥

शरीर की प्राण आदि सूक्ष्मसृष्टि परमात्मा की रची हुई है, यह कहा गया। अब उसकी स्थूलसृष्टि भी परमात्मा के द्वारा रची हुई है, यह कहते हैं—

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

(संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः-तु त्रिवृत्कुर्वतः) 'तु' शब्द 'अपि=भी' के अर्थ में। जो ही संज्ञा और मूर्ति की क्लृप्ति है वह भी त्रिवृत् करने वाले परमात्मा की ही कृति=रचना जाननी चाहिए, जीवात्मा की नहीं। छान्दोग्य श्रुति में तेज, जल, अन्न का त्रिवृत् परमात्मा की कृति=रचना बतलाकर पढ़ा गया

है कि "**सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति**" (छान्दो० ६ । ३ । २-३) इस वचन में नाम और रूप का व्याकरण अर्थात् नामव्याकरण=संज्ञाक्लृप्ति और रूपव्याकरण अर्थात् मूर्तिक्लृप्ति ये दोनों ही जीवात्मा के साथ अनुप्रविष्ट हुआ परमात्मा ही शरीर में करता है, यह कहा गया है। जबकि जीवात्मा गर्भ में प्रविष्ट होता है, उसी समय परमात्मा का अनुप्रवेश भी है ही उसके विभु होने से। तब शरीराङ्गों का निर्माण परमात्मा ही जीवात्मा के लिए करता है, उनका कर्ता जीवात्मा नहीं है, वह तो निमित्ती है। उसके निमित्त ही परमात्मा करता है, उसके भोगसाधन के लिए। शरीराङ्गों का रचयिता परमात्मा है, यह कैसे जाना जाता है ? सो कहते हैं (उपदेशात्) उपदेश से, वहां त्रिवृत् करने का कर्ता परमात्मा उपदिष्ट किया है, वह ही शरीराङ्गों का कर्ता भी। "सेयं देवता" शब्द से जो ही देवता परमात्मा तेज, जल, अन्न का त्रिवृत् का कर्ता परमात्मा देवता है, वह ही शरीर में नाम और रूप का भी कर्ता है। अपि च 'सेयं देवताऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस में "**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले**" (अष्टा० ३ । ४ । २१) इस प्रमाण से दोनों क्रियाओं 'अनुप्रविश्य' और 'व्याकरवाणि' का कर्ता समान है, एक है। तथा अन्यत्र भी नाम और रूप का विधाता परमात्मा ही उपदिष्ट किया है—"**आकाशो वै नामरूप-योर्निर्वहिता**" (छान्दो० ८ । १४ । १)=आकाश-सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वत्र प्रकाशमान परमात्मा ही नाम और रूप का निर्वर्तक है=सम्पादक है=निर्माता है। स्मृति में भी "**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥**" (मनु० १ । २१)=उस परमात्मा ने सब के नाम और कर्म तथा संस्थान पृथक्-पृथक् वेदशब्दों से ही आदि में निर्माण किए। वेद में भी कहा है—"**यो देवानां नामधा......**" (ऋ० १० । ८२ । ३)=जो परमात्मा संसार में दिव्यगुण वाले प्रमुख पदार्थो का नाम रखने वाला है। अतः शरीर के अन्दर स्थूल अङ्गों का भी निर्माता परमात्मा ही है, यह ठीक है ॥ २० ॥

वे तेज, जल, अन्नरूप=अग्नि-जल-पृथिवी रूप तीन बाहिरी त्रिवृत् देवता रूप "**इमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति**" (छान्दो० ६ । ४ । ७) शरीर में आकर एक-एक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती है। फिर ये त्रिवृत्ता को कैसे प्राप्त होते हैं, सो कहते हैं—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

(मांसादि भौमम्) शरीर में जो मांस आदि त्रिवृत्ता है, भौम=भूमि=अन्न की है। कहा भी है—"**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः**" (छान्दो० ६।५।१)=खाया हुआ अन्न तीन प्रकार परिणत हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल धातु-अंश है वह मल बन जाता है, जो मध्यम है वह मांस और जो अत्यन्त सूक्ष्म है, वह मन बन जाता है (इतरयोः-च यथाशब्दम्) अन्न से भिन्न जल और तेज का यथाश्रुति परिणाम जानना चाहिए अर्थात् उपनिषद्वचनानुसार जल के परिणाम स्थूल तो मूत्र, मध्यम रक्त, सूक्ष्म प्राण। तेज=अग्नि के परिणाम स्थूल तो हड्डी, मध्यम मज्जा=चर्बी, सूक्ष्म वाक् इन्द्रियशक्ति॥ २१ ॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

(तद्वादः-तद्वादः-वैशेष्यात्-तु) 'तद्वादस्तद्वादः' दो वार पाठ अध्यायसमाप्तिसूचक है।'तद्वादः' पूर्वसूत्रप्रदर्शित मांसादि भौम=अन्न परिणाम आदि वाद-कथन वैशेष्य=विशेषता से है=अधिकता से है। यद्यपि भौतिक जगत्=बाहिरी जगत् और शरीर के अन्दर बना अङ्ग समूह सब ही त्रिवृत् से परिणत हुआ है, तथापि शरीर में मांस आदि भौम=भूमि अन्न से, रक्त आदि जल से, मज्जा आदि तेज से परिणत हुए वैशेष्य=विशेषता=अधिकता को लेकर कहे जाते हैं। अन्य प्रक्रम—"**प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्का-रात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषः........**" (सांख्य० १।६१) कथन से शरीर पाञ्चभौतिक सूचित होता है। वह शरीर यहां त्रिवृत् से उत्पन्न हुआ कहा जाता है वैशेष्य=विशेषता=अधिकता से शरीर रचना परिणाम तेज-जल-अन्न त्रिवृत् से अधिकता के कारण है। और भी—"**पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः**" (तै० ३०।२।१)=पृथिवी से ओषधियां, ओषधियों से अन्न, अन्न से शरीर, शरीर अन्नरसमय है। इस कथन में पृथिवी का परिणाम शरीर कहा गया है। इस प्रकार शरीर पार्थिव है, यह वाद जो प्रतिपादित किया जाता है, वह भी वैशेष्य=विशेषता=अधिकता से अधिकांश पृथिवी का भाग शरीर में होने से, इत्यादि जानना चाहिए॥ २२ ॥

द्वितीयाध्याय में चतुर्थ पाद समाप्त॥

स्वामिब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित द्वितीयाध्याय समाप्त॥

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्॥ १ ॥

(तदन्तरप्रतिपत्तौ) 'तत्' शब्द से समीपी पिछले पाद के अन्तिम चालू त्रिवृत् से उत्पन्न हुआ शरीर अभिप्रेत है। तदन्तरप्रतिपत्ति= शरीरान्तरप्रतिपत्ति=अन्य शरीर की प्राप्ति अर्थात् पुनर्जन्म में (परिष्वक्तः-रंहति) पुनः-पुनः जन्म के हेतुरूप अभिनिवेशफल देने वाले सूक्ष्मदेह से संसक्त हुआ जीवात्मा इस शरीर से निकलता है। कैसे जाना जाता है इसके सम्बन्ध में कहा है (प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) प्रश्न और उत्तर के द्वारा। उस विषय में प्रश्न और उत्तर किए हुए हैं—"**वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**" (छान्दो० ५।९।१)=जानते हो जबकि पञ्चमी आहुति में आपः=जल पुरुषवाणी वाले हो जाते हैं, देही=प्राणी कहे जाते हैं। यहां 'आपः'=जल सूक्ष्म शरीर का लिङ्ग है। पूर्वदेह का नाश हो जाने पर कोई वस्तु अप्भाव=सूक्ष्म जलभाव से कही जानेवाली शेष रह जाती है जोकि दूसरी देह की प्राप्ति में निमित्त बनती है। यहां प्रश्न के साथ निरूपण भी दोनों हैं॥ १ ॥

अच्छा, दूसरी देह की प्राप्ति में सूक्ष्म देह से युक्त हुतात्मा जावे किन्तु कैसे सूक्ष्म देह अप् शब्द=जल शब्द से कहा गया जबकि सब का देहमात्र त्रिवृत् वाला है=पृथिवी-जल-अग्नि से निष्पन्न होने वाला है। इस विषय में कहते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ २ ॥

(त्र्यात्मकत्वात् तु) 'तु' शब्द 'अपि-भी' के अर्थ में है। त्र्यात्मक होने से भी=पृथिवी-जल-अग्नि से निष्पन्न होता हुआ भी सूक्ष्मदेह अप् शब्द-सूक्ष्म जल के रूप में कहा जाता है (भूयस्त्वात्) अपों=जलों= जलभागों की अधिकता से। जैसे स्थूल शरीर पार्थिव कहा जाता है पृथिवी भाग की अधिकता से, एवं सूक्ष्मदेह जलभाग की अधिकता के कारण 'आपः=जल रूप' से कहा जाता है। अतः दोष नहीं है॥ २ ॥

फिर उस देहान्तर प्राप्ति में कहे हुए सूक्ष्मदेह का जाना पुष्ट करते हैं—

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

(प्राणगतेः-च) प्राण की गति से भी सूक्ष्मदेह का दूसरे जन्म में जाना सिद्ध होता है, क्योंकि प्राण बिना आधार के नहीं ठहरता है और सूक्ष्म देह प्राणों का आयतन है और प्राण की गति कही गई है—"**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राण अनूत्क्रामन्ति**" (बृह० ४।४।२) यहां कहा गया है मुख्य प्राण शरीर से उत्क्रमण करता है=चला जाता है दूसरे देह में। अतः प्राणों का आयतन सूक्ष्मदेह भी पुनर्जन्म में चला जाता है ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ६ ॥

(अग्न्यादिगतिश्रुतेः-इति चेत्-न) "**यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणः......**" (बृह० ३।२।१३) अर्थात् मरणकाल में वाक् आदि और प्राण भी अग्नि आदि देवों के प्रति चले जाते हैं, यह इस श्रुति में कहा है। तब उक्त वाक् आदि और प्राण दूसरे देह में जीवात्मा के साथ चले जाते हैं यह कैसे सङ्गत है, यदि ऐसा कहा जावे तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि (भाक्तत्वात्) वाक् आदि प्राण का अग्नि आदि देवों के प्रति चेत जाना भाक्त है=गौण है, इसलिये कि वहां पर ही कहा गया है—"**ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः**" (बृह० ३।२।१३) केशों=बालों और लोमों=रोमों का वनस्पति=ओषधियों के प्रति चले जाना भी तो कहा गया है, वह गौण है। यह स्पष्ट ही है। उसके एक सम्बन्ध से अग्नि आदि के प्रति वाक् और प्राण का चले जाना भी गौण ही है, यह जानना चाहिए ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

(प्रथमे-अश्रवणात्-इति चेत्) प्रथम=उत्कृष्ट-द्युलोक नामक अग्नि में सूक्ष्मदेह कहलाने वाले अपों=सूक्ष्म जलों का श्रवण नहीं है—"**असौ वाव लोको गौतमाग्निः.......तस्मिन्नतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति**" (छान्दो० ५।४।१-२) इस वचन में 'आपः'=जलों का श्रवण पाठ नहीं है, किन्तु 'श्रद्धा' शब्द है कि द्युलोक अग्नि में देव श्रद्धा को होमते हैं। जबकि आपः=जल ही नहीं हैं तब उनसे परिष्वक्त घिरे हुए जीवात्मा का दूसरे देह में जाने का प्रसङ्ग नहीं बन पड़ता, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) ऐसा न कहना चाहिए (ताः-एव हि-उपपत्तेः) क्योंकि वे आपः=जल ही श्रद्धा शब्द के वाच्य होने से उपपन्न हैं=युक्त हैं। यह बात उपसंहार में कही

है—"**इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**" (छान्दो० ५। ९। १)=ये तो पांचवीं आहुति में आपः=जल पुरुष बोली वाले ही जाते हैं। श्रद्धा शब्द आपः=जल का वाचक है भी—"**श्रद्धा वा आपः**" (तै० ब्रा० ३। २। ४) अर्थात् श्रद्धा जल है॥ ५॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥ ६॥

(अश्रुतत्वात्-इति चेत्) रंहति प्रकरण में दूसरे देह को प्राप्त होने के प्रकरण में आपः=जलों का श्रवण है, जीवात्मा का श्रवण नहीं है, वह तो अश्रुत है। अतः सूक्ष्मदेहवाची आपः=जलों से परिष्वक्त=घिरा हुआ जीवात्मा दूसरे देह को प्राप्त नहीं होता है, यदि यह कल्पना करे तो (न) ठीक नहीं। क्योंकि (इष्टादिकारिणां प्रतीतेः) इष्टापूर्त आदि कर्म करने वाले जीवात्माओं की प्रतीति वहां स्पष्ट है—"**अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद् रात्रिम्......पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा**" (छान्दो० ५। १०। ३-४)=जो ये ग्रामनगर में इष्ट और पूर्त दान कर्म सेवन करते हैं, वे धूम हो जाते हैं। धूम से रात्रि.......पितृलोक को वहां से आकाश, आकाश से चन्द्रमा को, यह सोम राजा है। जो यह सोम राजा है—"**तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति**" (छान्दो० ५। ४। २)=उस इस अग्नि में देव श्रद्धा को होमते हैं, उस आहुति से सोम राजा सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रश्न और उत्तर से सूक्ष्मदेहवाचक आपः=जलों के साथ जीवात्मा दूसरे देह को प्राप्त होता है॥ ६॥

वहां गया हुआ जीवात्मा देवों के अन्नभाव को प्राप्त हो जाता है—"**एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति**" (छान्दो० ५। १०। ४) यह सोम राजा देवों का अन्न है, उसे देव खाते हैं। तब उसका इष्टादि कर्मफल भोग के लिये जाना युक्त नहीं बनता। इस विषय में उत्तर देते हैं—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति॥ ७॥

(भाक्तं वा-अनात्मवित्त्वात्) 'वा' शब्द वाक्यालङ्कारार्थ है 'च' शब्द की भांति। इष्ट आदि कर्म करने वालों को देवों का अन्न होना=देवों द्वारा भक्षण किया जाना जो कहा जाता है वह गौण है, उनके अनात्मवित् होने से=आत्मज्ञानी न होने से=आत्मज्ञान से रहित होने के कारण कर्म में ही प्रवृत्त रहने से (तथा हि दर्शयति) वैसे ही कर्मों, जनों की गति को उनके अमृतत्व से रहित होने और अस्थिरत्व को श्रुति दर्शाती है—"**तद्यथेह**

कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'' (छान्दो० ८।१।६)=जैसे इस लोक में कर्म से प्राप्त फल क्षीण हो जाता है वैसे ही वहां पुण्य से प्राप्त फल क्षीण हो जाता है। **''स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते''** (प्रश्नो० ५।४)=वह सोमलोक में विभूति को अनुभव करके फिर लौटता है। अतः इष्टादि कर्म करने वालों को देवों का अन्न कहा जाना गौण ही है। उनके अधीन हो पुनर्जन्म धारण कराने से उनका अन्न कहा है, मुख्य नहीं; क्योंकि देव तो कुछ भी नहीं खाते-पीते हैं—**''न ह देवा अश्नन्ति न पिबन्ति''** (छान्दो० ३।६।१)॥७॥

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च॥८॥

(कृतात्यये यथेतम्-अनेवं च-अनुशयवान्) **''तस्मिन् यावत्सम्पात-मुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्''** (छान्दो० ५।१०।५) इस वचन में स्पष्ट है कि चन्द्रलोक से इष्टादि कर्म करने वाले कर्मफल को भोगकर कर्मक्षय होने पर फिर इस लोक में कर्म करने के लिये जैसे गए, वैसे अवरोहण क्रम से वैसे नहीं अपितु प्रतिलोम क्रम से आते हैं। अतः वह अनुशयवान् कर्म संस्कारवान् होता हुआ यह जानना चाहिये। कैसे जाना जाता है, सो कहते हैं (दृष्टस्मृतिभ्याम्) साक्षात् श्रुतिवचन से और स्मृति से। श्रुति है उक्त वचन से आगे ही पढ़ा गया है—**''तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्........अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्''** (छान्दो० ५।१०।७) रमणीय आचरणवाले शीघ्र रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं, गन्दे आचरण वाले पापाचरणवाले-शीघ्र गन्दी=पापयोनि को प्राप्त होते हैं। स्मृति भी—**''चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्''** (सांख्य० ६।५६)=चन्द्र-आदि लोक में भी आवृत्ति-लौटने के निमित्त होने से होती है॥८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः॥९॥

(चरणात्-इति चेत्) देहान्तर प्राप्ति में अनुशय कारण क्यों कहा जाता है जबकि चरण=आचरण वहां पढ़ा गया है—''रमणीयचरणाः कपूयचरणाः'' तब तो चरण=आचरण ही देहान्तर प्राप्ति में कारण होवे, हो सकता है, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि (उपलक्षणार्था-इति कार्ष्णाजिनिः) इस वचन में चरण=आचरण की श्रुति उपलक्षणार्थ है, वह अनुशय को उपलक्षित कराती है। यद्यपि चरण शब्द आचरण का पर्याय है परन्तु कर्मक्षय होने पर चरण=आचरण का प्रसङ्ग

कहां रहता है। किए कर्म के फल-भोग के अनन्तर तो अनुशय=संस्कार या वासनाभाव रहता ही है जिस से प्रेरित हुआ देहान्तर को प्राप्त होता है। अतः यहां चरण शब्द अनुशय को उपलक्षित कराता है 'गङ्गा' में घोष की भांति, ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानता है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

(आनर्थक्यम्-इति चेत्) श्रुति में चरण शब्द की अनर्थकता होने का प्रसङ्ग आता है, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) यह बात नहीं, क्योंकि (तदपेक्षत्वात्) चरण=आचरण की अपेक्षा होने से अनुशय में=अनुशय चरण को अपेक्षित करके होता है यह सूचित भी किया है—"**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**" (वसिष्ठ धर्मशास्त्र ६। ३)=आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते। "**आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥**" (मनु० १। १०९)=आचार से रहित विद्वान् वेद के फल को प्राप्त नहीं करता है, आचार से संयुक्त होकर तो सम्पूर्ण फललाभ करता है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति बादरिः ॥ ११ ॥

(सुकृतदुष्कृते एव-इति बादरिः) सुकृत=पुण्य, दुष्कृत=पाप, दो प्रकार का कर्म ही चरण है, ऐसा बादरि आचार्य मानता है। उसके मत में "**रमणीयचरणाः कपूयचरणाः**" यह कथन लिङ्ग है=प्रमाण है हेतु ॥ ११ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

(अनिष्टादिकारिणाम्-अपि च श्रुतम्) इष्ट आदि कर्म न करने वालों का भी चन्द्र लोक आदि को जाना श्रुति में कहा गया है, जैसा कि "**ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**" (कौषीतकि० उ० १। २)=जो कोई इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्रलोक को जाते हैं। जबकि वे चन्द्रलोक को जाते हैं तो फिर वहां से लौटते भी हैं, यह जानना चाहिए ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-दर्शनात् ॥ १३ ॥

(संयमने तु-अनुभूय) संयमन=यमसदन=पृथिवी से मेघ-मण्डल तक द्युलोक से इधर वायुमय अन्तरिक्ष है। वहां की वहां अवस्थाओं को अनुभव करके वे इष्ट आदि कर्म न करने वाले इस लोक में फिर आते हैं उनका चन्द्रलोक में गमन नहीं होता, भोगार्थ ही वहां उनका जाना होता है वहां उन्हें भोग नहीं करने होते हैं, इष्ट कर्म न करने से (इतरेषाम्-आरोहावरोहौ)

उन इतरों=इष्ट कर्म न करने वालों के संयमन-यमसदन-वायुमय अन्तरिक्ष में आरोहण=नीचे से ऊपर जाना मेघमण्डल तक जहां तक चन्द्रमा का पृष्ठ है, होता है। पुनः वहां से अवरोहण=ऊपर से नीचे लौटना होता है (तद्गतिदर्शनात्) वहां संयमन में जाना तो वेद समान दर्शाता है—"**वैवस्वतं सङ्गगनं जनानाम्**" (ऋ० १०। १४। १७ अथर्व० १८। ३। १३)= जायमान=सब उत्पन्न होने वालों का संयमन=यमसदन में जाना होता ही है। पूर्वसूत्र में "श्रुतम्" इस पद में उपनिषद् श्रुति गृहीत है यहां "दर्शनात्" पद से वेद लक्षित होता है॥ १३॥

स्मरन्ति च॥ १४॥

(स्मरन्ति च) वैसे ही वेदानुसार नचिकेता के उपाख्यान-अलङ्कार में पढ़ते भी हैं—"**अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे**" (कठो० १। २। ६)=यह लोक है, परलोक नहीं, ऐसा मानने वाला बार-बार मेरे वश में आता है। यहां प्राणी का यम के वश में वार-वार आना कहा जाना स्पष्ट है॥ १४॥

अपि च सप्त॥ १५॥

(अपि च सप्त) और हां संयमनस्थान=यमसदन=वायुस्तर सात हैं पृथिवी के ऊपर, जिनका उल्लंघन करके, जिनके ऊपर जाकर फिर नीचे पृथिवी पर आते हैं जीव। वे सात वायुस्तर सात मरुद्गण कहे जाते हैं— "**सप्त हि मारुतो गणः**" (शत० २।५।१।१३) "**सप्तगणा वै मरुतः**" (तै० ब्रा० १।६।२।३)॥ १५॥

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः॥ १६॥

(तत्र-अपि च तद्व्यापारात्-अविरोधः) उन सातों मरुद्गणों=यमसदनों में भी उनके व्यापार से=सर्वयमनशील नियन्ता, कर्मफलदाता परमात्मा के व्यापार से अविरोध है, शासन की समानता है=शासन समान है। चन्द्रलोक में कोई अन्य यमसदनों=मरुद्गणों में कोई अन्य शासक या व्यवस्थापक है ऐसा नहीं है। यहां शासनकर्ता का विरोध प्रसङ्ग नहीं है उसके एक होने से। कहा भी है—"**य इमं लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति**" (बृह० ३।७।१)=जो इस लोक और पर लोक को और सारे भूतों का नियमन कर रहा है॥ १६॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्॥ १७॥

(विद्याकर्मणोः-इति तु) चन्द्रलोकप्राप्ति इष्टादि कर्मकर्ताओं की है

इष्टादि कर्मरहितों की नहीं, इस प्रसङ्ग में यह दूसरा हेतु है कि देवयान और पितृयान मार्ग मरने वालों के हैं। इन दोनों मार्गों में विद्या से देवयान और कर्म से पितृयान है। इस प्रकार विद्या वालों तथा उपासकों का देवयान और इष्टादि कर्मकर्ताओं का पितृयान होता है। "**वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यते**" (छान्दो० ५। ३। ३)=जानता है वह लोक भरा नहीं जाता है। इस प्रश्न के उत्तर वचन में जो कहा है कि "**अथैतयोः पथो नैकतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्यते॥**" (छान्दो० ५। १०। ८) अर्थात् इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से जाते हैं ये क्षुद्र जन्तु। पुनः-पुनः जन्ममरण में घूमने वाले उत्पन्न हो मरण को प्राप्त हो ऐसा यह तृतीय स्थान है, उससे वह लोक पूरा नहीं भरा नहीं जा सकता है। इस प्रकार देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग तो विद्या-वैराग्य से तथा कर्म= इष्टादि कर्म से ही निष्पन्न होते हैं। क्योंकि (प्रकृतत्वात्) वे दोनों मार्ग पूर्व से चले आते हैं—"**तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते.... इत्येष देवयानः पन्था इति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते.... पितृयाणः**" (छान्दो० ५। १०। १-३) अर्थात् जो इस प्रकार जानते हैं और जो वन में श्रद्धा-विद्या, वैराग्य और तप-अभ्यास इस प्रकार उपासना करते हैं यह देवयान है और जो नगर में इष्टापूर्त दान का सेवन करते हैं वह पितृयान है, किन्तु जो इष्टादि कर्म भी नहीं करते हैं, जन्मना मरना मात्र ही उनका होता रहता है वह तृतीय लोक है। उनका चन्द्र लोक में जाना नहीं होता, उनके कर्मफल भोग न होने से॥ १७॥

न तृतीये तथोपलब्धेः॥ १८॥

(तृतीये) जन्मने-मरने मात्र वाले तृतीय स्थान में शरीरधारी होने के लिये पञ्चमाहुति का प्रसङ्ग (न तथोपलब्धेः) वैसा उपलब्ध नहीं है। अतः उन इष्टादि कर्मरहितों को देवयान तो क्या पितृयान प्राप्ति भी नहीं है॥ १८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके॥ १९॥

(स्मर्यते) स्त्रीपुरुषविषयक आहुतियां किन्हीं जीवों की नहीं होती हैं वह स्मृति में कहा गया है—"**सन्त्ययोनिजाः**" (वैशे० ४। २। ११) =अयोनिज=माता-पिता के सम्पर्क के बिना भी उत्पन्न होने वाले क्षुद्र जीव हैं (अपि च लोके) लोक में भी स्त्री-पुरुष की आहुतियों=दोनों के सम्पर्क सम्बन्धों के बिना भी जू-लीख आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष मिलती है। अतः प्राणियों का वर्ग चार प्रकार वाला है—जरायुज=जरागर्भ झिल्ली से फटकर

बाहिर आने वाले, अण्डज=अण्डे से उत्पन्न होने वाले, स्वेदज=पसीने मैल से उत्पन्न होने वाले, उद्भिज-भूमि का उद्भेदन कर बाहिर उगने वाले वृक्ष। इनमें स्वेदज और उद्भिज्ज अयोनिज=माता पिता के शरीर के बिना उत्पन्न होने वाले हैं ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

(दर्शनात्-च) वैदिक शास्त्र में दर्शन से=दिखलाई पड़ने से=पढ़े जाने से किन्हीं का अयोनिज होना श्रुति दर्शाती है—"**बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च। जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च**" (ऐ० ३। १) यहां अयोनिज दो प्रकार के स्वेदज और उद्भिज्ज कहे हैं।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में "स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेण ग्राम्यधर्म-मुत्पत्तिदर्शनात्" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् ग्राम्यधर्म=मैथुन के बिना स्वेदज और उद्भिज की उत्पत्ति के दर्शन से=देखने में आने से, यह अर्थ किया है जो अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यह वर्णन तो लोक वर्णन है और वह "**स्मर्यतेऽपि च लोके**" (१९) इस पूर्व सूत्र में होना चाहिए यहां नहीं, क्योंकि पूर्व सूत्र में ही लोक शब्द पढ़ा है। वहां तो शाङ्करभाष्य में 'लोके स्मर्यते' ऐसा कहकर स्मृति का उदाहरण दिया है। वह ठीक नहीं, तथा इस सूत्र पर 'दर्शनाल्लोके दर्शनादिति' लोक में दर्शन से ऐसा व्याख्यान करना यथार्थ नहीं है, क्योंकि इस समस्त शास्त्र में 'दर्शनात्, दर्शयति, दृष्टेः' इन वचनों से श्रुति लक्षित की जाती है। शाङ्करभाष्य में भी अन्यत्र स्थानों पर 'दर्शनात्' शब्द से 'श्रुतौ दर्शनात्'='श्रुति में देखने से' वह अर्थ किया गया है ॥ २० ॥

क्योंजी छान्दोग्य श्रुति में "**तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति**" (छान्दो० ६। ३। १) अर्थात् इन जीव शरीर के तीन बीज होते हैं अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज। यह तीन प्रकार वाला भूतग्राम=प्राणिवर्ग कैसे कहा गया है, इसका उत्तर देते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

(संशोकजस्य तृतीयशब्दावरोधः) इन दोनों श्रुतिवचनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि संशोकज=स्वेदज तृतीय शब्द वाले उद्भिज्ज में अवरोध-अवरोधन=अन्तर्गमन=अन्तर्भाव हो जाता है ॥ २१ ॥

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

(साभाव्यापत्तिः) इष्ट आदि कर्म करने वाले चन्द्रमा को प्राप्त होकर वहां कर्मफल भोगकर फिर इस लोक में अवरोहण करते हैं, उनका जो

अवरोहणक्रम निर्दिष्ट किया जाता है—"**अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति**" (छान्दो० ५ । १० । ७) यहां 'भवति भूत्वा' अर्थात् होता है और होकर दोनों पदों से इष्ट आदि कर्म करने वालों की आकाश आदि में स्वरूपापत्ति निर्दिष्ट नहीं जैसे कि मिट्टी घड़ा बन जाती है या सुवर्ण कुण्डल हो जाता है, मिट्टी घड़े के स्वरूप में और सुवर्ण कुण्डल के स्वरूप में आ जाता है। किन्तु साभाव्यापत्ति= समानभाव की या उस जैसी आपन्नता उस धर्म की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से, जीवों का समान भाव को प्राप्त हो जाना तो उपपन्न युक्त है। पृथिवीपृष्ठ पर जायमान जीव का पार्थिव पृथिवीमय शरीर, जल में जायमान का जलमय, अग्निलोक में जायमान का आग्नेय शरीर हो जाता है एवं वायव्य और आकाशीय भी हो जाता है यह जानना चाहिए। पृथिवीपृष्ठ पर भी मनुष्यों का समतल पर समाङ्ग होना, विषमस्थल पर्वत आदि पर विषमाङ्ग होना तो युक्त है ही, ऐसा दीखता भी है ॥ २२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

(न-अतिचिरेण) 'अतिचिर' अव्यय सब विभक्तियों के अर्थ में है। 'अतिचिरेण' या 'अतिचिराय' अतिचिर से या अतिचिर के लिए नहीं किन्तु सद्यः=तत्क्षण तुरन्त उन इष्टादि कर्म करने वालों का आकाश आदि में साभाव्यापन्नता हो जाती है। क्योंकि (विशेषात्) विशेषण से, वहां विशेषण सद्यः=तत्क्षण के लिये साभाव्य का है। जैसा कि "**अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्रूप एव भवति**" (छान्दो० ५ । १० । ६) यहां अन्नभक्षण से लेकर वीर्यसेचन पर्यन्त स्थिर होने का 'दुर्निष्प्रपरम्' दुर्निष्प्रपततर विशेषण प्रादुर्भाव का है, इससे आकाश आदि चिर नहीं किन्तु तत्क्षणता स्पष्ट है ॥ २३ ॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदाभिलापात् ॥ २४ ॥

(अन्याधिष्ठितेषु) आकाश आदियों में तो उन इष्टादि कर्म करने वाले अनुशयी जीवों की साभाव्यापत्ति हो जावेगी, क्योंकि आकाश आदि तत्त्वरूप=भूततत्त्वरूप अप्राण=प्राणरहित=अप्राणी या निर्जीव हैं, परन्तु जौ धान्य आदि ओषधियों में तो जीव हैं, जैसे कहा है—"**त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते**" (छान्दो० ५ । १० । ६)=वे जीव धान्य, जौ, ओषधि, वनस्पतियां तिल-माष हो जाते हैं। वेद में भी "**ओषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः**" (ऋ० १० । १६ । ३) अर्थात् ओषधियों

में प्रतिष्ठित हो शरीरों के द्वारा=शरीर धारण करके। स्मृतिशास्त्र में भी—"**गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥ तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः**" (मनु० १।४८-४९) अर्थात् गुच्छ=बाहिर गुच्छेवाली, विविध गुल्म=अन्दर झक्कड़ वाली, तृण जातियां बीज और काण्ड से उत्पन्न होने वाली, प्रतानें=भूमि पर फैलनेवाली बेलें, लताएं ऊपर चढ़नेवाली, ये सब कर्मानुसार अनेक अन्धकार से वेष्टित हुए अन्तःसंज्ञ=अन्दर से ही अनुभव करनेवाले ही होते हैं, ईश्वर द्वारा दिए गए सुखः-दुख से युक्त हैं। "**ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते। जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः॥**" (महाभारत, वन० २।७२) ब्रह्मा से लेकर तृणघास पर्यन्त भूतों=जीव शरीरों में जीव घूमता है। जल में, भूमि में, आकाश में पुनः-पुनः जन्म धारण करता हुआ। इस प्रकार शास्त्रप्रमाण से तथा अनुमान और प्रत्यक्ष से भी वहां धान्य आदि ओषधियों को जीव अधिष्ठित होते हैं। वहां अन्य जीवों से उन अधिष्ठित धान्य आदि ओषधियों में उन इष्टादि कर्म करने वाले अनुशयी जीवों का सम्बन्ध कैसे होता है, इस जिज्ञासा पर कहते हैं (पूर्ववत्-अभिलापात्) पूर्व जो आकाश आदि कहे हैं उनमें जैसी साभाव्यापत्ति धान्य आदियों में जाननी चाहिए। क्योंकि अभिलापात् अर्थात् इष्टादि कर्म करने वालों के आकाश आदि समान सम्बन्ध के पढ़ने से॥ २४॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्॥ २५॥

(अशुद्धम्-इति चेत्) यदि इष्ट आदि कर्म करनेवाले अनुशयी जीवात्माएं चन्द्रलोक में अवरोहण करके अन्याधिष्ठित धान्य आदियों में भी वस जावें=समाविष्ट हो जावें तो वह धान्य आदि कुटता-पकता हुआ अशुद्ध अभक्ष्य हो जावे हिंसादोष से, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) वह अशुद्ध अभक्ष्य न होगा (शब्दात्) शब्दप्रमाण से आगम प्रमाण=वेद प्रमाण से वेद में इनके भक्षण का विधान है—"**त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" (यजु० ४०।१) त्याग से भोग कर, "**रसमोषधीनाम्**" (अथर्व० ४।२७।३)=ओषधियों का रसपान करना, उनका अन्न खाना चाहिए, ओषधि को रगड़ पीसकर ही उसका रस निकालना होगा ही, "**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**" (ऋ० १०।४८।१)=मैं दानकर्ता के लिये भोजन देता हूं, ओषधि से तैयार हुआ अन्न भोजन होता है। "**मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्॥**" (ऋ० १०।१२५।४)=वह मेरा

प्रदान किया अन्न खाता है, जो देखता है, प्राण लेता है, सुनता है। अतः ओषधि-वनस्पतियों में आने वाले अनुशयी जीवों की हिंसा नहीं होती क्योंकि उनकी वहां अधिष्ठानता तन्मयता भोगात्मा नहीं है, केवलमार्गमात्रता यात्रिता ही है।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में प्रकरणरहित यज्ञप्रसङ्ग उठाया है कि "शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्।......'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत' इति शास्त्रम्" (शाङ्कर-भाष्यम्) अर्थात् शास्त्र से हिंसा और दया आदि स्वरूप को रखनेवाला ज्योतिष्टोम यज्ञ धर्म है यह निश्चय किया गया है, कैसे अशुद्ध कहा जा सकता है, क्योंकि 'अग्निष्टोमीय पशु को मारा जावे' यह शास्त्रवचन है। यह शाङ्करभाष्य का कथन अयुक्त है, क्योंकि यहां यज्ञ का पशुहिंसा दोष प्रसङ्ग की आशङ्का का स्थान नहीं है, पूर्वसूत्र "अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववद-भिलापात्" में धान्य आदि ओषधि-वनस्पतियां चल रही हैं, उनमें ही हिंसादोषप्रसङ्ग की आशङ्का युक्त है। स्वमत के विरुद्ध यज्ञपक्ष भी शङ्करस्वामी ने घोषित किया? सूत्र का अनर्थ शाङ्करभाष्य में कर डाला॥ २५॥

अनुशयी जीवों का धान्य आदि में अनुबन्ध क्यों साभाव्य-विषयक उपदेश किया, क्यों वे धूमपर्यन्त ही रहते हैं? इस विषय में कहते हैं—

रेतःसिग्योगोऽथ॥ २६॥

(अथ रेतःसिग्योगः) अथ=साभाव्य के अनन्तर धान्य आदियों में साभाव्यापत्ति रेतःसेचनकर्ता सम्बन्ध के लिये ही है—"**यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति**" (छान्दो० ५।१०।६)=जो-जो ही अन्न को खाता है, जो रेतः सिञ्चन करता है, वही हो जाता है॥ २६॥

योनेः शरीरम्॥ २७॥

(योनेः शरीरम्) उन इष्टादि कर्म करनेवाले अनुशयी जीवों का धान्य आदि में साभाव्यापत्ति तो रेतः सेचनकर्ता होने के लिये है न कि धान्य आदि वनस्पतियां उनके शरीर बनने के लिये, किन्तु उनका शरीर तो योनि से=योनि के अन्दर से उत्पन्न होता है। वहां कहा ही है—"**तद्य इह रमणीय-चरणा.... अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा....**" (छान्दो० ५।१०।७) अर्थात् जो रमणीयाचरण=पुण्याचरणवाले हैं व पुण्ययोनि को और जो पापाचरणवाले हैं वे पापयोनि को प्राप्त होते हैं॥ २७॥

तृतीयाध्याय में प्रथम पाद समाप्त।

द्वितीय पाद

अच्छा देहान्तर प्राप्ति में जीवात्मा के शरीर का रचयिता परमात्मा हो परन्तु स्वप्न में तो सृष्टिकर्ता जीवात्मा ही है, क्योंकि—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

(सन्ध्ये सृष्टिः-आह हि) जाग्रदवस्था और सुषुप्ति अवस्था की सन्धि में होने वाला सन्ध्य है स्वप्न, "**सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्**" (बृह० ४। ३। ९)=साध्य तीसरा स्थान स्वप्न है। वहां स्वप्न में सृष्टि-रथ आदि पदार्थों की सृष्टि को श्रुति कहती है ही जीवात्मा की रची हुई—"**स यत्र प्रस्वपिति.......न तत्र रथा न रथगोपा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथगोपान् पथश्च सृजते स हि कर्ता**" (बृह० ४। ३। ९-१०)=वह जीवात्मा जिस अवस्था में सोता है वहां न रथ, न रथरक्षक, न मार्ग हैं परन्तु रथों, रथरक्षकों और मार्गों की सृष्टि कर लेता है। इस प्रकार जीवात्मा सृष्टिकर्ता कहा गया है ॥ १ ॥

अपि च—

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

(एके निर्मातारं च) कुछेक शाखावाले आचार्य उस जीवात्मा को स्वप्नकाल में स्पष्ट निर्माता कहते हैं—"**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः**" (कठो० २। २। ८) यहां आत्मा को स्वप्न में कामनानुसार निर्माणकर्ता कहा गया है (पुत्रादयः-च) वे कामना योग्य पदार्थ हैं पुत्र आदि, कहे गए भी हैं वहीं—"**शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् हस्तिहिरण्यमश्वान्......कामानां त्वा कामभाजं करोमि**" (कठो० १। १। २३—२४)=सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्रों को मांगले, बहुत पशुओं हाथी, घोड़ों और सोने को मांगले, तुझे कामनायोग्य पदार्थों से कामभागी कर देता हूँ। इस कामनायोग्य पुत्र आदि पदार्थों को स्वप्न में निर्माण करता है। इस प्रकार जीवात्मा स्वप्न में सृष्टिकर्ता क्यों कहा गया है, यह प्रश्न दो सूत्रों में है ॥ २ ॥

अब समाधान करते हैं—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

(मायामात्रं तु) स्वप्न में जो सृष्टि जीवात्मा के द्वारा की गई प्रदर्शित की है वह वास्तविक नहीं किन्तु मायामात्र ही है। माया=प्रज्ञा "**माया प्रज्ञानाम**" (निघं० ३। ९) प्रज्ञामात्र अनुभूति अनुभूतिमात्र संस्कारवश से

होती है। जाग्रदवस्था के संस्कारों से स्वप्न होता है, कहा ही है—"**आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः......तथा स्वप्नः**" (वैशे० ९।२।७) वह तो वस्तुतत्त्व नहीं है, वह अनुभूतिमात्र कैसे वस्तुतत्त्व नहीं है, इस आकांक्षा पर कहते हैं (कात्स्र्न्येन-अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्) संसार में जाग्रत्काल में वस्तुतत्त्व जैसे पूर्णरूप से अभिव्यक्तस्वरूपवाला तथा सम्भव देशकाल और निमित्तों से युक्त और सब गुण-लक्षणों से सम्पन्न होता है वैसा स्वप्न में नहीं। समुद्रतट पर सोया हुआ स्वप्न में अपने को पर्वत पर स्थित देखता है, पर्वत पर सोता हुआ स्वप्न में अपने को समुद्र में तैरता हुआ-डूबता हुआ देखता है। ऋतु न होते हुए भी स्वप्न में आमों को चूसता है। क्षणभर में पर्वत पर चला जाता है, क्षण में समुद्र पर; क्षण में विमान पर चढ़ता है, क्षण में भूमि पर चलता है; क्षण में अपने को भारत देश में देखता है, क्षण में अन्य देश में; क्षण में अपने को धनी, क्षण में निर्धन स्वप्न में देखता है; स्वस्थ होते हुए अपने को रोगी और मरणासन्न अनुभव करता है; चोरों से लूटा जाता हुआ, बांधा जाता हुआ, मारा जाता हुआ अपने को मानता है। सींगोंवाले मनुष्य को देखता है, इत्यादि। इस प्रकार स्वप्न में सब अनुभव मायामात्र=प्रज्ञामात्र है, वस्तुतत्त्व नहीं है। तथा "**प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्॥**" (बृह० ४।३।१२) अर्थात् इस शरीर को प्राण द्वारा सुरक्षित रखता हुआ शरीर से बाहिर विचरकर वह अमर आत्मा जहां कामना होती है वहां जाता है स्वप्न में। इस वचन में सृष्टि-रचना को नहीं दर्शाया किन्तु यथेच्छ विचरण स्वप्न में जीवात्मा का निर्दिष्ट किया है, वह भी गौणभाव से शरीर से बाहिर जाना है, वास्तविक नहीं। शरीर को छोड़ वस्तुतः बर्हिगमन से तो शरीरपात हो जावे। वह बहिर्गमन की भांति बहिर्गमन है। कहा भी है—"**स यत्रैतत्स्वप्नया चरति.....स्वशरीरे यथाकामं परिवर्तते**" (बृह० २।१।१८)=वह स्वप्न में विचरण करता है, वह स्वशरीर में यथाकाम विचरण करता है। अपने शरीर में स्वप्नानुभूति के प्रतिपादन से वे स्वप्न में अनुभूत किए पदार्थ वस्तुतः नहीं हैं, यह भी कहा हुआ है वहां ही—"**न तत्र रथा न रथगोपा न पन्थानो भवन्ति**" (बृह० ४।३।१०)=न वहां रथ हैं, न रथरक्षक, न मार्ग होते हैं। स्वप्न में वे पदार्थ तो संस्कारमात्र होते हैं, नूतन सृष्टिरचना पदार्थरूप वहां नहीं है। कहा भी है— "**यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः**" (बृह० ४।३।१४)=जो वस्तुएं जाग्रत् अवस्था में देखता है उन्हें सोया हुआ स्वप्न में देखता है, जन्मान्ध स्वप्न में

रूप का स्वप्न नहीं देखता है। वह दर्शन अविद्या ही है—"**यदेव जाग्रद् भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यते**" (बृह० ४। ३। २०)=जो जागते हुए भय को देखता है उसे स्वप्न में अविद्या से मानता है। अतः स्वप्नदर्शन मायामात्र वस्तुतत्त्व नहीं ॥ ३ ॥

पुनः शङ्का करता है—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

(सूचकः-च हि श्रुतेः) स्वप्न में वस्तुतत्त्व नहीं है, ऐसा कहा जाता है। सूचक तो है ही स्वप्न, भावी शुभ-अशुभ को सूचित करता है, यह श्रुति से भी सिद्ध होता है—"**यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्ने पश्यति। समृद्धिस्तत्र विजानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने**" (छान्दो० ५। २। ९)= जब कामनासाधक कर्म करते हुए स्वप्न में स्त्री को देखे तो उसके फलस्वरूप में सिद्धि को जाने उस स्वप्न के देखने में। तथा "**पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं वा पश्यति स एनं हन्ति**" (ऐ० आ० ३। २। ४। १७)=और काले मनुष्य या काले दांत वाले को देखता है वह इसे मारता है (तद्विदः-आचक्षते च) लोक में भी स्वप्नवेत्ता कहते भी हैं—स्वप्न में गजारोहण आदि शुभ, गर्दभारोहणादि अशुभ है, ऐसा होते हुए स्वप्न कैसे मायामात्र है ? ॥ ४ ॥

प्रत्युत्तर देते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

(पराभिध्यानात् तु तिरोहितम्) यहां 'परः' शब्द अत्यन्त अर्थ में है—"**परः सन्निकर्षः संहिता**" (अष्टा० १। ४। १०९)=अत्यन्त मेल सन्धि है की भांति। पराभिध्यान=अत्यन्त अनुराग या अत्यन्त संलग्नता, अत्यन्त अनुराग से तिरोहित=अन्तर्हित-छिपा हुआ।[1] भूतवृत्त या भविष्यद्वृत्त न केवल स्वप्न में ही किन्तु जाग्रदवस्था में भी प्रत्यक्ष हो जाया करता है=प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत हो जाता है। अतः वह तिरोहित विषय स्वप्न में अत्यन्त अनुराग से आने वाले वृत्त को सूचित कर देता है (ततः-हि-अस्य बन्धविपर्ययौ) उस पराभिध्यान=अत्यन्त अनुराग या अत्यन्त संलग्नता से इस जीवात्मा का बन्ध और उस से विपर्यय अर्थात् मोक्ष हुआ करता है। अयोगी का सांसारिक वस्तु में पराभिध्यान=अत्यन्त अनुराग से बन्ध होता है और योगी का परमात्मा में पराभिध्यान-अत्यन्त अनुराग या संलग्नता से मोक्ष होता है। पराभिध्यान से अयोगी के लिये बन्ध के अर्थ तिरोहित का

१. "तिरोअन्तर्दधाति" (निरु० १२। ३२)

प्रत्यक्ष होता है और पराभिध्यान से योगी के लिए मोक्षार्थ तिरोहित का प्रत्यक्ष होता है, यह भी जानना चाहिए॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि॥ ६ ॥

(सः-अपि) वह स्वप्न भी (देहयोगात्-वा) 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है, जैसे "**वा.....अथापि समुच्चयार्थे भवति**" (निरु० १।४) देहयोग से=देह के-सम्बन्ध से, देह में रहते हुए ही स्वप्न को जीवात्मा देखता है देह के बिना नहीं। और देह है परमात्मा का रचा हुआ, देह में स्वप्न सृष्टि होती है देह से बाहिर नहीं, अतः स्वप्न वस्तुतत्त्व नहीं। और भी देह के सम्बन्ध से और आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से संस्कारपूर्वक स्वप्न होता है। कहा है जैसे अन्य दर्शन में—"**आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः, तथा स्वप्नः**" (वैशे० ९।२।६—७)=संस्कार के विना स्वप्न की सृष्टि नहीं होती। मन में संस्कार होने से मन के द्वारा संस्कारों के अधीन होने से जीवात्मा स्वप्न को देखता है, स्वतन्त्र नहीं। अतः स्वप्न में जो सृष्टि है वह वास्तविक नहीं है, मायामात्र=प्रज्ञामात्र है, यह वस्तुतत्त्व नहीं॥ ६ ॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥ ७॥

(तदभावः-नाडीषु-आत्मनि च) तदभाव=स्वप्न का अभाव=स्वप्न के उपरान्त सुषुप्ति होती है नाडियों में और आत्मा=सर्वात्मा परमात्मा में तब मन का संयोग अपेक्षित नहीं है (तच्छ्रुतेः) उन नाडियों और आत्मा=सर्वात्मा परमात्मा के सम्बन्ध में श्रुति होने से। जैसे "**तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु [या एता हृदयस्य नाड्यः। १] सृप्तो भवति**" (छान्दो० ८।६।३) अर्थात् जबकि यह पूरा सोया हुआ होता है, स्वप्न अनुभव नहीं करता है, तब नाडियों में पहुंचा हुआ होता है। तथा "**अयं यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्य चन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते॥**" (बृह० २।१।१६) अर्थात् जब सुषुप्ति में चला जाता है तब किसी विषय का अनुभव नहीं करता है। हिता नाडियां बहत्तर सहस्र हैं जो हृदय से पुरीतत् को प्रतिष्ठित हैं। उनसे प्रत्यवसर्पण करके=लौटकर पुरीतत् गुह्य स्थान में सोता है। यह नाड़ियों में सुषुप्ति का प्रदर्शन है। और भी "**तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एकधा भवति**" (कौषी० ४।१९) अर्थात् जब नाड़ियों में होता है जबकि सोया हुआ किसी स्वप्न को नहीं देखता है इस अवस्था में प्राण एकरूप हो जाता है। एवम् "**यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति**

नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति....सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे" (छान्दो० ६।८।१।१२)=जिस अवस्था में आत्मा 'स्वपिति नाम' अपने आत्मरूप परमात्मा में चला जाता है तब सद्रूप परमात्मा के साथ सम्पन्न=निर्दोष निःसम्पर्क निष्पन्न हो जाता है, ...सद्रूप परमात्मा में आश्रय पाकर निःसम्पर्क होकर नहीं जानते हैं। सद्रूप परमात्मा में समापन्न हो रहे हैं। इस प्रकार मन के संयोग से रहित हो जीवात्मा का सुषुप्तिरूप शयन हृदयगत नाड़ियों में और परमात्मा में होता है यह दोनों कहे जाते हैं। मन के सम्बन्ध का अभाव होने पर भी जीवात्मा के देह में वर्तमान होने से नाड़ियों में तथा परमात्मा के विभु होने से परमात्मा में भी सुषुप्तिरूप शयन अनिवार्य होता है ही, यह कहा जा सकता है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

(अतः प्रबोधः-अस्मात्) इस हेतु कि परमात्मा में सुषुप्ति जीवात्मा की होती है, इस कारण उसका प्रबोध-जागरण इस परमात्मा से होता है। कहा भी है—"**कुत एतदागात्**" (बृह० २।१।१६) कहां से यह आया। सुषुप्ति के अनन्तर प्रश्न है। उत्तर में कहा है—"**एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः... व्युचरन्ति**" (बृह० २।१।२०)=इस आत्मा=आत्मरूप परमात्मा से सारे प्राण=प्राणवान् प्राणी=आत्माएं उठते हैं, प्रबुद्ध होते हैं= जागते हैं=आते हैं। तथा "**सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे**" (छान्दो० ६।१०।२) =सद्रूप परमात्मा से आकर नहीं जानते हैं, हम सद्रूप परमात्मा से आ रहे हैं ॥ ८ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

(सः-एव तु) सुषुप्तिदशा में जीवात्मा यदि परमात्मा में अवस्थित हो जाता है और उससे ही इसका पुनः प्रबोध=जागरण होता है, तो क्या वह ही जो सुषुप्ति से पूर्व था और प्रबोध-जागरण पर भी वह ही है या अन्य है? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि वह ही तो जीवात्मा सुषुप्ति से पूर्व भी और वह ही पुनः प्रबोध=जागरण पर भी है जो पूर्व था। सो कैसे (कर्मानुस्मृति-शब्दविधिभ्यः) कर्मप्रवृत्ति, अनुस्मृति, शब्द और विधि से। प्रथम हेतु है कर्मप्रवृत्ति, जिस को कर्ता हुआ वह सुषुप्ति से पूर्व था प्रबुद्ध होकर= जागकर उसी अवशिष्ट कर्म को फिर करने लगता है, उसमें अभ्यास मानता हुआ या उस कर्म को अपूर्ण मानता हुआ। जैसे-छात्र पढ़े हुए पाठ से आगे पढ़ता है, पूर्व पाठ को पढ़ा हुआ मानकर। जुलाहा जागकर बने हुए से अवशिष्ट वस्त्र को फिर बुनता है ही। अनुस्मृति=सुषुप्ति से पूर्व जिस

घर या मंदिर को मैंने देखा था, जागकर उसी घर या मन्दिर को वही मैं देवदत्त आदि नामवाला देखता हूँ, यह अनुस्मृति करता है।

शब्द-"**पुनः प्रतिन्यायं प्रति योन्याद्रवति बुद्धान्तायैव**" (बृह० ४।३।१६) फिर उसी पिछले न्ययनस्थान, मार्ग=उसी पिछली योनि को जागरण के लिये। तथा "**त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति॥**" (छान्दो० ६।९।३)=सुषुप्ति एवं प्रलय से पूर्व बाघ हो या सिंह या भेड़िया या सूअर या कीट या पतङ्ग या दंश या मशक=मच्छर हो, जो-जो होते हैं, सुषुप्ति एवं प्रलय के अनन्तर वे ही हो जाते हैं। विधि अर्थात् विधान— "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०।२)। मनुष्य को चाहिए कि कर्मों को करता हुआ सौ वर्षों तक या अधिक से अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करे। यदि सुषुप्ति के अनन्तर वह ही जीवात्मा जागरण पर न हो तो सौ वर्ष जीने की इच्छा में समय की गणना कैसे करे? वैसे नित्य सन्ध्या करे और नित्य अग्निहोत्र, इत्यादि विधान सम्भव कैसे हो? अतः सुषुप्ति के अनन्तर जागरण पर भी वह ही आत्मा है जो सुषुप्ति से पूर्व था॥ ९॥

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्॥ १०॥

(मुग्धे-अर्द्धसम्पत्तिः) मूर्च्छित हो जाने पर जीवात्मा में सुषुप्ति के आधे गुणों के आजाने से अर्द्धसम्पत्ति=अर्द्धसम्प्रसादप्राप्ति होती है (परिशेषात्) अन्य अवस्थाओं से परिशिष्ट=पृथक् लक्षित होने से, क्योंकि प्रसिद्ध अवस्थाओं के अन्तर्भूत नहीं होती। मूर्च्छा में जाग्रत का व्यापार नहीं होता, न स्वप्नों का दर्शन और न सुषुप्ति के ही पूर्ण लक्षण मिलते हैं किन्तु सुषुप्ति की भांति शरीर अवस्थित हो जाता है और सुषुप्ति की भांति अन्तरात्मा में बाह्य दु:खों से विमुखता-सी भासित होती है। साथ-साथ सुषुप्ति से विपरीतता भी उपलक्षित होती है। सुषुप्ति की भांति धर्म-सुषुप्ति में "**यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति....अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति....जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यते**" (बृह० ४।३।१९-२३) अर्थात् जिस अवस्था में सोया हुआ कोई कमनीय व्यवहार इन्द्रियों से नहीं करता है और न किसी स्वप्न को देखता है, वह सुषुप्ति है। इस अवस्था में चोर चोर नहीं होता, सूंघनेवाला होता हुआ सूंघता नहीं, सूंघनेवाले की शक्ति का नाश नहीं होता है।" **सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति**" (छान्दो० ६।८।१) सद्‌रूप परमात्मा के

साथ समापन्न शुद्धरूप में होता है। ये सुषुप्ति के धर्म हैं। इन में से कुछ मूर्च्छा में उपलब्ध होते हैं, बाह्य दुःखों की अनुभूति नहीं होती। किन्तु सुषुप्ति से विरुद्ध धर्म भी मिलते परमात्मा से सङ्गति नहीं होती। तथा सुषुप्ति में स्वभावतः स्वतः ही श्रम से गम्भीर निद्रा आती है, मूर्च्छा तो बाहिरी किसी दण्ड आदि आघात से या भीतरी मानस शोक आदि से हो जाती है, इस प्रकार कारणों की भिन्नता है। तथा अनुभूति की विपरीतता भी है। सुषुप्ति में आनन्दानुभूति होती है, मूर्च्छा में शून्यता। देह की विपरीतता भी होती है, सुषुप्ति में यथापूर्व=पूर्व जैसा ही स्थिरता से श्वास लेता है, मूर्च्छा में देर-देर में श्वास लेता है, खुले नेत्र खुले मुख मरा-जैसा रहता है, धमनी तीव्र चलती है, हृदय प्रदेश भी कांपता है। वह यह मूर्च्छा लोक और आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। सुषुप्ति से भिन्न और सुषुप्ति जैसी उस मूर्च्छा में अर्द्धसम्पत्ति होना युक्त है॥ १०॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र॥ ११॥

(परस्य स्थानतः अपि न) पर आत्मा=परमात्मा की ये अवस्थाएं स्थान से भी नहीं हैं, स्वरूपतः तो क्या? स्थानतः तात्स्थ्योपाधि से 'मञ्चाः क्रोशन्ति=मंचान चिल्लाते हैं=मंचस्थ जन चिल्लाते हैं की भांति भी नहीं हो सकतीं। वह स्थान कौन-सा है जिसके सम्बन्ध से अवस्थाओं की कल्पना सम्भव हो? वह स्थान है विज्ञानात्मा जीव जो जाग्रत आदि अवस्थाओं से युक्त होता है। जीवात्मा में रहता हुआ परमात्मा भी जाग्रत आदि अवस्थाओं से युक्त हो सके, जीवात्मा में परमात्मा रहता है "**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो·····यस्यात्मा शरीरम्**" (बृह० ३। ७। २३ -शतपथपाठ ३०)। जीवात्मा में परमात्मा के रहने से जीवात्मा स्थान हुआ परमात्मा का, सो स्थान से तात्स्थ्योपाधि से परमात्मा भी जाग्रत आदि अवस्थाओं से युक्त हो जावे, सो नहीं, क्योंकि (सर्वत्र-उभयलिङ्गम्) जीवात्मा तो उस एक शरीर में ही रहता है उसके परिच्छिन्न होने से=एकदेशी अणु होने से। किन्तु परमात्मा तो विभु है, वह तो निज शरीररूप सब जीवात्माओं में विद्यमान रहता है। न केवल एक जीवात्मा ही उसका शरीर है किन्तु समस्त जीवात्मा उसके शरीर हैं। इससे कोई जीवात्मा सोता है, कोई जागता है। इस प्रकार उस में उभयलिङ्ग दोष=एक काल में सोने और जागने का दोष स्थानतः= स्थान के कारण आ जावे। और भी जीवात्माओं से अतिरिक्त सारे पृथिवी आदि पदार्थों को उसका शरीर कहा गया है—"**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो·····यस्य पृथिवी शरीरम्·····य आकाशे तिष्ठन्·····यस्याकाशः**

शरीरम्'' (बृह० ३।७।२२-३०) अर्थात् जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग होता है, पृथिवी जिसका शरीर है, एवं जो जलों में रहता हुआ जलों से अलग है, जल जिसका शरीर है, इत्यादि आकाश पर्यन्त समस्त जड़ भूतों में रहता हुआ उनसे अलग और वे जड़-भूत आकाश पर्यन्त जिसका शरीर है। इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान परमात्मा में स्थान से उभयलिङ्ग प्रसङ्ग से जड़त्व धर्म भी आ सके। और भी परमात्मा जगत् से बाहिर भी है— ''**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**'' (यजु० ४०।५) ''**बहिरन्तश्च भूतानाम्**'' (गीता० १३।१५) ''**यच्च किञ्च जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥**'' (तै० आ० १०।११) इस प्रकार जगत् के अन्दर और जगत् के बाहिर भी होने से उभय लिङ्ग होने का दोषप्रसङ्ग आता है। स्थानवान्=स्थानवाला भी अस्थानवान्=विना स्थानवाला भी होने से दोषप्रसङ्ग है, अतः स्थान को लेकर परमात्मा में अवस्था प्रसङ्गदोष नहीं आता॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्॥ १२ ॥

(न, भेदात्-इति चेत्) जो कहा है कि 'स्थान से भी परमात्मा का जाग्रत आदि अवस्था सम्पर्क हो सकता है उभयलिङ्गदोषप्रसंग से,' सो यह उक्त कथन ठीक नहीं। इस कारण कि भेद से, क्योंकि परमात्मा का शरीर भेद से पृथक् करने से, जैसे ही जीवात्मा का पृथक् शरीर है ऐसे ही परमात्मा का पृथक् शरीर कहा गया है—''**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥**'' (अथर्व० १०।७।३२-३३)=जिसके पैर भूमि हैं, उदर है अन्तरिक्ष, मूर्द्धा है द्युलोक, नेत्र हैं सूर्य और चन्द्रमा, मुख है अग्नि, उस ऐसे महान् परमात्मा के लिये नमस्कार हो। तथा ''**तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ**'' (छान्दो० ५।१८।२)=उस इस वैश्वानर आत्मा=परमात्मा का मूर्धा चमचमाता द्युलोक, नेत्र विश्व को रूप देनेवाला सूर्य, प्राण भिन्न-भिन्न मार्गों में गतिवाला वायु, बाहिरी त्वचा है आकाश, वस्ति मूत्रस्थान जलराशि, पैर पृथिवी है। और भी—''**अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां ह्येष पृथिवी सर्वभूतान्तरात्मा**'' (मुण्ड० २।१।४)=मूर्धा है

अग्नि, नेत्र हैं सूर्य चन्द्र, कान हैं दिशाएं, वाक् है वेद, प्राण है वायु, हृदय है विश्व, पैर पृथिवी, यह ऐसा सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा है। इन वचनों में जीवात्मा से भिन्न ही परमात्मा का शरीर कहा गया है, उसके पृथक् शरीर होने से जाग्रत आदि अवस्था वाला परमात्मा भी हो जावेगा जीवात्मा की भांति। जैसे जीवात्माएं पृथक्-पृथक् शरीर वाले होते हुए जाग्रदादि अवस्थाओं से युक्त होते हैं, यदि ऐसा कहा जावे तो (न, प्रत्येकम्-अतद्वचनात्) न कहना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शरीर जीवात्मासम्बन्धी व्यष्टि शरीर या विराड्रूप शरीर समष्टि शरीर ये दोनों भी उस परमात्मा का शरीर हैं। अतद्वचन से, 'तद्' शब्द से भेद लक्षित है अतद्=अभेद, अभेद वचन से क्योंकि परमात्मा को अभेद से चर-अचर जड़ जङ्गम का आत्मा कहा गया है—"**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**" (श्वेता० ६। ११)=परमात्मा सर्वव्यापी सर्वभूतों चराचरों का अन्तरात्मा है—"**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**" (यजु० ३२। ८)=परमात्मा विश्व में ओतप्रोत सर्वसृष्टिपदार्थों में विभुरूप से वर्तमान है। "**तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपम्**" (छान्दो० १। ७। ५)=उस इस जगत् में वर्तमान परमात्मा का भी वही रूप है जो अमुक मोक्ष लोक में वर्तमान का रूप है। "**स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः**" (तै० ३। १०)=वह एक ही परमात्मा है जो देह में भी है और सूर्य में भी व्यापक है। 'अग्निर्मूर्धा' आदि तो आलङ्कारिक कथन है। वस्तुतः वह परमात्मा तो चराचर जङ्गमस्थावर का आत्मा है। वेद में कहा भी है— "**आत्मा जगतस्तस्थुषश्च......**" (यजु० १३। ४६)=जङ्गम स्थावर सम्पूर्ण उसका शरीर है, अतः जीव से भिन्न शरीरी नहीं किन्तु शरीररूप जीव को भी अपेक्षित करके शरीरी=शरीरवान् है, अतः परमात्मा जाग्रदादि अवस्था वाला नहीं है॥ १३॥

अपि चैवमेके॥ १३॥

(अपि च-एवम्-एके) और भी, इसी प्रकार कुछेक शाखावाले आलङ्कारिक रूप से परमात्मा में जाग्रत आदि अवस्थाओं को कल्पित करके पश्चात् स्वरूपतः उसमें अवस्थाएं नहीं होती हैं, यह प्रतिपादन करते हैं—"**जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः....स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः....सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघनः....**" (माण्डूक्यो० ३-५)=जागरितस्थान, स्वप्नस्थान, सुषुप्तस्थान ये आलङ्कारिक अवस्थाएं कल्पित करीं, पुनः अन्त में— "**नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्.....**" (माण्डूक्यो० ७) उन्हीं पूर्वोक्त अवस्थाओं का निषेध भी पढ़ते हैं॥ १३॥

परमात्मा स्वरूप से अवस्थाओं से रहित क्यों है, इसमें हेतु को निर्दिष्ट करते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥ १४॥

(अरूपवत्-एव हि) यद्यपि कहीं श्रुति में ब्रह्म का विराड्रूप निरूपित किया है—"**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।**" (अथर्व० १०।७।३२) =जिसके पैर भूमि है, उदर अन्तरिक्ष है। "**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो-मुखो.....**" (ऋ० १०।८१।३)=सब ओर नेत्र सब ओर मुख वाला है। "**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः....**" (ऋ० १०।९०।१)=सहस्रशिरों वाला है। "**सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**" (छान्दो० ३।१४।४)=सब कर्मोवाला, सर्वकामनाओं वाला, सर्वगन्धवाला। इत्यादि कहा गया है किन्तु ब्रह्म वस्तुतः अरूपवत्=अरूप=रूपादि धर्मों से रहित है, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) इस अरूपवत्ता के प्रधान होने से, ऐसा श्रुति में कहा है— "**स पर्यगाच्छुक्रमकायम्........**" (यजु० ४०। ८)=ब्रह्म अकाय है, "**अपाणिपादो......**" (श्वेता० ३।१९)=परमात्मा हाथ पैर से रहित है, "**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः**" (मुण्ड० २। १। २)=परमात्मा अमूर्त है, "**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्......**" (कठो० १।३।१५)=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित है। इत्यादि परमात्मा के रूपादिरहित होने की प्रधानता है॥ १४॥

यदि परमात्मा रूपादिरहित है तो फिर उसका अभावप्रसङ्ग आजावे कि वह है ही नहीं, इस पर कहते हैं—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्॥ १५॥

(प्रकाशवत्-च-अवैयर्थ्यात्) ब्रह्म के अरूपप्रतिपादन की श्रुतियों की अव्यर्थता से=यथार्थता से ब्रह्म का अभाव या अवस्तु होने का प्रसङ्ग नहीं आता किन्तु वह तो भावात्मक वस्तुसत्ता है प्रकाश की भांति। जैसे प्रकाश भिन्न-भिन्न वस्तुओं को रूप देने वाला है परन्तु स्वयं भिन्न-भिन्न वस्तुरूपों से रहित है, अपने धर्म से भावात्मक सत्ता है। उसी भांति ब्रह्म भी अपने चैतन्य, सर्वज्ञत्व आदि धर्मो द्वारा भावात्मक है, यह जानना चाहिए॥ १५॥

आह च तन्मात्रम्॥ १६॥

(आह च तन्मात्रम्) श्रुति कहती है भी ब्रह्म तत्स्वरूप-मात्र केवल ब्रह्म-चेतनमात्र=एकात्मस्वरूपमात्र है—"**स यथा सैन्धवघनो-**

ऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एष'' (बृह० ४।५।१३) अर्थात् जैसे लवणपिण्ड अन्दर बाहिर अन्यता से रहित सम्पूर्ण लवणरस मात्र है, ऐसे ही यह सब का आत्मरूप परमात्मा अन्दर बाहिर के भेद से रहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन=प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप ही है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

(दर्शयति च) और श्रुति उसके प्रकाशात्मक स्वरूप को दर्शाती भी है—''**अगन्म ज्योतिरुत्तमम्**'' (यजु० ३५।१४)=उत्कृष्ट ज्योति को हम प्राप्त करें।''**परं ज्योतिरुपसम्पद्य**'' (छान्दो० ८।१२।३)=पर ज्योति को प्राप्त होकर''**तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'' (कठो० २।२।१५) उसी प्रकाशमान के पीछे सब प्रकाशित होता है, उसी की ज्योति से सब कोई ज्योति लेता है।''**तच्छुभ्रं ज्योतिः**'' (मुण्ड० २।२।९)=वह शुभ्र ज्योति है। (अथ-अपि स्मर्यते) स्मृति में भी कहा है—''**ज्यातिषामपि ज्योतिस्तमसः परमुच्यते**'' (गीता० १२।१७)=वह अन्धकार से परे ज्योतियों का भी ज्योति कहा जाता है ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

(अतः-एव च-उपमा सूर्यकादिवत्) परमात्मा प्रकाशात्मक है, अत एव सूर्य आदि की भांति उपमा उसे दी जाती है—''**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**'' (यजु० ३१।१८) में अन्धकार से परे सूर्य जैसे प्रकाशवान् उस महान् पुरुष को जानूं। ''**पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।ईशानो भूतभव्यस्य**'' (कठो० २।१।१३)=अधूम ज्योति की भांति भूतभविष्यत् का स्वामी परमात्मा है ॥ १८ ॥

सूर्य आदि की भांति ब्रह्म यदि है तो फिर जैसे जल में प्रतिबिम्बित सूर्य जल के वृद्धि-ह्रास-चलत्व के साथ वृद्धि-ह्रास-चलत्व को प्राप्त होता है, उसी भांति ब्रह्म भी जीवों के अन्दर रहता हुआ जीवों के उच्च-अवच आदि को प्राप्त करे। इस पर कहते हैं—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

(अम्बुवत्-अग्रहणात्-तु न तथात्वम्) जल की भांति जल के योग से सूर्यबिम्ब के वृद्धि-ह्रास होने के दृष्टान्त से ब्रह्म के भी वृद्धि, ह्रास, उच्च- अवच भाव जीवों के सम्बन्ध से हों, सो वैसा न होगा अग्रहण से। दृष्टान्त के सारे धर्म दार्ष्टान्तिक में नहीं ग्रहण किए जाते हैं अन्यथा दृष्टान्त

ही न रहे, अत: आंशिक सम्बद्ध अभीष्ट धर्म से उपमा दी जाती है। वह सम्बद्ध अभीष्ट धर्म है प्रकाश॥ १९॥

और वह—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्॥ २०॥

(एवं वृद्धिह्रासभाक्त्वम्-अन्तर्भावात्-उभयसामञ्जस्यात्) इस वृद्धि और ह्रास का भागी होना अन्तर्भाव से होता है, जिसमें जो अन्तर्भूत हो जावे उसके फैलाव और सङ्कोच के साथ वह भी प्रसार और सङ्कोच को प्राप्त हो जाता है। केवल अन्तर्भाव ही कारण नहीं किन्तु उन दोनों आधार और आधेय का सामञ्जस्य=साङ्गत्य=सावयव सम्बन्ध हो। इसी कारण जल के वृद्धि और ह्रास के साथ सूर्यबिम्ब के भी वृद्धि-ह्रास हो जाते हैं, सूर्य के नहीं। परमात्मा तो वृद्धि और ह्रास का भागी प्रतिबिम्ब से भी नहीं होता। उस अमूर्त अनन्त के अल्प परिच्छिन्न वस्तु में अन्तर्भाव या परिवेष्टन= घेरा कल्पित नहीं किया जा सकता। "**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**" (यजु० ४०।५)=वह तो जगत् के अन्दर भी है और बाहिर भी है। कैसे अपने से बाहिर वर्तमान महान् वस्तु का अन्तर्भाव या परिवेष्टन= घेरा कोई करने में समर्थ हो सके। और न उस अनन्त परमात्मा का सामञ्जस्य= साङ्गत्य=सावयवसम्बन्ध किसी के भी साथ है, उसके विलक्षण और अपरिमित होने से। अत: परमात्मा में वृद्धि और ह्रास किसी प्रकार भी सम्भव नहीं॥ २०॥

दर्शनाच्च॥ २१॥

(दर्शनात्-च) दर्शाती भी है श्रुति इस प्रकार—"**सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥**" (कठो० २।३।११) अर्थात् जैसे सूर्य समस्त संसार का चक्षु=दर्शक=दिखाने वाला है परन्तु बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार सर्वभूतों का अन्तरात्मा परमात्मा बाह्य लोकदु:ख से लिप्त नहीं होता। तथा "**सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान्**" (बृह० ४।४।२२) अर्थात् सब का वशीकर्त्ता, सबका स्वामी, सबका नायक परमात्मा जीवों के अच्छे कर्म से महत्त्व को प्राप्त नहीं होता और न उनके बुरे कर्म से नीच बनता है। अत: श्रुति में इस प्रकार प्रदर्शन से परमात्मा के वृद्धि और ह्रास से सम्पर्क स्वप्नादि अवस्थाओं से सम्बन्ध किसी भी प्रकार नहीं होता है॥ २१॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

(प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति) यद्यपि अनेक श्रुतिवचनों से यह निर्णय हो गया कि परमात्मा सूर्यादि की भांति प्रकाशस्वरूप है तथापि "**अथात आदेशो नेति नेति**" (बृह० २। ३। ६)=इस वचन में नहीं है-नहीं है, इस प्रकार श्रुति प्रतिषेध करती है। ब्रह्म ही प्रकृत=प्रकरण प्राप्त ब्रह्म है, उसका श्रुति प्रतिषेध करती है। ऐसा भ्रम हो सकता है या ऐसा कोई कह सकता है। इसके निराकरणार्थ कहा जाता है कि प्रकृत ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रकृत ब्रह्म की एत्तावत्ता=सीमा या मर्यादा का प्रतिषेध करती है। उपदेश करने योग्य ब्रह्म प्रकृत है="**ब्रह्म ते ब्रवाणि**" (बृह० २। १। १)=तेरे लिए ब्रह्म का उपदेश करता हूं। उस ब्रह्म की एत्तावत्ता=इयत्ता= मूर्तमूर्त रूप हैं। "**द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्तं च**" (बृह० २। ३। १) ऐसा कहकर "**अथात आदेशो नेति नेति**" (बृह० २। ३। ६)=नहीं-नहीं का प्रतिषेध आया है, तब मूर्त्त और अमूर्त्त ये दो उस ब्रह्म के रूप अर्थात् निरूपण साधन एत्तावत्ता=इयत्ता हैं। इस समीपी कथन का नेति-नेति से प्रतिषेध किया, अतः ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं। और भी (ततः-च भूयः-ब्रवीति) उसके पीछे अर्थात् नेति-नेति प्रतिषेध के अनन्तर पुनः उस ब्रह्म का उपदेश करती है श्रुति—"**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति**" (बृह० २। ३। ६)=उस ब्रह्म का नाम सत्य का सत्य है। अन्यत्र भी ब्रह्म का अस्तित्व अभीष्ट बताया गया है—"**अस्तीत्येवोपलब्धव्यः**" (कठो० २। ३। १३) अर्थात् ब्रह्म है यह अपने आत्मा में प्राप्त करने योग्य है। ब्रह्म के प्रतिषेध करने वाले की निन्दा भी प्रदर्शित की जाती है—"**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्**" (तै०उ० २। ६) ब्रह्म असत्=सत्ताहीन= कोई वस्तु नहीं जो ऐसा समझे वह मनुष्य असत्=असज्जन ही है। तथा ब्रह्म के अस्तित्व को मानने वाले की प्रशंसा भी की गयी है—"**अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति**" (तै०उ० २। ६)=ब्रह्म है, उसकी सत्ता है, जो ऐसा मानता है, उसको सज्जन=सन्त मानते हैं॥ २२॥

ब्रह्म है, परन्तु—

तदव्यक्तमाह हि॥ २३॥

(तत्-अव्यक्तम्-आह हि) वह ब्रह्म अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त न होनेवाला=न ग्रहण किया जानेवाला है, यह श्रुति कहती ही है— "**स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते**" (बृह० ३। ९। २६) इस वचन में यह आत्मा-सब का आत्मरूप परमात्मा है। इस कथन में उसके

अस्तित्व का प्रतिपादन है। और वह अगृह्य है, इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसका अव्यक्त होना कहा गया है। अन्यत्र भी स्पष्ट कहा है—"**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः....**" (मुण्ड० ३। १। ८)=परमात्मा नेत्र वाणी आदि इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है॥ २३॥

ब्रह्म अव्यक्त=अतीन्द्रिय होता हुआ कैसे उपलब्ध हो, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ २४॥

"अपि संराधने" वह अव्यक्त ब्रह्म संराधन अर्थात् योग की रीति से उपासना में उपलब्ध होता है। (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) श्रुति और स्मृति से प्रतिपादित किया जाता है। श्रुति—"**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः**" (मुण्ड० ३। १। ८)=ज्ञान के विकास से निर्मल अन्तःकरणवाला ध्यान करता हुआ योगी जन उस निष्कल परमात्मा को देखता है। स्मृति—"**सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः**" (मनु० ६। ६५) अर्थात् परमात्मा की सूक्ष्मता को योगाभ्यास के द्वारा अनुभव करे। तथा "**योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्**" (महाभारत० १२। ४०। ५४) उस सनातन भगवान् को योगीजन साक्षात् करते हैं॥ २४॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशाच्च कर्मण्यभ्यासात्॥ २५॥

(प्रकाशादिवत्-च-अवैशेष्यम्) भौतिक क्षेत्र में जैसे प्रकाश का प्रकाश्य के साथ और व्यापक का व्याप्य के साथ अवैशेष्य=अविशेषता=अपृथक्ता= अविनाभाव=अनिवार्य संयोग होता है। वैसे ही अध्यात्म क्षेत्र में परमात्मा की जीवात्मा के साथ अवैशेष्य=अविशेषता=अपृथक्ता=अविनाशभाव= अनिवार्य संयोग=तादात्म्य सम्बन्ध होता है। (प्रकाशः-च कर्मणि अभ्यासात्) उस अवैशेष्य-अविनाभाव या अनिवार्य संयोग का प्रकाश-प्रकटीभाव संराधन कर्म-उपासना कर्म में अभ्यास से होता है॥ २५॥

फिर क्या होता है, यह कहते हैं—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥ २६॥

(अतः-अनन्तेन) पुनः इस तादात्म्य के प्रकटीभाव के साथ अनन्त परमात्मा के साथ जीवात्मा अवस्थित हो जाता है, यह वाक्यविशेष है। (तथा हि लिङ्गम्) इसी प्रकार इस विषय में लिङ्ग=प्रमाण है। "**परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजा-मृतस्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**" (यजु० ३२। ११)= परमात्मा समस्त

भूतों, समस्त लोकों और समस्त दिशाओं को व्याप्त होकर वर्तमान है तथा जगत् के प्रथम स्वरूप अव्यक्त प्रकृति को भी अपने अन्दर रखे हुए है। उस परमात्मा में अपने आत्मा से समावेश करे—"**संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद**" (माण्डू० १२)=जो इस प्रकार परमात्मा को जानता है वह अपने आत्मा से परमात्मा के अन्दर समावेश करता है। "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**" (योग० १।३) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जब चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं तब सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में आत्मा अवस्थित हो जाता है॥ २६॥

उपासना से प्राप्त हुए मोक्ष में "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्" से अपरिमित प्रकाश की भांति या व्याप्य व्यापक की भांति भेद से अवैशेष्य=अविशेषता= अभिन्नता कहना ठीक नहीं, क्योंकि भेद से ही वर्णन नहीं, अभेद से भी वर्णन होता है अतः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥ २७॥

(उभयव्यपदेशात्-तु-अहिकुण्डलवत्) उपासना से प्राप्त मोक्ष में दोनों के भेद और अभेद का वर्णन पाये जाने से जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। "**परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८।१३।३)=पर ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके जीवात्मा अपने स्वरूप से सुसम्पन्न होता है। इस कथन में "स्वेन" शब्द से ब्रह्म से भिन्नस्वरूपता जीवात्मा मोक्ष में रहता है यह कहा गया है। "**अथाकाम-यमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**" (बृह० ४।४।६)=इस वचन में ब्रह्म के अन्दर जीव मिल जाता है, यह अभेद से वर्णन किया गया। इस प्रकार भेद-अभेद के कथन से तो दोनों का मेल अहिकुण्डल की भांति हो सकता है। जैसे अहि=सर्प और कुण्डल उसका वृत्त=वृत्तानुसार=वृत्ताकार= गोलाकार चेष्टारहित शरीर। आत्मा भी परमात्मा का शरीर है, जैसे कहा है—"**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो........यस्यात्मा शरीरम्**" (बृह० ३। ७।२२ शतपथ ३०)=परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता है, आत्मा उसका शरीर है। वह शरीररूप आत्मा मोक्ष में निश्चेष्ट या चेष्टारहित सर्प के कुण्डल की भांति रहने से भिन्न और चेष्टा न होने से अभिन्न होता है। क्योंकि कुण्डल से भिन्न सर्प नहीं दीखता। इसी प्रकार यहां भी उत्प्रेक्षा मुख्य अभेदवादियों की जाननी चाहिए। यह अन्यों का मत शाङ्करभाष्य में सङ्केतित किया है॥ २७॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्॥ २८॥

(प्रकाशाश्रयवत्-वा-तेजस्त्वात्) अथवा उस भेद और अभेद के व्यवहार में प्रकाश और उसके आश्रय की भांति भी सङ्गति का प्रकार हो सकता है। जैसे प्रकाश और उसका आश्रय भेद और अभेद के द्वारा व्यवहार को प्राप्त होते हैं वैसे ही यहां भी जानना चाहिए। अग्नि भी लक्षित होती है ज्वालारूप में और उसका आश्रय काष्ठ या कोयला अथवा अग्नि में डाला लोहा या सोना। पृथक्-पृथक् स्वरूप से कहे जाते हैं। परन्तु तेजस्त्व= प्रकाशमानता से अग्नि से भिन्न नहीं, अग्नि में डाला हुआ पदार्थ अग्नि जैसा प्रकाशवान् हो जाता है। उसी भांति यहां भी जानना चाहिए। "**परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८।१२।३) यह भेद तो दिखलाया गया है, अभेद भी कहा जाता है। परमात्मा तेजस्वरूप है। "**तेजोऽसि तेजो मयि धेहि**" (यजु० १९।९)=उस तेजस्वरूप के तेज ग्रहण करने से अभेद भी बन सकता है। इस प्रकार विशिष्टाभेदवादियों का गौणरूप से अभेद मानने वालों की तर्कना है॥ २८॥

अच्छा रहे—

पूर्ववद्वा॥२९॥

(पूर्ववत्-वा) पूर्व कहा "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्......." प्रकाश्य और प्रकाशक की भांति या व्याप्य और व्यापक की भांति मोक्ष में जीवात्मा और परमात्मा का भिन्नत्व=भेद होते हुए भी समानत्व=अभेद होता है। जो जीवात्मा परमात्मा का तादात्म्य सम्बन्ध कहा जा सकता है। क्योंकि "अवैशेष्यम्" अविशेष का भाव, और अविशेष कहते हैं जो कि विशेष से भिन्न अविशेष के सदृश दोनों रूपों में होता है। शब्दशास्त्र महाभाष्य में कहा ही है—"**नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः। अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मण-सदृशः पुरुष आनीयते, न लोष्ठमानीय कृती भवति**" (महाभाष्य० ३।१।१२) अर्थात् नञ्=न, और "इव" इन दोनों शब्दों में से किसी एक के साथ भी युक्त हुआ शब्द उससे भिन्न और उस जैसी वस्तु के अर्थ में आता है। ऐसे ही अर्थ की गति होती है। 'अब्राह्मण को लाओ' ऐसा कहने पर ब्राह्मण के सदृश पुरुष लाया जाता है, मिट्टी का ढेला लाने से कार्य सिद्ध नहीं होता। अतः अविशेष शब्द भेद और अभेद से मिश्रित व्यवहार के लिए प्रयुक्त है। वह पूर्व ही प्रकाश का प्रकाश्य से या व्यापक का व्याप्य से भेद और अभेद दर्शा दिया। उसी भांति यहां भी मोक्ष में भेद और अभेद होते हैं। संसार में तो भेद ही होना

है। यह सिद्धान्त अन्तिम है। और यह सिद्धान्त वेदान्तशास्त्र के प्रणेता आचार्य व्यास का है, वास्तविक और वैदिक है। ऐसा सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि के लिए "**प्रतिषेधाच्च**" यह अगला सूत्र आता भी है। शाङ्करभाष्य में भी यह व्याससिद्धान्त कहा गया है। "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः" (शाङ्करभाष्ये) ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

(प्रतिषेधात्-च) मुख्य अभेदवाद और विशिष्ट अभेदवाद के मोक्ष-विषय में प्रतिषेध प्रतिपादन से वही प्रकाश्य-प्रकाशक की भांति या व्याप्य-व्यापक की भांति जीवात्मा और परमात्मा का भेदाभेद सिद्धान्त मोक्ष के सम्बन्ध में मानने और आदर करने योग्य है। मुख्य भेद विशिष्ट भेदवाद दोनों ही श्रुति-प्रतिषिद्ध किए जाते हैं—"**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**" (श्वेता० ६।८)=उसका कोई कार्य नहीं और न करण है। कार्य के प्रतिषेध से मुख्याभेदवाद और करण के प्रतिषेध-साधन के प्रतिषेध से विशिष्टाभेदवाद प्रतिषिद्ध हो जाते हैं। हाँ, मोक्ष में भेद से जीवात्मा का वर्तमान होना स्पष्ट सुना जाता है—"**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तै०उ० २।७)=परमात्मा रस है=आनन्द है। उस आनन्दरूप परमात्मा को प्राप्त करके यह जीवात्मा आनन्दी बन जाता है। इस वचन में आनन्दरूप परमात्मा और आनन्दी जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न रहे। तथा "**परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८।१२।३)=पर ज्योतिःस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर अपने रूप में निखर कर-होकर रहनेवाला जीवात्मा दोनों भिन्न-भिन्न कहे हैं। और भी वहां मोक्ष में—"**शृण्वन् श्रोत्रं.....मन्वानो मनो भवति**" (शतपथ० १४।४।२।१७)= सुनने के हेतु श्रोत्र, मनन करने के हेतु मन जीवात्मा का हो जाता है। इस से विशेष स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा मोक्ष में परमात्मा से भिन्न वर्तमान रहता है ॥ ३० ॥

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

(अतः परम्) इस उक्त लक्षण वाले ब्रह्म से परे कोई वस्तु है यह आशङ्का होती है, क्योंकि (सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः) सेतु व्यपदेश से, उन्मान व्यपदेश से, सम्बन्ध व्यपदेश से और भेद व्यपदेश से। सेतुव्यपदेश—"**यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्**" (कठो० १३।२) अर्थात् जो अविनाशी ब्रह्म यज्ञ करनेवालों का सेतु है। तथा "**अथ य आत्मा सेतुर्विधृतिः**" (छान्दो० ८।४।१)=जो सब का आत्मरूप परमात्मा विशेष धारण करने वाला सेतु है। और भी "**तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धः**

सन्ननन्धो भवति'' (छान्दो० ८।४।२)=इस परमात्मरूप सेतु को तरकर=पार करके अन्ध मनुष्य भी अन्धेपन से रहित हो जाता है। अर्थात् नेत्रहीन नेत्रवान् बन जाता है। उक्त वचनों में परमात्मा को सेतु=पुल कहा गया है। सेतु को लांघना अभीष्ट होता है। सेतु से पार जाने के लिए जब कि ब्रह्म सेतु=पुल हो गया तो उस सेतु से परे कोई वस्तु होनी चाहिए, यह आशङ्का स्पष्ट है। उन्मान व्यपदेश—''**अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्**'' (माण्डू० २)=यह विश्व का आत्मरूप ब्रह्म चतुष्पात्=चार पैरोंवाला है। तथा ''**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'' (ऋ० १०।९०।३)=समस्त भूत अर्थात् भौतिक जगत् उस परमात्मा का एक पाद=पैर है। तीन पादवाला भाग या स्वरूप अमृतरूप द्युस्थान में है। और भी ''**ब्रह्मणस्ते पादं ब्रवाणि**'' (छान्दो० ४।५।२)=तेरे लिए ब्रह्म के एक पाद का उपदेश देता हूं। इन वचनों में उन्मान=उद्धृतमान पैरों के माप-तोल के द्वारा स्पष्टीकरण करने से लक्षित किया हुआ ब्रह्म उन पादों से परे अर्थात् भिन्न वस्तु सिद्ध होती है। जिसके ये पाद कहे गए। इसके अतिरिक्त ''**शिवमद्वैतं चतुर्थं [पादं] मन्यन्ते**'' (माण्डू० ८)=चतुर्थ पाद शिव और अद्वैत है। और भी ''**त्रिपादस्यामृतं दिवि** (ऋ० १०।९०।३)=इन दोनों स्थलों में चतुर्थ पाद त्रिपाद उन्मान दिया गया है। और उन्हें शिव, अद्वैत तथा अमृत कहा गया है। तब इस पाद रूप उन्मान से परे भी कोई वस्तु है, ऐसा सूचित होता है। सम्बन्धव्यपदेश=संयोग का व्यवहार—''**परं ज्योतिरुपसम्पद्य...**'' (छान्दो० ८।१२।३)=पर ज्योतिस्वरूप परमात्मा का समागम करके तथा ''**प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः**'' (बृह० ४।३।२१)=प्राज्ञ परमात्मा के साथ संयुक्त हुआ। इन वचनों में परमात्मा के साथ संयोग का व्यवहार है। संयोग=वियोग की अपेक्षा रखता है। किसी भी वस्तु के संयोग पर अन्य पूर्व वस्तु से वियोग होता है। और संयोग के अनन्तर वियोग भी अवश्य होता है। उससे अगली वस्तु की प्राप्ति में जैसे यात्रा में एक नगर की प्राप्ति है तो दूसरे नगर से वियोग है। ऐसा कभी नहीं होता कि किसी एक नगर को प्राप्त कर अन्य नगर न प्राप्त किया जाय। उसी भांति ब्रह्म की प्राप्ति में संयोग होने पर वियोग न हो या अन्य से प्राप्ति का सम्बन्ध न हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अन्य कोई होना आदि भेद-व्यपदेश—''**विष्णोर्यत् परमं पदम्**'' [(ऋ० १।२२।२१, कठो० १।३।९)] विष्णु का या विष्णु से जो परम पद है, यहां परम पद अभीष्ट सूचित किया है, जो विष्णु से भिन्न है। तथा ''**अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते**'' (छान्दो०

१।७।५) "**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते** (छान्दो० १।६।६) इन वचनों में व्यापक परमात्मा से भिन्न नेत्र और सूर्य में वर्तमान परमात्मा वर्णित किया है॥ ३१॥"

पूर्व सूत्र में कहे आक्षेपों का क्रमशः उत्तर देते हैं, प्रथम सेतु व्यवहार के सम्बन्ध में—

सामान्यात्तु॥ ३२॥

(सामान्यात्-तु) जो सेतु का व्यपदेश प्रदर्शित किया है वह सामान्य धर्म को लेकर कहा गया। सामान्य धर्म अभीष्ट है विधारकता=आश्रयता=आश्रय ग्रहण करना, न कि काष्ठ मृत्तिका आदिमय होने की कल्पना की जाय। सेतु=पुल होता है स्रोतों नदियों का विधारक, ब्रह्म भी जगत् और लोकों की मर्यादा का विधारक है, कहा भी है—"**लोकानामसम्भेदाय**" (छान्दो० ८।४।१)=परमात्मा लोक लोकान्तरों के परस्पर न टकरा जाने को विशेष धारण करने वाला है और "**एष सर्वेश्वरः.......सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाय**" (बृह० ४।४।२२)=यह सर्वेश्वर परमात्मा इन लोकों के न टकरा जाने के लिए विधारक सेतु है॥ ३२॥

उन्मान व्यपदेश का समाधान—

बुद्ध्यर्थः पादवत्॥ ३३॥

(पादवत्-बुद्ध्यर्थः) उन्मान व्यपदेश पादवत् है, बुद्धि=अर्थ-बुद्धि के प्रवेशार्थ=सम्यक् ज्ञानार्थ=सुगम ज्ञानार्थ=ब्रह्म के ज्ञान विभागार्थ ब्रह्म ज्ञान का चतुर्थ रूप तुर्य पाद है। और प्रथम रूप समस्त विश्व उससे आगे तीन पादों वाला ब्रह्म के ज्ञान का स्वरूप अतीन्द्रिय विचार योग्य मननीय है। यहां पाद शब्द से ज्ञान-विभाग समझना चाहिए। जैसे किसी अध्याय या ग्रन्थ के पाद कल्पित किये जाते हैं। उन पादों से भिन्न अध्याय या ग्रन्थ नहीं होता है। किन्तु उसके सुलभ ज्ञानार्थ पाद कल्पित किये जाते हैं। उसी भांति ब्रह्म के भी पाद कल्पित किये जाते हैं, उसके सुलभ ज्ञानार्थ॥ ३३॥

सम्बन्ध व्यपदेश का समाधान—

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥ ३४॥

(स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्) यद्यपि परमात्मा अनन्त है, तथापि उसका प्राप्तिसम्बन्ध या संयोग होता है स्थान विशेष में=अवस्थान विशेष से=स्थिति विशेष से। अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध करके सर्वद्रष्टा परमात्मा में योगी का अवस्थान होता है। कहा भी है—

"**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**" (योग० १ । ३)=जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तो सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में योगी का अवस्थान हो जाता है। तथा "**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**" (मुण्ड० ३ । ३)=जब योग से देखने वाला ध्यानी जगत् के कर्त्ता स्वामी ब्रह्मयोनि दिव्यस्वरूप परमात्मा को अध्यात्म दृष्टि से देखता है तब वह विद्वान् पुण्य और पाप को पृथक् करके निर्लेप-निर्दोष हुआ-हुआ परम अभीष्ट समानता को प्राप्त करता है। यहां पर परम समानता=तादात्म्य स्थिति=स्थान विशेष है। और भी स्थान विशेष अर्थात् हृदय में परमात्मा का साक्षात्कारात्मक सम्बन्ध या संयोग होता ही है क्योंकि हृदय में ही अपना आत्मा भी है—"**अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः**" (कठो० १ । २ । २०)=सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् परमात्मा इस जीवात्मा के हृदय में विराजमान है। उसे बाहरी कर्मकलाप को बन्द करके निश्चिन्त-स्थिर हुआ अन्तःकरण की निर्मलता से परमात्मा को और उसके महिमा को देखता है। तथा '**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्**" (कठो० २ । ३ । १३)=जो ध्यानी धीर जन उस परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थित हुआ अनुभव करते हैं उन्हीं को स्थिर शान्ति प्राप्त होती है, अन्यों को नहीं। परमात्मा का प्राप्तिसम्बन्ध प्रकाशादिवत्=प्रकाश की भांति और ज्ञान की भांति होता है। प्रकाश के अनन्तर अन्धकार या ज्ञान के अनन्तर अज्ञानप्राप्ति में अभीष्ट नहीं होता। तब कौन फिर अन्धकार या अज्ञान की अभिलाषा करे। और फिर अन्धकार या अज्ञान वस्तुसत्ता नहीं है कि जो प्रकाश की निवृत्ति के लिए या ज्ञान की निवृत्ति के लिए विरुद्ध बल प्रदर्शित करे अथवा पर्याय की अपेक्षा करे। इसी कारण परमात्मा की प्राप्ति या उसका संयोग अन्य वस्तु की प्राप्ति या संयोग के समान विचल नहीं है। अतः स्थानविशेष से प्रकाशादिवत् परमात्मा का प्राप्तिसम्बन्ध या संयोग निर्दोष है।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है। वहां सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश दोनों के समाधान के लिए सूत्र की योजना की है। क्योंकि "स्थानविशेषात्" इस शब्द की परस्परविरोधी व्याख्यान-कल्पना से। वहां पर स्थान-विशेष बुद्धि आदि स्थानविशेष माना। उसके उपशमन से सम्बन्धव्यपदेश अर्थात् उसके वर्तमान होने से भेदव्यपदेश

कहा। एक ही शब्द के भावात्मक और अभावात्मक अर्थ कैसे ग्रहण किये जा सकते हैं। यह किसी भी प्रकार से युक्त नहीं। अतः शब्दशास्त्र के विरुद्ध यह अर्थ है। और भी यहां शाङ्करभाष्य में यह एक दोष है कि सम्बन्धव्यपदेश और भेदव्यपदेश का समाधान कर देने पर "**उपपत्तेश्च**" यह उत्तरसूत्र फिर इन्हीं दोनों बातों के समाधान में लगा दिया। इस प्रकार "**स्थानविशेषात्**" इस सूत्र के दो समाधानों वाला व्याख्यान कर देने से "**उपपत्तेश्च**" इस सूत्र की रचना में गौरवदोष आ जाता है। वस्तुतः चार सूत्र समाधानपरक चारों आक्षेपों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् हैं। वह यह समाचार-यौक्तिक व्यवहार सूत्रकार का आगे भी उपलब्ध होता है "**अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैव तद्दर्शनात्**" (वेदा० ३।४।८) इस सूत्र द्वारा। अतः शाङ्करभाष्य में इस सूत्र का व्याख्यान ठीक नहीं है॥ ३४॥

भेदव्यपदेश में समाधान—

उपपत्तेश्च॥ ३४॥

(च) अन्तिम आक्षेप भी जो भेदव्यपदेश में कहा गया है उसका भी (उपपत्तेः) उपपत्ति अर्थात् युक्ति से समाधान हो जाता है। अर्थात् वैसा व्यपदेश युक्ति से सम्भव है। "**विष्णोर्यत् परमं पदम्**" विष्णु परमात्मा का जो परम पद है, इत्यादि कथन में परम पद से परमात्मा से भिन्न कोई विशिष्ट वस्तु लक्षित नहीं की जाती है किन्तु परमात्मा की अनन्तता प्रदर्शित की जाती है कि जगत् में व्यापक परमात्मा का परम पद अनन्तस्वरूप है। जिससे परे अन्य नहीं हो सकता जो जगत् से बाहर हो सके। "**परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**" (मुण्ड० ३।२।८) उसकी अनन्तता दिखाने के लिए इस वचन में कहा गया है 'जो परमात्मा पर से भी परे है उसे प्राप्त करता है।' जैसे लोक में कहा जाता है यह मार्ग "अग्रात्-अग्रे" और आगे आगे है। मार्ग की अत्यन्त दूरता=असमाप्ति जैसे यहां सूचित की जाती है वैसे परमात्मा की अनन्तता सूचित की गई है॥ ३५॥

अब चारों आक्षेपों के समाधान का उपसंहार करते हैं—

तथाऽन्यप्रतिषेधात्॥ ३६॥

(तथा-अन्यप्रतिषेधात्) जिस कारण पूर्वोक्त सामान्य, बुद्धि के अर्थ, स्थानविशेष, उपपत्ति इन हेतुओं के द्वारा निर्णीत ब्रह्म एक है और अनन्त है, उससे अवर और पर अन्य कोई वस्तु शङ्कनीय नहीं है। इसी कारण उसी बात को लेकर प्रतिषेध भी किया जाता है—"**तस्माद्ध्यन्यन्न परः किञ्चनास**" (ऋ० १०।१२९।२)=उस परमात्मा से परे कोई वस्तु नहीं

है। "**पुरुषान्न परं किञ्चित्**" (श्वेता० ३।९)=जिससे पर न अपर कोई वस्तु है, इत्यादि प्रमाणों से शङ्का का अवसर नहीं रहता है॥ ३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामादिशब्देभ्यः॥ ३६॥

(अनेन-आयामादिशब्देभ्यः सर्वगतत्वम्) इस सामान्य आदि समाधान के प्रकार से तथा अन्य के प्रतिषेध वर्णन से अन्यत्र श्रुति में कहे आयाम आदि शब्दों से ब्रह्म का सर्वव्यापी होना प्रदर्शित किया गया समझना चाहिए। जैसा कि "**परो दिवः परः पृथिव्याः**" (ऋ० ८।३।१७)= परमात्मा द्युलोक से भी परे है और पृथिवी लोक से भी। तथा "**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः**" (ऋ० १०।९०।३)=यह इतना जगत् उसकी महिमा है, इससे महान् वह परमात्मा है। और भी "**ज्यायान् दिवो ज्यायान् आकाशात्**" (शत० १०।६।३।१)=द्युलोक से बड़ा है, आकाश से भी बड़ा है। तथा **ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः**" (छान्दो० ३।१४।३) पृथिवी से बड़ा है, द्युलोक से बड़ा है, इन सब लोकलोकान्तरों से भी बड़ा है। "**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु**" (यजु० ३२।८)=वह समस्त संसार की वस्तुओं में ओतप्रोत हुआ विभूरूप से वर्तमान है। इत्यादि आयाम आदि शब्दों से परमात्मा का सर्वगत होना अर्थात् सर्वव्यापक होना और जगत् से बाहर भी होना सूचित किया गया है। अतः उससे परे अन्य कोई वस्तु नहीं है। अन्य परिमाण वाली वस्तु के सदृश परिमाण वाला ब्रह्म नहीं है॥ ३७॥

फलमत उपपत्तेः॥ ३८॥

(अतः फलम्) इस सर्वगत विभु परमात्मा से जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों का फल सिद्ध होता है। वह ही कर्मफलदाता है उन जीवात्माओं के लिये। क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से सम्भव है, कर्मफल का प्रदान करना परमात्मा का कार्य, उसके सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष, सर्वशक्तिमान्, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ होने से। जीव स्वयं कर्मफल नहीं भोगता है अनिष्टफल भोग के लिये अप्रवृत्त होने से, कोई जन स्वयं अनिष्ट दुःख नहीं चाहता है तथा इष्ट फल भी अमर्यादित चाहता है। और प्रकृति कर्मफल की देनेवाली नहीं हो सकती उसके जड़ होने से, जड़ वस्तु कर्मानुसार फल के परिमाण देश-काल और स्वरूप को नहीं जान सकती है। न कर्म ही स्वयं अपने फल को प्रदान करने में समर्थ है उस के चलस्वरूप होने से, कर्म अपने क्षण के अनन्तर ठहरता नहीं है और फल कर्म के पश्चात् ही हुआ करता है, उसके समकाल और पश्चात् अविद्यमान कर्म किसी प्रकार भी फल नहीं

दे सकता। नष्ट या मृत कोई किसी को सुख या दुःख नहीं देता है। अतः एक ईश्वर ही जीवात्माओं के कर्मफल का प्रदान करने वाला है, यह सिद्ध होता है॥ ३८॥

श्रुतत्वाच्च॥ ३९॥

(श्रुतत्वात्-च) श्रुति में प्रतिपादन से भी परमात्मा कर्मफल का प्रदाता उपपन्न होता है। जैसा कि कहा है—"**शन्नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे**" (यजु० ३६।८)=परमात्मा कल्याणकारी हो, सुख प्रदान करे दो पैरों वाले और चार पैरों वाले के लिये। "**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि**" (ऋ० १।१।६)=हे ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन्! तू शुभ दान कर्म करने वाले के लिये कल्याण करता है—"**स वा एष महानज आत्माऽन्नादो [अन्नं समन्ताद् ददातीति] वसुदानः**" (बृह० ४।४।२४)=वह निश्चय अजन्मा महान् आत्मा अर्थात् परमात्मा समन्तरूप से अन्न का दाता है, धन का दाता है॥ ३९॥

धर्मं जैमिनिरत एव॥ ४०॥

(धर्मं जैमिनिः-अतः-एव) जैमिनि आचार्य फल का दाता धर्म= किए हुए शुभाशुभ कर्म से सम्पन्न संस्कार को मानते हैं। क्योंकि इसी प्रमाण से=श्रुतिवचन से—"**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्**" (कठो० २।२।७)=कुछ योनि को=माता के गर्भाशय को शरीर धारण करने के लिये प्राप्त होते हैं, कुछ स्थाणु, वृक्ष, लता आदि को प्राप्त हो जाते हैं, जैसा कर्म जैसा ज्ञान होता है। "**पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन**" (बृह० ४।४।२)=पुण्य कर्म पुण्य=श्रेष्ठ, और पाप कर्म से निकृष्ट जन्म धारण करता है। सूत्र में '**अत एव**' शब्द से श्रुति का अनुकर्षण है, '**श्रुतत्वाच्च**' समीपीसूत्र से न कि 'उपपत्तेः' उपपत्ति का उस से भी पूर्व सूत्र से। पृथक् सूत्र रचना से भी। अन्यथा "फलमत उपपत्तिश्रुतिभ्याम्" ऐसा सूत्र होना चाहिए था "श्रुतत्वाच्च" पृथक् सूत्र करना "धर्मं जैमिनिरत एव" में श्रुतत्व के अनुकर्षण के लिये है। इस सूत्र में 'धर्म' शब्द सामान्य अर्थ में है शुभाशुभ कर्म का संस्कार, न कि विशेष अर्थ में पुण्य कर्ममात्र॥ ४०॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्॥ ४१॥

(पूर्वं तु बादरायणः) धर्मफल प्रदान करनेवाला निमित्त हो, किन्तु धर्मविषयक सूत्र से पूर्व कहे परमात्मा को तो फल का दाता बादरायण=

व्यास मानता है। स्वनाम निर्देश से आचार्य अपना मत दर्शाता है (हेतु-व्यपदेशात्) कार्यमात्र के हेतु का वर्णन होने से=प्रयोजक के विधान से, परमात्मा कार्यमात्र का हेतु है, प्रयोजक है, प्रवर्तक है। जैसे "**इन्द्रो विश्वस्य राजति.......**" (यजु० ३६।८)=परमात्मा विश्व का राजा है—"**स कारणं करणाधिपाधिपः**" (श्वेता० ६।९)=परमात्मा जगत् का कारण है=करणों-नेत्रादि साधनों के स्वामी जीव का स्वामी है। "**यो विदधाति कामान् तत्कारणम्**" (श्वेता० ६।१३)=जो परमात्मा फलों का विधान करता है वह कारण है। "**सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च**" (बृह० ५।६।१)=परमात्मा सब पर शासन करता है जो भी कुछ है। "**स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानां राजा**" (बृह० २।५।१५)=वह यह परमात्मा सब भूतों का राजा है। "**.......कर्माध्यक्षः**" (श्वेता० ६।११)=परमात्मा जीवों के कर्मों का अध्यक्ष है। इस प्रकार वह परमात्मा सब का हेतु है, अतः कर्मफलप्रदाता है। जैसा जिसका कर्म होता है वैसा उसके लिये फल प्रदान करता है। कर्म या धर्म फलयोग का निमित्त है न कि हेतु या प्रयोजक=प्रेरक अस्वतन्त्र होने से और ज्ञान शक्तिरहित होने से। किन्तु तदनुसार फलप्रदाता तो परमात्मा ही है, यह सिद्ध हुआ॥ ४१॥

तृतीयाध्याय का द्वितीय पाद सभाषानुवाद समाप्त॥

तृतीय पाद

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्॥ १॥

(सर्ववेदान्तप्रत्ययम्) वेदों का अन्त अर्थात् लक्ष्य वेदान्त अध्यात्म विषय कहलाता है, जो कि उपनिषद् शास्त्र है। सारे उपनिषद् शास्त्र सर्ववेदान्त शब्द से अभिप्रेत हैं। उन सर्ववेदान्त वचनों=सब उपनिषद् वचनों से प्रत्यय अर्थात् प्रतीति जिस ब्रह्म की अनुभूति या उपासना होती है वह सर्ववेदान्तप्रत्यय=ब्रह्म एक ही उपास्य है। क्योंकि (चोदनाद्यविशेषात्) उन वेदान्त वचनों या उपनिषद् वचनों में उपास्य रूप से ब्रह्म लक्षित है। उसकी उपासनाविधि में भिन्नता नहीं। और न ही उसके लक्षण और फल में भेद कहा गया है। जैसा कि "**एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्**" (मी० २।४।९)=ब्रह्म एक है उपासनारूप विधि के समान होने से॥ १॥

समस्त वेदान्तों अर्थात् उपनिषदों में उपासना की समानता कैसे

कहते हो ? भेद तो प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। जैसा कि छन्दोग=सामवेदीय आचार्य **पञ्चाग्नीन् वेद**'' (छान्दो० ५। १०। १०)=जो इन पांच अग्नियों को जानता है। किन्तु वाजसनेयी यजुर्वेदीय आचार्य छठी अग्नि को भी पढ़ते हैं। ''**तस्याग्निरेवाग्निर्भवति**'' (बृह० ६। २। ४) तथा प्राणों के संवाद में छन्दोग=सामवेदीय आचार्य मुख्य प्राण से भिन्न वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मन इन चार प्राणों को भी दर्शाते हैं। किन्तु वाजसनेयी यजुर्वेदीय आचार्य तो ''रेत:'' इस पांचवें प्राण को भी पढ़ते हैं—''**रेतो वै प्रजापतिः ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद**'' (बृह० ६। १। ६) इस विषय में कहते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

(भेदान्-न-इति-चेत्) उपासनाक्रम में अग्नि, प्राण आदि भेद से उपासना विज्ञान की एकता नहीं है। यह यदि कहा जाय तो (न) यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि (एकस्याम्-अपि) एक शाखा में भी उपासनाक्रम वस्तुओं के अल्प=न्यून-अधिक कल्पना के सम्भव से। जैसे वहां छान्दोग्य उपनिषद् में ही पांच अग्नियों को कहकर छठी अग्नि भी पढ़ते हैं—''**तं प्रेतं दिष्टमतोऽग्नय एवं हरन्ति**'' (छान्दो० ५। ९। २) इस प्रकार का निर्देश सर्वत्र अनुसन्धान करने योग्य है। उपास्य सर्वत्र एक ही है, लक्षण और फल भी एक ही है। जैसा कि ''**यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति**'' (छान्दो० ५। १। १, बृह० ६। १। १)=जो ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ अपनों में लाता है॥ २॥

अच्छा, तो व्रतभेद से उपासना विद्या का भेद हो सके—''**तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्**'' (मुण्ड० ३। २। १०) उन्हीं को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत सेवन किया है। इस प्रकार आथर्वणिक=अथर्ववेदीय आचार्य ब्रह्मविद्या ग्रहण में व्रत को पढ़ते हैं। वाजसनेयी=यजुर्वेदीय आदि आचार्य तो व्रत को नहीं पढ़ते हैं। इससे ब्रह्म उपासना का भेद अनायास सिद्ध हो जाता है। इस पर समाधान करते हैं—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सत्रवच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

(स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि) ''स्वस्य अध्ययनं स्वाध्याय:'' अर्थात् अपनी शाखा प्राप्त अध्ययन के तथा=तदनुसारता से ही, उस शाखा के अध्ययन की प्रथा से ही व्रत का आचरण कहा गया है न कि ब्रह्म-उपासना

धर्म को लेकर। क्योंकि (समाचारे-अधिकारात्-च) समाचार= शाखागत शिष्टाचार। उस शाखा के अध्ययन के=शिष्टाचार में अधिकृत हो जाने से=अधिकार पा लेने से। (सत्रवत्-च-तन्नियमः) वही नियम लक्षित होता है सब यज्ञ की भांति। जैसे ही सात सव=यज्ञ सौर्य आदि शतौदन पर्यन्त अथर्ववेदीय आचार्यों ने नियमित किये हैं। उसी भांति चीर्ण व्रत होना भी उनके अध्ययन विषय में नियमित किये जाते हैं कि "**नैतदचीर्णव्रतोऽधीते**" (मुण्ड० ३।२।११) व्रताचरण अध्ययन न करे॥ ३॥

दर्शयति च॥ ४॥

(दर्शयति च) श्रुति एक ब्रह्म उपास्य और उपासना की एकता को दर्शाती है—"**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति.........ओमित्येतत्**" (कठो० १। २।१५)=सारे वेद जिस पद का आमनान=पाठ करते हैं=उपास्यरूप से घोषित करते हैं वह ओ३म् है। तथा "**रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति** (तै० उ० २।७) अर्थात् परमात्मा रसरूप-आनन्दरूप है। यह उपासक उसको प्राप्त करके आनन्दी= आनन्दवान् हो जाता है। जब ही यह उपासक आत्मा इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, अनन्त परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। और भी—"**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**" (श्वे० ६।११)=समस्त भूतों में निहित एक परमात्मदेव उपास्य है। तथा "**यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते**" (छान्दो० ५।१८।१)=जो भी जन इस प्रादेशमात्र अर्थात् समस्त सुतेजा मूर्धा आदि प्रदेशों में होने वाले अभिविमान=निरवधिक= असीम पूर्णरूप वैश्वानर, परमात्मा की उपासना करता है इत्यादि एक उपास्य की चर्चा वाजसनेयी भी करते हैं—"**वैश्वानरः......प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयिष्यामि**" (शत० ४।१०।६।१) अतः सर्ववेदान्तप्रत्यय सारी उपनिषदों में अनुभूति या उपासना का विषय ब्रह्म तथा उपासनाविज्ञान एक है॥ ४॥

ब्रह्म का सर्ववेदान्तों=सर्व उपनिषदों का एक उपास्य स्थिर होने पर—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च॥ ५॥

(समाने-च-उपसंहारः-अर्थाभेदात्) उपासनाविज्ञान और उपास्य समान होने पर वेदान्तवचनों=उपनिषद्वचनों में कहे हुए उपास्य गुणों का अन्यत्र वेदान्तस्थल में=उपनिषद्वचन में उपसंहार=उपसंग्रह=परिगणन समानरूप

करना चाहिए। अर्थ के अभेद से=उपास्यरूप वस्तु के अभेद से=एक होने से। सो कैसे? (विधिशेषवत्) जैसे विधि और शेष अर्थात् अङ्गरूप विधानों में अग्निहोत्र आदि धर्मों का अन्यत्र कथन किये हुओं का सर्वत्र अग्निहोत्रादि कर्मों में उपसंहार=उपसंग्रह किया जाता है। अग्निहोत्ररूप वस्तु के अभेद से। ऐसे ही यहां भी जानना चाहिए॥ ५॥

अब आशङ्का को निवृत्त करते हैं—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्॥ ६॥

(शब्दात्-अन्यथात्वम्-इति चेत्) उपंसहार विषय में यदि कोई शङ्का करे कि पृथक् शब्द प्रयोग से उपास्य में अन्यथापन आ जावे=भेद आजावे तो (न) नहीं, पृथक्ता या अन्यथापन नहीं आयेगा। क्योंकि (अविशेषात्) आशय के समान होने से॥ ६॥

विज्ञप्ति—इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य आदि भाष्यकारों ने भिन्न भिन्न उदाहरण उपसंहारप्रसङ्ग से बाहिरी कल्पित किये हैं। परन्तु यह सूत्र उदाहरण की अपेक्षा नहीं रखता है। अपितु उपसंहार विषय में यह परिभाषारूप सूत्र है। ''उपसंहारोऽर्थाभेदात्........'' (५) इस पूर्व सूत्र का अवशेष आशङ्का की निवृत्ति के लिये है। उदाहरण तो स्वयं सूत्रकार आचार्य ने आगे ''**आनन्दादयः प्रधानस्य**'' (११) इस सूत्र को आरम्भ करके आनन्द आदि दिये हैं। पूर्वसूत्र के अवशेषरूप इस परिभाषा सूत्र में क्या परिभाषित किया है, यह कहते हैं।

फिर आशंका निवृत्त की जाती है—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्॥ ७॥

(न वा प्रकरणभेदात्) अथवा प्रकरण=क्रम के भेद से उपास्य का अन्यथापन=भेद हो जाये यदि कल्पना की जाये तो ऐसा नहीं, क्योंकि अविशेष होने से आशय के समान होने से। शब्दभेद से अन्यथापन नहीं तो अन्यथापन का स्थान क्या है यह कहा जाता है। (परोवरीयस्त्वादिवत्) जैसे परोवरीयस्त्वादि धर्म बिना अविशेष=शब्द के एकत्व में और प्रकरण के एकत्व में अन्यथात्व को प्राप्त हो जाता है—''**आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्। स एष परोवरीयानुद्गीः**'' (छान्दो० १।९। १-२) ''**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरणमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः......उद्गीथः**'' (छान्दो० १।६।६-८) यहां पर परोवरीयस्त्व और हिरण्यश्मश्रुत्व दोनों का अन्यथात्व पृथक्त्व होता ही है।

अविशेष के बिना शब्द एक और प्रकरण एक होने पर भी। क्योंकि यहां उपास्य भी एक नहीं और न ही उपासना-विज्ञान एक है। किन्तु दोनों वचनों में उद्गीथः शब्द एक और प्रकरण भी एक है (छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम अध्याय)। यहां यह प्रत्युदाहरण है। यह सूत्र पूर्व की भांति परिभाषारूप पूर्व सूत्र का अवशेष है।

शाङ्करभाष्य में "शब्दात्" पूर्व सूत्र में आये इस शब्द का अर्थ "प्रक्रमभेदात्"=प्रक्रमभेद से ऐसा किया है। इस सूत्र में "प्रकरणात्" इसका अर्थ भी "प्रक्रमभेदात्" प्रक्रमभेद से यह अर्थ शाङ्करभाष्य में अनन्यार्थ=अन्य अर्थ न करना दोष है॥ ७॥

अच्छा, तो संज्ञाभेद से अन्यथापन आ जावे, यह भी निवृत्त करते हैं—

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥ ८॥

(संज्ञातः-चेत्-तत्-तु-उक्तम्-अस्ति) भिन्न-भिन्न संज्ञाओं=नामों से उपास्य का भेद हो जायेगा उसके भेद से। उपसंहार से अन्यथात्व हो जाये यदि यह कहा जाय तो वह पहले ही समाधान कर दिया है—"**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**" (वेदा० १। २। १) सर्वत्र अध्यात्मप्रकरणों में ब्रह्म ही एक उपास्य दहर, आकाश, वैश्वानर आदि भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से लक्षित होता है। वेद में भी कहा है—"**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**" (ऋ० १। १६४। ४६) अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इन नामों से एक परमात्मा देव को ही विद्वान् जन कहते हैं। (तत्-अपि) इस उपसंहार प्रकरण में वह भी प्रतिवेदान्त प्रत्यय=समस्त उपनिषद् वचनों में प्रतीत होने वाला ब्रह्म ही समान उपास्य सिद्ध होता है॥ ८॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥ ९॥

(व्याप्तेः-च-समञ्जसम्) और जो कुछ भी उपास्य का अन्यथात्व प्रतिभासित हो वह सब स्थान से भी शङ्कायोग्य नहीं। क्योंकि व्याप्ति से=परमात्मा के व्याप्ति गुण वाला होने से समञ्जस अर्थात् युक्त या समुचित ही है। भिन्न-भिन्न के स्थानों में भी उसका उपास्य होना। परमात्मा व्यापक कहा गया ही है—"**अव्यक्तात् तु पुरुषः परो व्यापकोऽलिङ्ग एव च**" (कठो० २। ३। ८)=अव्यक्त से परे व्यापक परमात्मा है। तथा "**यच्च**

किञ्च जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।'' (तै० उ० १०।११)=जो कुछ भी सब जगत् दीखता है या सुना जाता है उस सब के अन्दर परमात्मा व्यापक होकर रहता है। ''**यो विश्वं भुवनमाविवेश**'' (श्वेता० २।१७)=जो सारे संसार के अन्दर आविष्ट हुआ है। वेद में भी कहा है—''**यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः**'' (ऋ० ७।१०१।४)=जिसके अन्दर सारे लोक-लोकान्तर स्थित हैं, ''**ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्**'' (यजु० ४०।१)=यह सब जगत् परमात्मा से वासित और आच्छादित होने योग्य है। इस प्रकार स्थानभेद से हृदय में, नेत्र में, मूर्द्धा में तथा सूर्य में या द्युलोक में मनोवृत्ति को रखकर परमात्मा की उपासना सम्भव है॥ ९॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे।

आनन्दादयः प्रधानस्य॥ १०-११॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(सर्वाभेदात्-प्रधानस्य-इमे-आनन्दादयः-अन्यत्र) पूर्वोक्त सर्वाभेद से सब वेदान्तों=सब उपनिषदों में उपास्य के अभेद=समान होने से प्रधान अर्थात् प्रमुख परमात्मा के ये आनन्द आदि, रस, आकाश, तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित गुण अन्यत्र उपनिषद् में न कहे हुये वहां उपनिषदों में उपसंहार करने योग्य=उपसंग्रह करने योग्य हैं। पूर्व सूत्र में ''इमे'' बहुवचनान्त सर्वनाम विशेषण निकटवर्ती पद के साथ जोड़ने योग्य हैं, वह निकटवर्ती पद अगले सूत्र में ''आनन्दादयः'' है। अतः शाङ्करभाष्य में इनकी पृथक्-पृथक् अधिकरण कल्पना करना ठीक नहीं॥ १०-११॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥ १२॥

(प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः) उन आनन्द आदि में प्रियशिरस्त्व प्रियशिरस् आदि विशेषणों की उपसंहारप्राप्ति नहीं होती। क्योंकि (उपचयापचयौ हि भेदे) इसलिए कि वहां प्रियशिरस् आदि शब्दों में प्रिय, मोद, प्रमोद, इनका उपचय और अपचय अर्थात् उत्कर्ष और अपकर्ष होते हैं। ''प्रिय'' शब्द से ''मोद'' में और ''मोद'' में ''प्रमोद'' में उपचय-उत्कर्ष है। तथा ''प्रमोद'' से ''मोद'' में ''मोद'' से ''प्रिय'' में अपचय-अपकर्ष है। वे उपचय और अपचय अर्थात् उत्कर्ष और अपकर्ष भेद में होते हैं। जिस वस्तु में अवयवभेद=खण्डभेद हो वहीं पर उपचय और अपचय=उत्कर्ष अपकर्ष हुआ करते हैं। ''**उपयन्नपयन् धर्मो विकरोति धर्मिणम्**'' इति

न्यायः। धर्म-गुण बढ़ता हुआ और घटता हुआ वस्तु को परिणामी कर देता है। तथा ब्रह्म तो एकरस अखण्ड है—"**एकात्मप्रत्ययसारम्**" (माण्डू० ७) ब्रह्म केवल आत्मप्रतीति स्वरूपवाला है।"**अनन्तरमबाह्यम्**" (बृह० ३।८।८)=ब्रह्म भीतर बाहर के खण्ड और आवरण से रहित है। अतः ये 'प्रिय' 'मोद' 'प्रमोद' ब्रह्म के धर्म नहीं हैं किन्तु सर्वान्तर कोष के बाह्य भागवर्ती=बाहरी भाग में रहने वाले हैं, अतः वे अन्यत्र उपसंहार करने योग्य नहीं ॥१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात्॥ १३॥

(इतरे-तु-अर्थसामान्यात्) प्रियशिरस् आदि से इतर अर्थात् भिन्न आनन्द आदि=आनन्द, रस, आकाश, सत्य आदि धर्म उपसंहारप्राप्ति में अभीष्ट हैं। अन्यत्र उपनिषद् प्रकरणों में उपसंहार किये जाते हैं अर्थ के सामान्य=अर्थात् वस्तु के एक होने से॥ १३॥

आनन्दमय ब्रह्म में प्रवेश के लिये जैसे प्रियशिरस्त्व आदि क्रम है उसी भांति "**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः**" (कठो० १।३।१०-११)=इन्द्रियों से परे अर्थ-विषय, ग्रहण शक्तियां और अर्थों=विषय ग्रहण शक्तियों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे महत्तत्त्व उससे परे अव्यक्त, अव्यक्त से परे पुरुष=परमात्मा से परे कुछ नहीं, यह काष्ठा=अन्तिम सीमा और यही परागति है। यहां भी परत्वतारतम्य क्रम ब्रह्म में प्रवेश के लिये मानना होगा। इस पर कहते हैं—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥ १४॥

(आध्यानाय) "**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परं मनः.....**" (कठो० १।३।१०-११) इस उक्त वचन में परत्व क्रम का निर्देश आध्यान है=परमात्मा के निश्चय के लिए है कि परमात्मा सब से उत्कृष्ट, सूक्ष्म और इन सब के अन्दर व्यापक होने से वर्तमान है, यह मानना चाहिये। यहां उपासना-विषय का प्रदर्शन नहीं है। जो उपासनाक्रम समझा जावे क्योंकि (प्रयोजनाभावात्) प्रयोजन के अभाव से=इनके परत्व में उपासना का कोई प्रयोजन नहीं है॥ १४॥

आत्मशब्दाच्च॥ १५॥

(आत्मशब्दात्-च) वहां परत्व प्रकरण में परमात्मा अभीष्ट है। क्योंकि

वहां प्रत्यक्ष आत्मा=परमात्मा शब्द अभीष्ट रूप से पड़ा है—"**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥**" (कठो० १।३।१२) अर्थात् समस्त भूतों में परमात्मा निहित है, प्रकाशित नहीं होता परन्तु सूक्ष्मदर्शी योगियों के द्वारा श्रेष्ठ सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है। इस प्रकार परमात्मा का आध्यान=निश्चय प्रतिपादित किया है कि इन्द्रियों से लेकर अव्यक्त पर्यन्त पदार्थों के अन्दर परमात्मा आध्यान करने योग्य है=निश्चय करने योग्य है॥ १५॥

आक्षेप करके समाधान करते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ १६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्॥ १७॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(आत्मगृहीतिः-इतरवत्) "**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते**" (कठो० १।३।१२) उक्त वचन में जो आत्मा शब्द ग्रहण किया गया है वह परमात्मा का वाचक नहीं किन्तु इतरवत्=इतर जो जीवात्मा है उसको लेकर या उसके निमित्त मानना चाहिए। क्योंकि (उत्तरात्-अन्वयात्) अगले अन्वय से, उसके आगे जीवात्मा का प्रकरण है="**यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि**" (कठो० १।३।१३)=वाणी को मन में नियन्त्रित करे, मन को बुद्धि में और बुद्धि को महत्तत्त्व या चित्त में और उसे शान्त आत्मा=जीवात्मा में नियन्त्रित करे। यहां नियन्त्रित करने से अन्तिम जीवात्मा भासित होता है। (इति-चेत्-स्यात्-अवधारणात्) ऐसा कथन यदि हो तो अवधारण से यहां परमात्मा ही 'आत्म' शब्द से लक्षित होता है। अर्थात् जीवात्मा नहीं क्योंकि अवधारण ही वहां परमात्मा का है। "**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥**" (कठो० १।३।१५)=परमात्मा जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित अविनाशी नित्य आदि अन्त से रहित ध्रुव है उसको निश्चय करके=स्वात्मा में बिठाकर मृत्यु के मुँह से छूट जाता है। इस प्रकार यहां आत्मा शब्द से परमात्मा अभीष्ट है॥ १६-१७॥

कार्याख्यानादपूर्वम्॥ १८॥

(अपूर्वं-कार्याख्यानात्) कहीं अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म को=अपूर्व पढ़ा जाता है। "**तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः**"

(बृह० २।५।१९)=वह यह अपूर्व विशेषण से यहां ब्रह्म जो कहा जाता है वह कार्याख्यान=कार्य के अख्यान अर्थात् अप्रकथन=अवर्णन या अदर्शन से, उसके विकाररूपता द्वारा कार्य निषेध से। अन्यत्र कहा भी है—"**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते**" (श्वेता० ६।८)=उसका कोई कार्य=विकाररूप कार्य और करण=साधनरूप इन्द्रिय नहीं है। इस प्रकार कार्यरूप वस्तु की कार्यकाल में पूर्वरूप से च्युति हो जाती है। और कार्य पूर्ववत्=पूर्वसत्तायुक्त अपने को पूर्वसत्ता से अपेक्षित किये हुए होता है किन्तु ब्रह्म अपूर्व=अपूर्ववत् है। अर्थात् किसी भी अपने से पूर्व सत्ता से युक्त नहीं होता। वह तो अपूर्व ही होता है। वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता=विकृत नहीं होता, कार्यरूप को प्राप्त नहीं होता, अत: वह अपूर्व है। वह यह अपूर्व विशेषण अन्यत्र उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य है॥ १८॥

समान एवं चाभेदात्॥ १९॥

(एवं समान:-च) इस प्रकार वहां अपूर्व कथन के साहचर्य से उन 'पर' आदि विशेषण कहे हुओं का भी समान उपसंहार=उपसंग्रह जानना-करना चाहिए। "......**अनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू:**" (बृह० २।५।१९) अर्थात् अनपर, अनन्तर, अबाह्य, सर्वानुभू: ये भी उपसंहार करने योग्य हैं। यहां पर इस प्रकार विवेचन करने योग्य है कि परमात्मा अनपर है अर्थात् जिससे परे कोई अन्य रूप नहीं है, कार्य के अप्रकथन से। कार्य विनष्ट होता है किन्तु परमात्मा तो वैसे ही रहता है, अत: वह अनपर है। अनन्तर, अबाह्य भी परमात्मा है। क्योंकि उसके अन्दर मध्य खण्डभाग नहीं और न बाहर खण्डभाग=पृष्ठ है, कार्य के अप्रकथन से ही। कार्य वस्तु के ही अन्दर और बाहर भाग हुआ करते हैं। वह तो सर्वव्यापी, सर्वगत और अनन्त है। वे ये धर्म भी अन्यत्र उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य हैं (अभेदात्) परमात्मा के एक होने से=उसके वर्णन की समानता से॥ १९॥

इस पर शङ्का करते हैं—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥ २०॥

(सम्बन्धात्-एवम्-अन्यत्र-अपि) परमात्मा के गुणों का उपसंहार-उपसंग्रह यदि सम्बन्ध से-परमात्मसम्बन्ध से=परमात्मा के वर्णन रूप सम्बन्ध मात्र से=परमात्मप्रकरण से ही हो तो अन्यत्र भी श्रुति से अन्यत्र स्मृति में भी वर्णित परमात्मा के गुणों का उपसंहार=उपसंग्रह प्रसंगप्राप्त होता है। क्योंकि स्मृति में भी परमात्मा के गुणों का वर्णन मिलता है॥ २०॥

समाधान करते हैं—

न वा विशेषात्॥ २१॥

(न वा विशेषात्) 'वा' शब्द 'च' के अर्थ में है। और श्रुति से अन्यत्र स्मृति में वर्णित परमात्मा के गुणों का उपसंहार=उपसंग्रह श्रुति में नहीं किया जाता। क्योंकि स्मृति से श्रुति विशिष्ट है। स्मृति की अपेक्षा श्रुति प्रमाण प्रमुख है। स्मृति श्रुति के अनुकूल हो सकती है किन्तु स्मृति का अनुसरण श्रुति नहीं कर सकती॥ २१॥

दर्शयति च॥ २२॥

(दर्शयति च) श्रुति शब्द श्रुति में कहे हुए ब्रह्म-वर्णन की प्रमाणता और उसकी सफलता को दर्शाती भी है।"**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**" (बृह० ३।९।२६) उपनिषदों में कहे पुरुष=परमात्मा को पूछता हूँ। यहां स्पष्ट ही उपनिषद् में प्रतिपादित परमात्मा की जिज्ञासा है।—"**नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्॥**" (तै०ब्रा० ३।१२।९) वेद को न जानने वाला उस अनन्त परमात्मा को नहीं समझ पाता। यहां भी परमात्मा के जानने में प्रमाण वेद को लक्षित किया गया है। तथा स्मृति भी श्रुति को ही प्रमाण स्वीकार करती है।"**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**" (मनु० २।१३) धर्मज्ञान के इच्छुकों के लिए परम प्रमाण श्रुति है। अतः स्मृति से श्रुति में ब्रह्म के गुण उपसंहार करने योग्य नहीं हैं॥ २२॥

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः—
पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥ २३-२४॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(सम्भृतिद्युव्याप्ती-अपि च-अतः) 'सम्भृतिद्युव्याप्ती' 'अपि' शब्द के साथ आर्ष सन्धि है। सम्भृति=सम्भरण=सम्यक् धारण पृथिवी का, द्युव्याप्ति=द्युलोक में व्याप्ति से परमात्मा का पृथिवी को सम्यक् धारण करना और द्युलोक में व्याप्त होना ये दोनों धर्म अथर्व श्रुति में वर्णित हैं—"**ब्रह्मज्येष्ठा सम्भृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान**" (अथर्व० १९।३।२२)= परमात्मा के ये दोनों धर्म आधिदैविक विभूतिरूप हैं, आध्यात्मिक नहीं अतः उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य नहीं हैं। इस पर कहते हैं (पुरुषविद्यायाम्-इव-च-इतरेषाम्-अनाम्नानात्) पुरुष विद्या=ब्रह्मविद्या की भांति अन्य धर्मों का अन्यत्र न पढ़ने से उपसंहार=उपसंग्रह होता है। अतः इन दोनों धर्मों का भी उपसंहार=उपसंग्रह करना चाहिए। क्योंकि ये दोनों

धारण और व्याप्ति धर्म "**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**" (ऋ० १०।९०।१, यजु० ३०।१) "**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्**" (ऋ० १०।८२।३) इन मन्त्रों में पुरुषविद्या=ब्रह्मविद्या के प्रसंग में वर्णित की भांति हैं। जैसे यहां पुरुषविद्या= ब्रह्मविद्या में वर्णित सहस्रशीर्षा=अनन्तज्ञानशक्तियों वाला, सहस्राक्षः=असंख्य नेत्रशक्तियों वाला, सहस्रपात्=असंख्य गतिशक्तियों वाला और सब और नेत्रशक्ति वाला, सब ओर मुखशक्ति वाला, सब ओर बाहुशक्ति वाला, सब ओर पैर-शक्ति वाला ये विभूति धर्म उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य हैं। ऐसे ही सम्भृति=धारण शक्ति और व्याप्ति व्यापन धर्म भी उपसंहार करने योग्य हैं॥ २३-२४॥

यदि इसी प्रकार विभूति धर्म भी उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य हैं तो "**अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि**" (ऋ० १०।८७।५)=ऐ तेजस्वी परमात्मन्! तू यातुधान=राक्षस दुष्ट मनुष्य की त्वचा को फाड़ दे। तथा "**तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य**" (ऋ० १०।८७।१७)=उसको उल्टा ज्वाला से बींध दे। इत्यादि फाड़ने, फोड़ने, बींधने आदि विभूति धर्म भी उपसंहार= उपसंग्रह करने चाहिएं। इस पर कहते हैं—

वेधाद्यर्थभेदात्॥ २५॥

(वेधादि-अर्थभेदात्) पूर्व से चले आ रहे "न" का अनुवर्तन है। वेध आदि-वेधन, भेदन, भञ्जन कर्मों का उपसंहार=उपसंग्रह नहीं होता है। अर्थभेद के कारण "**अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि**" (ऋ० १०।८७। ५) "**तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य......**" (ऋ० १०।८७।१७) "**अग्ने.... विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम्**" (ऋ० १०। ८७।४) इन वचनों में प्रयोजनभेद है। उपासना का प्रयोजन परमात्मसाक्षात्कार और उसके आनन्दादि सौम्य गुणों की प्राप्ति है। किन्तु उक्त वचनों में तो शासन, दण्ड देना, धर्म की ओर चलने के लिये भय दिखाना प्रयोजन है। उपासना में निज सद्गुणों में प्रवृत्ति और शासन या दण्ड देने में पापी की पापनिवृत्ति प्रयोजन है॥ २५॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्युपगान-वत्तदुक्तम्॥ २६॥

(हानौ तु-उपायनशब्दशेषत्वात्) "तु" शब्द प्रकृत "न" की निवृत्ति के लिये है। उपासना का मुख्य अर्थ=प्रयोजन उपास्य के गुणों का लाभ है।

हानि=अवगुण हानि गौण अर्थ-प्रयोजन है मुख्य नहीं, तथापि क्वचित् श्रुति में हानि=अवगुण हानि ही पढ़ी जाती है। "**अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य। धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि-सम्भवामि**" (छान्दो० ८। ३। ११)=मैं कृतात्मा=परमात्मसाक्षात् करनेवाला जन, घोड़ा जैसे रोमों को झाड़कर सुन्दर हो जाता है ऐसे पाप को पृथक् करके मैं भी हो जाता हूँ अथवा जैसे राहु=पृथिवीच्छाया से मुक्त होकर चन्द्रमा पूर्ण निर्मल हो जाता है उसी प्रकार शरीररूप आवरण को हटाकर मैं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता हूं। यहां हानिश्रुति में यद्यपि उपासना के मुख्य प्रयोजन से भेद है तथापि हानि-क्षय=पापक्षय में उपायन शब्द का शेष होकर लाभ का अङ्ग बनकर लाभ साहचर्य लाभ की समीपता तो अनिवार्य है। अतः हानि श्रुति में केवल हानि ही नहीं माननी चाहिए किन्तु उपासन-उपगमन=प्राप्ति-लाभ का भी उपसंहार=उपसंग्रह का स्थान है। गुण लाभ के अवगुण हानि पूर्वक होने से। अतः वहां कहे परमात्मगुणों का उपसंहार अन्य श्रुति से अन्य श्रुति में करना चाहिए। हानि के सम्बन्ध में उपायन शेषता को दिखाने वाली श्रुति भी है। "**नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानम्**" (मुण्ड० ३। २। ८-९)=सांसारिक नामों और व्यवहारों से मुक्त हुआ आत्मा पर से पर पुरुष-परमात्मा को प्राप्त होता है। परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है तो ब्रह्म जैसा विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाता है। शोकों को तर जाता है। पाप को तर जाता है। तथा "**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥**" (कठो० २। ३। १४)=जब मनुष्य की समस्त सांसारिक कामनायें छूट जाती हैं जो कि इसके हृदय में वर्तमान हैं तब वह अमृत=अमर मृत्यु से पृथक् हो जाता है और इस अवस्था में ब्रह्म को प्राप्त होता है। इन वचनों में परमात्मा का उपायन=उपगमन=लाभ-प्राप्ति हानि सांसारिकता के त्याग एवं शोक और दुःख के त्याग तथा वासनात्याग के साथ दिखलायी गई है। इस प्रकार उपासना का लाभ, दोष, हानि के बिना सम्भव नहीं है। हानि के सम्बन्ध में वह यह कथन उपायन शब्द का शेष अर्थात् अङ्ग है। (कुशाच्छन्द स्तुत्युपगानवत् तदुक्तम्) कुशाछन्द, स्तुति, उपगान की भांति होता है। जैसा कि उस विषय वाले शास्त्र में कहा है, कुशा—"कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात" (इति भाल्लविनः)=कुशायें वनस्पति की होनी चाहिएं यह सामान्यरूप से कहा है। "औदुम्बर्यः कुशाः" (इति

शाट्यायनिनः) उदुम्बर=गूलर की कुशायें हों, यह विशेष कहा है। छन्दः—"**छन्दोभिः स्तुवते**" (इति केचिच्छाखिनः) छन्दों-गायत्री आदि छन्दों से स्तुति करनी चाहिए, यह सामान्य कहा है। "**देवच्छन्दांसि पूर्वाणि**" (इति पैङ्गिनः) देवच्छन्द यहां विशेष कहा है। स्तुति—"**अतिरात्रे..... षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति**" (तै०सं० ६।६।११) अति-रात्रिकाल में षोडशी से स्तोत्र=स्तुति का आरम्भ करता है। यहां सामान्य कहा है। "**समयाविषिते सूर्ये षोडशिनः**" इति विशेषः। उदित सूर्य पर यह विशेष कहा है। उपगान—"**ऋत्विजो गायन्ति**" (इति केचित्) यहां सामान्यरूप से ऋत्विजों के गान की चर्चा है। "**नाध्वर्युरुपगायेत्**" (तै०सं० ६।३।१)=अध्वर्यु उपगान न करे यह विशेष कहा है। इस प्रकार समान-शास्त्रपठित विधियों में जैसे शेष अर्थात् अङ्गरूप विधि का अनुष्ठान किया जाता है उसी भांति उपासना प्रकरण में भी। हानि के सम्बन्ध में कही विधि उपगान का शेष-अङ्ग जानना चाहिए। अतः हानि प्रसङ्ग में गुणों का भी उपसंहार होना चाहिए॥ २६॥

साम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये॥ २७॥

(साम्पराये तर्तव्याभावात्) इस हानि प्रसङ्ग में कौषीतकी शाखा वाले पढ़ते हैं कि "**स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति।......स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते**" (कौ० १।३-४)=वह मुमुक्षु=मोक्ष का यात्री इस देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अन्य लोक में जाता है। वह विरजा नदी को मन से पार करता है। और सुकृत=पुण्य दुष्कृत=पाप दोनों को त्याग देता है। यहां पुण्य—पाप की हानि कही गई है। वह शरीरपात=मरने से पूर्व या शरीरपात=मरने के पश्चात् ब्रह्मलोक मार्ग को जाते हुए होती है या क्या, यह चिन्तनीय है? उसके सम्बन्ध में कहते हैं कि साम्पराय=ब्रह्मलोक मार्ग में तैरने योग्य के अभाव से, भोगमय हेय=त्याज्य और उपादेय=ग्राह्य का अभाव होने से। शरीरपात=मरने से पूर्व ही सब पुण्य-पापरूप कर्ममात्र और उसका फल हीन=क्षीण हो जाता है। और जो विरजानाम नदी कही गई है उसके अन्दर पुण्य=पाप का प्रक्षेपण-फेंकना यह सब आलङ्कारिक वर्णन है। क्योंकि देहपात शरीरनाश के अनन्तर किसी भी नदीतरण के प्रसङ्ग का सम्भव नहीं। किन्तु "**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**" (मुण्ड० १।२।११) "**तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको.....**" (प्रश्नो० १।१५)=मुमुक्षुजन सूर्य द्वारा 'विरजाः'=रज=व्यसन=वासनारहित

निर्मल अध्यात्मधाराओं को प्राप्त होते हैं। जहां अमृत पुरुष परमात्मा उनका लक्ष्य है। और उन्हीं को यह विरज=निरञ्जन, निर्लेप ब्रह्मलोक मोक्ष उनका अभीष्ट है। यहां पर ब्रह्मलोक के मार्ग को जाने वालों की विरजा=निर्मल अध्यात्मधारा और विरज=निर्मल ब्रह्मलोक कहे गये हैं। विरजा नाम से कोई जल नदी नहीं। न ही उसके तरण का सम्भव है। किन्तु वह तो पूर्व की भांति निर्मल अध्यात्मधारा है। जो कि ब्रह्म की उपासना से निष्पन्न शुद्ध आत्मवृत्ति है। उपासक ब्रह्मलोक को गमन के हेतुरूप उस अध्यात्मवृत्ति का अनुष्ठान करता हुआ पुण्य-पाप को त्याग देता है। शरीरपात=देहविनाश= मरने से पूर्व ही (तथाहि अन्ये) वैसे ही अन्य शाखी लोग भी शरीरपात से पूर्व पुण्य-पाप हानि को पढ़ते हैं—"**स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य**" (कठो० १।१।१८)=मृत्युपाशों को पूर्व छिन्न-भिन्न करके। "**तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**" (मुण्ड० ३।१।३)= विद्वान् पुण्य-पाप को विनष्ट करके निर्मल हुआ परमात्मा के परम समागम को प्राप्त होता है। फिर निर्मलता हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति दर्शायी गई है। गीता में भी कहा है—"**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते**" (गी० ४।३७)=ज्ञानरूप अग्नि सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है॥ २७॥

तो फिर कौषीतकिवचन और मुण्डकोपनिषद् में सुकृत=दुष्कृत=पुण्य पाप का नाश कैसे अभीष्ट है? छान्दोग्य उपनिषद् में तो "**अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्**" (छान्दो० ८।१३।१)=यहां पाप का नाश ही अभीष्ट है। इस प्रकार विरोध प्रसङ्ग आता है। इस पर कहते हैं—

छन्दतः उभयाविरोधः॥ २८॥

(छन्दतः-उभयाविरोधः) छान्दोग्य उपनिषद् में जो पाप को नष्ट करता है वह प्रतिबन्धरूप से नहीं कहा कि पाप को ही नष्ट करके, किन्तु पाप को नष्ट करके छन्दतः=अनायास=सरलभाव से कहा है। इससे पुण्य को नष्ट करके नहीं, ऐसा नहीं समझा जाता। पुण्य को नष्ट करके भी समझा जा सकता है। इस प्रकार छन्दतः=अर्थात् बिना प्रतिबन्ध के सरलरूप कथन से दोनों स्थलों में कोई विरोध नहीं है। 'विधूय' यह क्रियापद दोनों स्थलों में समान है। अतः विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए॥ २८॥

दुष्कृत हान के प्रसङ्ग में सुकृत हान का भी उपसंहार=उपसंग्रह कहा गया है। अब देवयानमार्ग से गमन का भी उपसंहार=उपसंग्रह करना चाहिए जहां कि उसका निर्देश नहीं किया गया वह वर्णित करते हैं—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

(उभयथा गतेः-अर्थवत्त्वम्) **"स एतं देवयानं पन्थानमासाद्य"** (कौषी० १।३)=वह देवयान मार्ग को प्राप्त करके इस पाठ के निर्देश से तथा ऐसा निर्देशन करके भी दोनों प्रकार से देवयान मार्ग से गति-गमन की अर्थवत्ता है, सार्थकता=आवश्यकता है। अतः जहां गति का निर्देश नहीं भी किया है वहां भी उसका उपसंहार=उपसंग्रह कर लेना चाहिए। (अन्यथा हि विरोधः) दोनों प्रकरणों में विरोधप्रसङ्ग आ जावे ॥ १९ ॥

फिर उसी बात को युक्ति से पुष्ट करते हैं—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

(उपपन्नः-तल्लक्षणार्थः[1] उपलब्धेः-लोकवत्) उपपन्न अर्थात् युक्त है। तल्लक्षणार्थ=उस गति के लक्षणार्थ, जो उस गति को लक्षित कराता है वह ऐसा अर्थ बिना गति शब्द प्रयोग के भी उपपन्न होता है। क्योंकि उपलब्धि के लोकवत् होने से। जैसे ही लोक में कोई उपलब्धि=प्राप्ति होती है, वह गतिपूर्वक ही होती है। प्राप्तव्य वस्तु के दूरस्थित होने से। उपलब्धि-कर्त्ता=प्राप्तिकर्त्ता और उपलब्धव्य=प्राप्तव्य के मध्य में जो अन्तर [दूरी] होती है। वह गति से ही निवृत्त होती है। ब्रह्म की उपलब्धि देवयान मार्ग के निर्देश के बिना भी श्रुति में दिखलायी गयी है—**"पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"** (मुण्ड० ३।१।३) **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** (तै०उ० २।१) अतः इन दोनों स्थलों में भी देवयान मार्ग से गमन अनायात सम्भावित है। इस प्रकार देवयान मार्ग से गति का उपसंहार=उपसंग्रह तो उसके निर्देश से रहित श्रुति में भी करना चाहिए ॥ ३० ॥

देवयान मार्ग द्वारा गमन के सम्बन्ध में अन्य हेतु देते हैं—

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

(अनियमः) देवयान मार्ग में गति का अनियम अच्छा है। किसी भी उपनिषद् विद्या में उसका नियम होना उचित नहीं=अच्छा नहीं। किन्तु (सर्वासाम्-अविरोधः) सभी उपनिषद् विद्याओं में अविरोध=समानभाव होना चाहिए। ऐसा ही—(शब्दानुमानाभ्याम्) शब्द=श्रुति और अनुमान=स्मृति से सिद्ध होता है। श्रुति—**"स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते"** (छान्दो० ४।१५।५) वह इनको ब्रह्म की ओर ले जाता है। यह देवपथ=ब्रह्मपथ है, इससे चलते

१. "तल्लणार्थोपलब्धेः तल्लक्षणार्थः उपलब्धेः" इति सन्धिरार्षः ॥

हुए इस मानवरूप आने जाने के चक्र को नहीं लौटते। "**ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासतेऽर्चिषमभिसंभवन्ति.....स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः**" (छान्दो० ५। १०। १-२)=और जो वन में श्रद्धा और तप को सेवन करते हैं वे सूर्य की किरण को प्राप्त होते हैं। वह इन्हें ब्रह्म की ओर ले जाती है। ये देवयान मार्ग है। "**ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभि संभवन्ति....... ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः**" (बृह० ६। २। ५) "**अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते**" (प्रश्नो० १। १०) "**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वान्सो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**" (मुण्ड० १। २। ११) इन श्रुतिवचनों में ब्रह्म की ओर गति का वर्णन तो प्रत्येक में है किन्तु देवयान मार्ग निर्दिष्ट नहीं है, अतः देवयान मार्ग से जाने का निर्देश हो या न हो इसमें कोई नियम की आवश्यकता नहीं। गति के कथन से जाना आवश्यक है सो देवयान से ही जाना बनता है। इसलिए देवयान का उपसंहार=उपसंग्रह अन्य अनिर्दिष्ट स्थान पर भी कर लेना चाहिए। स्मृति—"**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥**" (गी० ८। २६)=शुक्ल कृष्ण गतियां चली आ रही हैं जीवों के मरण के पश्चात् एक से मोक्ष की ओर चला जाता है और दूसरी से जन्म लेता है। यहां "गती" शब्द से देवयान-पितृयाण मार्ग लक्षित है। जैसा कि वेद में भी कहा है—**द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत**" (ऋ० १०। ८८। १५)=पितरों और देवों की दो गतियां हैं ऐसा यहां कहा गया है॥ ३१॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥ ३२॥

(आधिकारिकाणाम्-अवस्थितिः-यावदधिकारम्) ब्रह्म-उपासना से मोक्षाधिकार में सम्पन्न आत्माओं=महानुभावों की स्थिति अर्थात् स्वरूप मोक्ष में और मोक्ष-आनन्दभोग में यावदधिकार जितनी योग्यता=योग्यतानुसार होता है। जैसा कि ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में कहा है—"मुक्ति में.....जितना ज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही आनन्द होता है" (सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)। यह ठीक है कि जैसे ब्रह्म-ज्ञान की सीमा नहीं है वैसे ही ब्रह्म की सङ्गति से मोक्ष-आनन्द की सीमा भी नहीं हो सकती।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में किन्हीं प्रचलित असत्य कथाओं को लेकर मोक्षाधिकारियों की मोक्षप्राप्ति के लिए प्रतिबन्ध कल्पित किया है, वह ठीक नहीं। युक्ति से पुनरावृत्ति को न मानता हुआ भी मोक्ष के लिये अधिकारियों के सम्बन्ध में कैसे प्रतिबन्ध मानता है, यह श्रुतिविरुद्ध बात है क्योंकि "**भिद्यते हृदयग्रन्थिः......तस्मिन् दृष्टे परावरे**" (मुण्ड० २। २। ८)=उस परावर=दूर और समीप में वर्तमान हुए ब्रह्म के साक्षात् हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है। ब्रह्मसाक्षात्कर्त्ता की बन्धन से विमुक्ति हो जाती है। ऐसा श्रुति में कथन होते हुए प्रतिबन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है॥ ३२॥

**अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपस-
दवत्तदुक्तम्॥ ३३॥**

(अक्षरधियां तु-अवरोधः) अक्षरधियों=अक्षरबुद्धियों=अक्षरोपासनाओं का तो अवरोध=परस्पर उपबन्ध, उपसंहार=उपसंग्रह होता है जैसा कि "**एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणायदभिवदन्त्यस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहम्......**" (बृह० ३। ८। ८) हे गार्गि! जिस अक्षर को ब्रह्मज्ञानी विद्वान् कहते हैं वह अस्थूल=स्थूल नहीं, अनणु=अणु परिमाणवाला नहीं, अह्रस्व=ह्रस्व परिमाण वाला नहीं, अदीर्घ=दीर्घ परिमाणवाला नहीं, अलोहित=लाल रङ्गों से रहित, अस्नेह=गीलेपन से रहित। तथा "**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तददृश्यमग्राह्यम्.....**" (मुण्ड० १। १। ५)=परा विद्या वह है जिससे वह अक्षर अधिगत=ज्ञात और प्राप्त हो जो कि अदृश्य और अग्राह्य है। और भी "**ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्.....**" (माण्डू० १) "ओम्" यह अक्षर=अविनाशी एकरस सत्ता है। यह समस्त जगत् उस 'ओ३म्' का उप-व्याख्यान है। समीपता से बताने वाला व्याख्यान उसका बोध कराने वाला महिमारूप है। इत्यादि स्थलों में आई अक्षर उपासनाओं में यह भिन्न-भिन्न धर्म प्रतिपादित किये हैं। वे ये धर्म परस्पर उपसंहार=उपसंग्रह करने चाहिएं। क्योंकि (सामान्य-तद्भावाभ्याम्) सामान्य से सब के अन्दर अक्षर उपासनीय है। उन वचनों से 'ओ३म्' अक्षर की उपासना का विधान सामान्य है इस कारण तथा तद्भाव=तदर्थभावन होने से भी। जैसा कि योगदर्शन में भी वर्णित है, कहा है—"**तज्जपस्तदर्थभावनम्**" (योग० १। २८) अर्थात् ओ३म् का जप और उसके अर्थ का भावन=स्वात्मा में अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार अर्थभावन में उस 'ओ३म्' अक्षर के समस्त धर्म भावनीय होते हैं, जो-जो जहां-जहां पढ़े हुए हैं। वह यह इस

प्रकार (उपसदवत्-तत्-उक्तम्) कर्मकाण्ड में प्रतिपादित उपसद की भांति है। और वह यह बात कर्मकाण्ड शास्त्र में कही गई है, जैसे ही अहीन यज्ञ में पुरोडाश वाली उपसदों में उद्गाता सम्बन्धी "**अग्ने वेर्होत्रं वेरध्वरम्**" (ताण्ड्य २१।१०।११) इत्यादि पुरोडाश मन्त्रों का अध्वर्यु प्रयोग में उपसंहार=उपसंग्रह होता है। उसी भांति यहां भी 'ओ३म्' अक्षर— धर्मों का एक का दूसरे उपनिषद् में उपसंहार करना चाहिए॥ ३३॥

इयदामननात्॥ ३४॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः॥ ३५॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(इयदामननात्) इयत्=इयत्ता=सीमा के पाठ से-इयत्ता परिमाण प्रदर्शन से कहीं-कहीं अध्यात्म प्रकरण में परमात्मा का वर्णन मिलता है या वर्णित है—"**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥** (ऋ० १०।९०।३)=यह इतना संसार उस परमात्मा की महिमा है। वह परमात्मा इस महिमारूप संसार से महान् है। सब भूत समस्त लोक-लोकान्तर या सारा जगत् उसका एक पाद=पैरमात्र है। उस परमात्मा का त्रिपाद् रूप अमृतस्वरूप द्यौ में है। यहां महिमारूप जगत् से परमात्मा महान् है, इस कथन में महिमारूप जगत् की अपेक्षा उस परमात्मा की इयत्ता=सीमा प्रदर्शित की है। वह यह इस प्रकार इयत्=इयत्ता=परिमाण के वर्णन से वह उपास्य परमात्मा (स्वात्मनः-अन्तरा-भूतग्रामवत्) स्वात्मा के अन्दर व्यापक है भूतग्राम की भांति। जैसे ही पृथिवी आदि भूतग्राम= पृथिवी आदि भूतसमूह में वह व्यापक है उसी भांति स्वात्मा में भी व्यापक है। क्योंकि "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" इस वचन से समस्त भूतसमूहों में व्यापक होने से। वह स्वात्मा=जीवात्मा=आत्मा के अन्दर भी व्यापक है, यह सिद्ध होता है। भूतसमूह में जीवात्माओं के जन्म लेने के कारण और उनमें निवास करने के कारण। इसी कारण से "**अंशो.....मन्त्रवर्णाच्च**" (वेदा० २।३।४३-४४) यह सूत्रप्रसङ्ग जीव का अंश होना प्रतिपादित करता है। इस विषय में "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" इस मन्त्र का प्रमाण भाष्यकार शङ्करस्वामी भी देता है। अतः वह परमात्मा स्वात्मा में ही उपासनीय है। स्वात्मा में भी है, यह भी उपसंहार=उपसंग्रह करने योग्य है। कहा भी है—"**आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**" (यजु० ३२।११)=आत्मा से परमात्मा में प्रवेश करे। "**संविशत्यात्मनाऽऽत्मानम्**" (माण्डूक्यो० १२) "**तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः....**" (कठो० २।२।२) "**एवमा-**

त्माऽऽत्मनिगृह्यतेऽसौ" (श्वेता० २। २५)=आत्मा से परमात्मा गृहीत होता है।

'इयदामननात्' इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में "**द्वा सुपर्णा.....**" (मुण्ड० ३। १। १) "**ऋतं पिबन्तौ.....**" (कठो० १। ३। १) यह वचन उद्धृत करके इन दोनों वचनों की एकता को साधने के लिए पृथक्-पृथक् अधिकरण कल्पित किया है, वह अयुक्त है। क्योंकि यह सूत्र उपसंहार=उपसंग्रह सम्बन्धी है। "**उपसंहारोऽर्थाभेदाद्.....**" (वेदा० ३। ३। ५) सूत्र से उपसंहार विषय चल रहा है। इससे पूर्व ही विद्या की एकता का विषय होना चाहिए। वहां शाङ्करभाष्य में भी "**तस्मादनवद्यं विद्यैकत्वम्**" (वे० ३। ३।३ शाङ्करभाष्यम्) तथा "**दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु**" (वेदा० ३। ३। ४ शाङ्करभाष्यम्) और वहां "**उपसंहारोऽर्थाभेदाद्....**" (वेदा० ३। ३। ५) इस उपसंहार=उपसंग्रह सूत्र के शाङ्करभाष्य में उपसंहार=उपसंग्रह विषय स्वीकृत किया है। "**इदं प्रयोजनसूत्रम्.....समाने विज्ञान उपसंहारो भवति**" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् यह प्रयोजन सूत्र है.....समान विज्ञान में उपसंहार होता है। जब यह है तब अतिक्रान्त विद्यैकत्व=विद्या की एकता के विषय का "इयदामननात्" इस सूत्र में क्या प्रसङ्ग। और भी इस सूत्र में पञ्चमी विभक्ति में हेतु निर्देश उत्तर सूत्र "**अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः**" से सम्बन्ध रखता है। यहां उपसंहार=उपसंग्रहप्रकरण में उपरिकल्पना से सूत्र व्याख्यान करना ठीक नहीं, अतः शाङ्करभाष्य में व्यर्थ प्रयास है॥ ३४-३५॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्॥ ३६॥

(अन्यथा-भेदानुपपत्तिः-इति-चेत्) वहां "**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**" (ऋ०१०। ९०। ३) इस मन्त्र में "अतो ज्यायांश्च पूरुषः" इस महिमारूप जगत् से परमात्मा बड़ा है, यह इयत्ता प्रदर्शित की है। जगत् को यहां इयत्ता का साधन कहा है और वही जगत् "**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" इस उत्तरभाग में पाद शब्द से=पैर शब्द से कहा है। उन दोनों सन्दर्भों की जो एकवाक्यतारूप भेदानुपपत्ति वह एकाङ्गता अन्यथा हो जावे। क्योंकि यहां स्पष्ट ही मन्त्र के पूर्वोत्तर भाग भिन्न-भिन्न अभिप्राय से हैं। महिमा नाम से पूर्व में और पाद=पैर नाम से उत्तर में निर्दिष्ट किये हैं। यदि ऐसा कहा जावे तो (न-उपदेशान्तरवत्) तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि यहां उपदेशान्तरवत् कहा जा रहा है। जैसा कि एक ही वस्तु को उपदेशान्तर=भिन्न-भिन्न उपदेश

रीति से समझाया जाता है—"**भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु**" (छान्दो० ६।५।४)=फिर भी मुझे श्रीमान् समझावें। उसी भांति यहां भी जानना चाहिए कि पूर्व तो जगत् को महिमा नाम देकर-रखकर उससे बड़ा परमात्मा=ईश्वर उपदिष्ट किया बतलाया। पुनः उसी जगत् को पाद=पैर नाम देकर उससे ऊर्ध्व=ऊपर त्रिपात् तीन पैररूप अमृत उसी परमात्मा को बतलाया उपदेशान्तर से। उपदेश के भिन्न-भिन्न प्रकार से॥ ३६॥

अब व्यतिहार का उपदेश किया जाता है—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्—
सैव हि सत्यादयः॥ ३७-३८॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(व्यतिहारः) एकवाक्य में वर्णित गुण का अन्य वाक्य में उपसंग्रह या उपगम=उपसंहार कहा था, किन्तु भिन्न-भिन्न वाक्यों में कहे हुए भिन्न-भिन्न गुणों का परस्पर अन्योन्य=एक-दूसरे में प्रतिवर्तन=प्रत्युपगमन=प्रत्युपसंहार=आदान-प्रदान व्यतिहार कहलाता है। परमात्मा के गुणों का वह व्यतिहार भी भिन्न-भिन्न वाक्यों में करना ब्रह्मविद्या में अभीष्ट है, अतएव (विशिंषन्ति हि) वहां-वहां कहे हुए वर्णित गुणों से परमात्मा को विशिष्ट करते हैं। और आचार्य या उसके जानने वाले वैसा अनुभव करते हैं, पुनः (इतरवत्-सा-एव-हि) इतर=व्यतिहार से अतिरिक्त उपसंहार=गुणों उपसंहार की भांति। जैसे ही प्रदर्शित गुणोपसंहार से=गुणों के उपसंहार से विद्याभेद नहीं होता है, एक ही विद्या रहती है उसी भांति व्यतिहार से एक दूसरे के गुण प्रतिवर्तन से वह ही विद्या बनी रहती है, भिन्न नहीं होती। और वह व्यतिहार गुण (सत्यादयः) वहां अध्यात्म प्रकरण में=ब्रह्म प्रकरण में जैसे कहे गये हैं यहां उदाहृत किये जाते हैं। वे हैं सत्य आदि—"**स यो हैतं महद् यज्ञं प्रथमज्ञं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्**" (बृह० ५।४।१)=जो इस महान् यक्ष प्रथम से प्रसिद्ध सत्य ब्रह्म को जानता है वह इन लोकों को जीतता है। यहां से ब्रह्म नाम का उपक्रम करके पुरुष शब्द से विशेषण दिया गया है। "**तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो.....**" (बृह० ५।५।२)=वह सत्य है वह आदित्य है, वह पुरुष है ये विशेषण ब्रह्म को इस वचन में दिये गये हैं। तथा आगे "**मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये तथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च**" (बृह० ५।६।

१)=मनोमय भा: स्वरूप, सत्य, सब का अधिपति, प्रशासक विशेषण इस वचन में परमात्मा को दिये गये हैं। उक्त दोनों वचनों में परमात्मा का वर्णन है। और दोनों वचनों में सत्य भी समान है, परन्तु सत्य से अतिरिक्त जो गुण दोनों में भिन्न-भिन्न दिये हैं उनका परस्पर व्यतिहार=प्रविर्तन होना चाहिए। पुरुष विद्या के एक होने से, वे सत्य से अतिरिक्त गुण हैं पूर्ववचन में महत् यक्ष शब्दों द्वारा व्यापक और पूजनीय कथन करना और आदित्य मण्डल का प्रकाशक। उत्तर वचन में सर्वेषां, सर्वाधिपति, सर्वशासक ये गुण दोनों ओर परस्पर व्यतिहार=प्रतिवर्तन करने चाहिएं॥ ३७-३८॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥ ३९॥

(कामादि) काम=कामना आदि गुणसमूह सत्यकाम, सर्ववशी इत्यादि गुणगण (इतरत्र तत्र च) अन्य में और उसमें, जो गुण अन्य ग्रन्थ में पढ़ा है वह वहां जहां कि वह नहीं पढ़ा उस ग्रन्थ में व्यतिहार करने योग्य है और जो गुण उस अपने ग्रन्थ में पढ़ा हुआ है, अन्य ग्रन्थ में नहीं, वह अन्य में व्यतिहार करने योग्य है। क्या सब गुणों का सारे स्थलों में बिना हेतु के व्यतिहार करना चाहिये, सो कहते हैं (आयतनादिभ्यः) आयतन आदि हेतुओं से, जिज्ञास्यत्व, लोकधारण, फल ये आदि से लेना। आयतन आदि का अनुसरण करके ही गुणों का व्यतिहार होता है, जैसा कि—"**अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्.....एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः**" (छान्दो० ८।१।१-५) "**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः**" (बृह० ४।४।२२) यहां छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में परमात्मा का आयतन हृदयान्तर्गत आकाश कहा गया है। वहां उसका अन्वेषण करना, जिज्ञास्य होना और लोकों का विधारक होना और उसका उपासनाफल समान निर्दिष्ट किया है। अतः छान्दोग्योपनिषद् में सत्य का सत्यसङ्कल्प, अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघत्स, अपिपास ये विशेष गुण कहे हैं। वे ये बृहदारण्यकोपनिषद् में भी व्यतिहार करने योग्य=प्रतिवर्तन करने योग्य हैं। और जो बृहदारण्यकोपनिषद् में सर्ववशी, सर्वेशान, सर्वाधिपति गुण कहे हैं, वे छान्दोग्योपनिषद् में भी व्यतिहार करने योग्य=प्रतिवर्तन करने योग्य हैं॥ ३९॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(अतः) परमात्मा के आनन्दादि तथा सत्यकामादि गुणों के उपसंहार और व्यतिहार प्रकार से (तद्वचनात्) आनन्दादि वाले और सत्यकामादि वाले शास्त्रवचन से (उपस्थिते) उपज्ञात=दृष्ट=सम्प्रज्ञात=अनुभूत परमात्मा में (आदरात्) विश्वास या श्रद्धामय स्नेह से (अलोपः) परमात्मा का अलोप=अदर्शन का अभाव[1] अर्थात् दर्शन=आस्तिकभाव सम्पत्ति होती है।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र से लेकर कुछ सूत्रों की उपसंहार प्रकरण से अन्यथा व्याख्या की है ॥ ४०-४१ ॥

यदि ऐसा है कि परमात्मा के गुणों का उपसंहार और व्यतिहार करने से परमात्मदर्शन सम्पन्न होता है, तब वे सब गुण एक ही स्थल में पढ़ लेने चाहियें। इस आशङ्का पर कहते हैं—

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

(तन्निर्धारणानियमः) परमात्मा के उन गुणों के निर्धारण का एक स्थान में सीमित रूप से प्रतिपादन का नियम=नियत होना सम्भव नहीं क्योंकि परमात्मा के गुण अनन्त हैं। वे कैसे एक स्थल पर पढ़े जावें। (तद्दृष्टेः पृथक्-हि फलम्-अप्रतिबन्धः) उन उपसंहार और व्यतिहार की दृष्टि=अनुभूति का उस स्थल पर पृथक् ही फल होना अप्रतिबन्ध है अर्थात् एक स्थल में प्रतिपादित परमात्मा के गुण हैं उनका उस स्थल में प्रतिबन्ध नहीं। वे केवल इतने ही गुण प्रतिबन्ध से नहीं जानने चाहियें किन्तु अन्य भी लेने योग्य हैं ॥ ४२ ॥

और भी—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

(तत् प्रदानवत्-उक्तम्) वह इस प्रकार परमात्मा के भिन्न-भिन्न गुणों का उपसंहार और व्यतिहार कार्य प्रदान-हविष्प्रदान की भांति जानना चाहिये। जैसे ही एक देव के लिए भिन्न-भिन्न गुणों के योग से हवि का प्रदान किया जाता है—"**इन्द्राय राज्ञे स्वाहा, इन्द्रायाधिराजाय स्वाहा, इन्द्राय स्वराजे स्वाहा**"=इन्द्र राजा के लिए स्वाहा, इन्द्र अधिराज के लिए स्वाहा, इन्द्र

---

१. अदर्शनं लोपः (अष्टा० १।१।६०)

स्वराट् के लिए स्वाहा, इन्द्र एक ही है, उसको राजा, अधिराज, स्वराट् विशेषणों से स्मरण किया जाता है, उसी भांति अपने-अपने स्थल में भिन्न-भिन्न गुणों से परमात्मा का चिन्तन किया जाता है॥ ४३॥

और भी—

लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि॥ ४४॥

(लिङ्गभूयस्त्वात्) ब्रह्म के लिङ्गों=भिन्न-भिन्न लक्षणों की अधिकता से (तत्-हि बलीयः) वह ब्रह्म ही ज्येष्ठ महद् वस्तु सिद्ध होता है (तत्-अपि) वह भी कहा गया जानना चाहिए। इसी कारण 'आदरादलोपः' श्रद्धामय स्नेह से परमात्मा का अनुभव होता है, जैसा कि पूर्व कहा है॥ ४४॥

अब उपसंहार-व्यतिहार विषय के अन्यथा करने में अन्य पूर्व पक्ष उठाते हैं—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्॥ ४५॥

(प्रकरणात् पूर्वविकल्पः स्यात्) प्रकरण बल से परमात्मा के सत्यकाम आदि गुणों का पूर्वविकल्प हो जावे, जो गुण जिस प्रकरण में पढ़े हैं उनका पूर्वविकल्प=प्राथमिक भाव=मुख्यभाव होजावे अन्यत्र पढ़े हुए अन्य गुणों का गौणभाव प्रसङ्ग होजावे (क्रियामानसवत्) समास और असमास शैली से इस वचन के दो अर्थ हैं। मानसी क्रिया=क्रियामानस या मानस=मनःस्थल की क्रिया, क्रियामानस[१]=मानस क्रिया की भांति। जैसे मानस क्रिया एक साथ सब ज्ञान को अनुभव नहीं करती है, क्रमशः ही पहिले और पीछे के ढङ्ग से अनुभव करती है, यह तो समास का अर्थ है। असमास में-वह यह परमात्मगुणचिन्तनक्रिया मानस=मनोभाव=सङ्कल्प की भांति है, जैसे सङ्कल्प पूर्वापर=पहिले-पीछे के क्रम से एक-एक करके सङ्कल्पनीय विषयों का होता है एक साथ नहीं, उसी भांति यहां भी उपसंहार और व्यतिहार की कल्पना की व्यर्थता आ जावे॥ ४५॥

उक्त पूर्वपक्ष को दृढ़ करते हैं—

अतिदेशाच्च॥ ४६॥

(अतिदेशात्-च) अतिक्रान्त करके देश निर्देश कथन अतिदेश, ऊपर से निर्देश अतिदेश, अन्य धर्म का अन्य में निर्देश अतिदेश। सत्यकाम आदि गुणों के अतिदेश से=ऊपर से कथन किए जाने से पूर्व वर्तमान धर्मों का पूर्वविकल्प प्राथमिक भाव या मुख्य भाव होगा और पश्चात् अतिदिष्ट

१. "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २। २। ३१) से पर प्रयोग।

ऊपर से कहे हुए धर्मों का गौण भाव होगा, यह दोष पूर्व जैसा रहता है। अतः उपसंहार व्यतिहार अयुक्त है ॥ ४६ ॥

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

(विद्या-एव तु) परमात्मा के विविध गुणों की चिन्तना पहिले-पिछले के क्रम से मानस क्रिया की भांति हो इसमें विद्या-ब्रह्मविद्या की हानि नहीं विद्या=ब्रह्मविद्या तो वह बनी रहती ही है। जैसे ही कोई विद्या अपने दृष्ट और अदृष्ट लक्षणों से सदा अवस्थित रहती है वैसे ही कथित-अकथित धर्मों से परमात्मचिन्तनरूप ब्रह्मविद्या तो अवस्थित रहती ही है, विद्यारूप से च्युत नहीं होती। क्योंकि (निर्धारणात्) सब दृष्ट-अदृष्ट या कथित-अकथित गुणों से परमात्मा का निर्धारण=निश्चय=यथावत् धारण या अनुभव या साक्षात्कार होता ही है, अतः पौवापर्य=पहिले-पिछले क्रम से गुणचिन्तन दोषयुक्त नहीं है ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

(दर्शनात्-च) जैसे-जैसे ही परमात्मा के गुण चिन्तन किए जाते हैं, वैसे-वैसे परमात्मा का दर्शन-साक्षात्कार बढ़ता है, यह पूर्व ही कह आए हैं "**लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयः.....**" (वेदा० ३।३।४४) ॥ ४८ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

(श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्-च न बाधः) जिस प्रकरण में जिन गुणों से युक्त परमात्मा कहा गया, उस प्रकरण में उन्हीं गुणों से परमात्मा लक्षित करने योग्य है। वहां उपसंहार व्यतिहार न करने चाहिएं, इस आग्रह के अन्यथात्व=व्यर्थ होने में यह भी अन्य वक्तव्य है कि प्रकरण की बात जो कही गई है सो प्रकरण से श्रुति आदि बलवान् होते हैं जैसा कि अन्य दर्शन में कहा है—"**श्रुतिलिङ्गवाक्य-प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्**" (मी० ३।३।१४) श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के संयोग में या प्रसङ्ग में पर दुर्बल है पूर्व की अपेक्षा से लक्ष्य विशेष के कारण। एक आयतन आदि समानलिङ्ग को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकरणों में भी जिन-जिन गुणों को श्रुति कहती है वहां-वहां सर्वत्र प्रकरणों में उन गुणों का उपसंहार और व्यतिहार करना चाहिए उस-उस प्रकरण की अपेक्षा श्रुति, लिङ्ग और वाक्य के बलवान् होने से, अतः कोई बाध=बाधा या दोष नहीं है, प्रकरण का प्रतिबन्ध नहीं है ॥ ४९ ॥

पूर्वपक्षरूप से फिर दोष दिया जाता है—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्॥५०॥

(प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्) परमात्मा की जो ये भिन्न प्रकरणगत उपासनाएं हैं प्रज्ञान्तरों के पृथक्-पृथक् होने की भांति हैं। जैसा कि "**ते मनसैवाधीयन्त मनसा चीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवत मनसाऽशंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत**" (शत० १०। ५। ३। ३) अर्थात् मन से आधान किए गए, मन से चयन किए गए, मन से ग्रह-यज्ञपात्र ग्रहण किए गए, मन से स्तुति किए गए, मन से प्रशंसित किए गए=गाए गए जो कुछ भी यज्ञ में कर्म किया जाता है, जो कुछ भी यज्ञिय कार्य होता है, मन से ही होता है। उन मनोमय मनप्रधान कामों में सब मनोमय किया गया है। ये मन से आधान आदि प्रज्ञान्तर=विविध मनोभावनाएं पृथक्-पृथक् हैं उसी भांति भिन्न-भिन्न प्रकरणगत उपासनाएं भी भिन्न-भिन्न होंगी एकरूप नहीं (अनुबन्धादिभ्यः) अनुबन्ध आदि हेतुओं से। अनुबन्ध अर्थात् फल, आदि शब्द से साधन और प्रकार अभीष्ट है (दृष्टः-च तत्-उक्तम्) जैसे ही यज्ञिय कर्म में प्रज्ञान्तर प्रयुक्त होते हैं वैसे परमात्मा में बहुविध उपासनाएं प्रयुक्त होती हैं। उन से वह परमात्मा दृष्ट=साक्षात् होता है। वह यह पूर्व कहा गया भी है—"**पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत्**" (वेदा० ३।३।४५)॥५०॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः॥५१॥

(उपलब्धेः सामान्यात्-अपि न) यह कहा गया है प्रज्ञान्तरवत् हो, सो वह कथन ठीक नहीं। क्योंकि उपलब्धि=बुद्धि की समानता से भी (मृत्युवत्-न हि लोकापत्तिः) जैसे ही मृत्युबुद्धि की समानता में भी लोकों की आपन्नता नहीं होती—"**अग्निर्वै मृत्युः**" (बृह० ३।२।१०)=अग्नि निश्चित मृत्यु है। "**स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः**" (शत० १०। ५।२।३)=वह यह मृत्यु है जो यह इस सौर-मण्डल में पूर्णपुरुष है। यहां अग्नि और तेजोमण्डल में पूर्णपुरुष को मृत्युबुद्धि समानता में लोकापत्ति=लोकों का विनाश नहीं या लोकसिद्धि समान नहीं। अतः उपसंहार और व्यतिहार में प्रज्ञान्तर होना बाधक या प्रज्ञासमानता को साधक न मानना चाहिए, किन्तु विषय, लिङ्ग और श्रुति की समानता साधक है, यही मानना चाहिए॥५१॥

और भी—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्ये भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

(च) और (अनुबन्धः-तु) भिन्न-भिन्न प्रकरणों में आई परमात्मोपासनाओं का अनुबन्ध=फल या प्रयोजन तो भिन्न-भिन्न नहीं किन्तु एक ही है और वह (परेण ताद्विध्ये) पर आत्मा-परमात्मा के साथ ताद्विध्य=तद्विधत्व=तत्सादृश्य=ताद्धर्म्य=तद्धर्मप्राप्ति=उस जैसे गुणों को पाना है, क्योंकि (शब्दस्य भूयस्त्वात्) इस विषय में शब्द प्रमाण की अधिकता से। श्रुति प्रमाण परमात्मा के जैसे धर्म पा लेने को दर्शाने वाले बहुत हैं। जैसे—"**यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**" (मुण्ड० ३।२।९)=जो पर ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। तथा "**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**" (मुण्ड० ३।१।३)=जब देखने वाला आत्मा, योगी, महात्मा उस कर्ता, स्वामी, ब्रह्मयोनिरूप, दिव्यस्वरूप परमात्मा को देखता=साक्षात् करता है तब पुण्य-पाप को पृथक् करके निर्लेप हुआ परम समानता को प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

उपासना विषय में अन्य प्रकार से पूर्वपक्ष रूप में आक्षेप करते हैं—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

(एके-आत्मनः शरीरे भावात्) कुछेक अनात्मवादी जन आत्मा=जीवात्मा के शरीर में होने से=शरीर से अन्यत्र न होने से, क्योंकि शरीर में उसके प्राण, गति, ज्ञान आदि गुण मिलते हैं, शरीर से यन्यत्र लिङ्ग नहीं दीखता है। अतः शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है फिर उपासना द्वारा परमात्मा के साथ ताद्विध्य=ताद्धर्म्य=उसके धर्मों की प्राप्ति और मोक्ष किस का हो? यह आक्षेप है ॥ ५३ ॥

समाधान कहते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

(व्यतिरेकः) 'आत्मनः' शब्द का अनुवर्तन है। आत्मा का शरीर से व्यतिरेक=पृथक् अस्तित्व है। क्योंकि (तद्भावाभावित्वात्) उस आत्मा के भाव चैतन्य, ज्ञत्व, प्राण, गति आदि के अभाववाला शरीर होने से, क्योंकि शरीर जड़ है उस में आत्मधर्मों से रहित होने के कारण। देखिये मृत में आत्मा के चैतन्य=चेतनता, ज्ञत्व=जानना, प्राण, गति धर्मों का भाव नहीं है (उपलब्धिवत्-न-तु) उस समय शरीर के धर्म-रूपादि की उपलब्धि के

समान उन चैतन्यत्व, प्राणगति आदि आत्मगुणों की उपलब्धि नहीं होती। अत: आत्मा शरीर से भिन्न चेतन है जिसके लिये मोक्ष और उपासना का उपदेश युक्त है ॥ ५४ ॥

उपासना में परमात्मा के गुणों का उपसंहार और व्यतिहार समाप्त होगा। इस समय उपासना में कर्म के उपसंहार=उपसंग्रह का विषय प्रस्तुत करते हैं—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

(अङ्गावबद्धाः-तु) उद्गीथ आदि उपासना वाली विधियां "**ओमित्ये-तदक्षरमुद्गीथमुपासीत**" (छान्दो० १।१।१) **ओ३म् उद्गीथ अक्षर की उपासना में** "**लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत**" (छान्दो० २।२।१) "**वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत**" (छान्दो० २।३।१) "**उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी**" (ऐ० आ० २।१।२) "**अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः**" (शत० १०५।४।१)इस प्रकार छन्दोग=सामवेदीय, बह्वृच=ऋग्वेदीय, वाजसनेयी=यजुर्वेदीय भिन्न-भिन्न वेदशाखाओं की ये विधियां (प्रतिवेदं शाखासु हि न) उन-उन वेदशाखाओं में ही नहीं किन्तु वेदमात्र सब शाखाओं में उनका उपसंहार और व्यतिहार यथावत् करना चाहिए ॥ ५५ ॥

यहां विरोध की आशङ्का न करनी चाहिए—

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

(मन्त्रादिवत्-वा-अविरोधः) अथवा मन्त्र आदि एक शाखा में पढ़े हुए मन्त्र, गुण और द्रव्यों का अन्य शाखा में विनियोग होता है। "**यो जात एव प्रथमो मनस्वान्......स जनास इन्द्रः**" (ऋ० २।६।७) यह ऋग्वेद सूक्त के मन्त्र "**सजनीयं शस्यम्**" (तै०सं० ७। ५। ५।६) आध्वर्यव कर्म में यजुर्वेदीय शाखा में विनियुक्त किये जाते हैं। तथा जिन शाखावालों के समिधा आदि प्रयाज नहीं पढ़े उनकी भी गुणविधि कही जाती है—**ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः**" (मैत्रायणी सं० १। ४।१२)=ऋतुएं प्रयाज समान स्थान में होमनी चाहिएं। वैसे ही यहां भी जानना चाहिए, इस में विरोध नहीं है ॥ ५६ ॥

अङ्गोपासनाएं स्वीकार करने योग्य हैं ऐसा कहा, किन्तु वैश्वानरोपासना में अङ्गोपासना नहीं करनी चाहिए अपितु अङ्गी वैश्वानर की ही उपासना करनी चाहिए, यह कहते हैं—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यास्त्वं तथा हि दर्शयति॥ ५७॥

(भूम्नः-ज्यास्त्वं क्रतुवत्) किसी अध्यात्म प्रकरण में भूमा=सर्वाङ्ग पूर्ण महान् देव के अङ्गभूत=अल्पभाग=एक भाग की उपासना उसी एक ही अङ्ग नाम से लक्षित होती है—"**औपमन्यव! कं त्वमात्मानमुपास्य इति। दिवमेव भगवो राजन्विति होवाच। एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से**" (छान्दो० ५। १२। १) अङ्गभूत सुतेजा अल्प वैश्वानर की उपासना यहां है। "**तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ**" (छान्दो० ५। १८। २) इस प्रकार अङ्गी महान् देव वैश्वानर की उपासना इस वचन में दर्शाई। इन दोनों उपासनास्थलों में भूमा=सर्वाङ्गपूर्ण महान् देव अङ्गी वैश्वानर की ज्येष्ठता=श्रेष्ठता है, उपासना में प्रमाण जानना चाहिए क्रतु की भांति। जैसे दर्श पौर्णमास आदि क्रतुओं= यज्ञों में सर्वाङ्गोंसहित प्रधान प्रयोग अनुष्ठान में लाया जाता है न कि पृथक्- पृथक् अङ्ग-प्रयोग। वैसा ही यहां भी भूमा=महान् देव अङ्गी वैश्वानर की उपासना करनी चाहिए, अङ्गों की नहीं। (तथा हि दर्शयति) वह इस प्रकार भूमा=अङ्गी वैश्वानर की ज्येष्ठता=श्रेष्ठता श्रुति दर्शाती है—"**आत्मानमेव वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि**" (छान्दो० ५। ११। ६) प्राचीनशाल आदि विद्वान् जनों ने अङ्गरूप वैश्वानर की उपासना में सन्तोष को न प्राप्त करते हुए अश्वपति को पूछा था—आप वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, हमें उसका आदेश करें। अश्वपति ने उत्तर दिया था—"**सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच......मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मां नागमिष्यः**" (छान्दो० ५। १२। १-२)=जिसकी तू उपासना करता है यह सुतेजा वैश्वानर है, यह वैश्वानर आत्मा का मूर्धा है, यदि तू मेरे पास न आता, तेरा मूर्धा गिर जाता। इस प्रकार अङ्गोपासना में दोष दिखलाया, पुनः अङ्गी भूमा=महान् देव वैश्वानर की उपासना और उसके महत्त्व को श्रुति दर्शाती है—"**स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति**" (छान्दो० ५। १८। १)=वह अङ्गी वैश्वानर भूमा की उपासना से सब लोकों में सब भूतों में सब आत्माओं में अन्न खाता है, यथायोग्य लाभ लेता है। और जो अङ्गोपासना का फल है वह अङ्गी की उपासना के अन्तर्गत हो ही जाता है फिर उस से भी अधिक फल आत्मोपासना से सम्पन्न होता है। अतः भूमा=अङ्गी वैश्वानर की उपासना ज्येष्ठ श्रेष्ठ है॥५७॥

जिन उपासनाओं में गुण, कर्म, उपसंहार और व्यतिहार कहे हैं वे

क्या भिन्न-भिन्न रूप हैं या एकरूप हैं, यह कहते हैं—

नाना शब्दादिभेदात्॥ ५८॥

(शब्दादिभेदात्-नाना) "**शान्त उपासीत......मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः....एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः**" (छान्दो० ३। १४। १-४)=शान्त होकर उपासना करे, परमात्मा मननशक्तिसम्पन्न, प्राणशक्तिप्रपूर्ण प्राणरूप, प्रकाश-स्वरूप, इत्यादि धर्म-वाला है, यह ब्रह्म है। इसे मैं यहां से प्रस्थान कर प्राप्त करूंगा, इस प्रकार जिसकी दृढ़ धारणा हो, वहां फिर प्राप्ति में सन्देह या शङ्का नहीं। यह शाण्डिल्य उपासना विद्या है—"**अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डीरकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति एष आत्माऽपहत-पाप्मा......सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः......अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ८। १। १-६)=इस ब्रह्मपुर में दहर पुण्डरीक घर है, इस में दहर आकाश वहां खोजने योग्य है=जानने योग्य है, यह सब का आत्मरूप परमात्मा पापरहित, सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है, इत्यादि दहरोपासना विद्या है। इत्यादि उपासना विद्याएं शब्द आदि भेद से 'उपासीत, विजिज्ञासते' इत्यादि शब्द भेद से और आदि से अर्थभेद, अनुष्ठानभेद और फलभेद होने से पृथक्-पृथक् या अनन्त जाननी चाहिएं॥ ५८॥

अच्छा, हों भिन्न-भिन्न उपासनाएं, पर इनका अनुष्ठान समुच्चय से एक साथ करना चाहिए या विकल्प से? इस विषय में कहते हैं—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥ ५९॥

(विकल्पः-अविशिष्टफलत्वात्) इन भिन्न-भिन्न उपासनाओं के अनुष्ठान में विकल्प होना चाहिए, विकल्प से इनका अनुष्ठान करना चाहिए, किसी एक उपासना का यथारुचि। क्योंकि समानफल होने से, समान ही फल ब्रह्मसाक्षात्कार है, अतः विकल्प है किसी भी उपासना को करे॥ ५९॥

काम्यास्तु यथाकामं समुचीयेरन्न वा पूर्वहित्वभावात्॥ ६०॥

(काम्याः-तु) जो काम्य=लौकिक कामना फल वाली उपासनाएं हैं वे तो (यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा) यथेष्ट या कामनानुसार समुच्चय करके सेवन की जावें या नहीं अर्थात् पृथक्-पृथक् भी सेवन की जा सकती हैं। क्योंकि (पूर्वहेत्वभावात्) पूर्व हेतु-अविशिष्टफल=समानफल

ब्रह्म साक्षात्कार मात्र के अभाव से=पृथक्-पृथक् काम्यफल होने से। जैसे—"**स य एतदेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति**" (छान्दो० ३। १५। २)=वह जो इस वायु दिशा वत्स को जानता है वह पुत्र रोदन=पुत्रमरण के रोदन को न रोएगा। "**स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति**" (छान्दो० ७। १। ५)=वह जो ब्रह्म नाम की उपासना करता है जब तक नाम का प्रभाव है, कामनानुरूप विचरेगा॥ ६०॥

उद्गीथ आदि उपासना की अङ्गभूत विधियां तो सब शाखाओं में उपसंहार की जाती हैं यह तो विषय हो चुका। उन के अङ्गों में प्रतीत होने वाले अवान्तर विशेष कर्म हैं। उनकी क्या गति होगी, यह विचार करते हैं—

अङ्गेषु यथाश्रयभावः॥ ६१॥

(अङ्गेषु) उद्गीथ आदि उपासना की अङ्गभूत विधियों में जो प्रतीत होनेवाले अवान्तर विशेष कर्म हैं। उनका (यथाश्रयभावः) यथा-आश्रयभाव हो अर्थात् जिस-जिस अवान्तर विशेष कर्म का जो-जो ही आश्रय विधि हो उस विधि के अनुसार उसकी गति हो॥ ६१॥

शिष्टेश्च॥ ६२॥

(शिष्टेः-च) शेष न्याय से भी उद्गीथ आदि उपासनाओं की जैसे अङ्गभूत विधियां हैं उनके साथ युक्त होती हैं, वैसे ही अङ्गभूत विधियों में जो अवान्तर विशेष कर्म हैं वे भी उनके साथ सम्प्रयुक्त हों, इस में विचारप्रसङ्ग नहीं है॥ ६२॥

समाहारात्॥ ६३॥

(समाहारात्) समाहरण से—"**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरति**" (छान्दो० १।५।५)=जो उद्गीथ है वह प्रणव=ओ३म् है, जो प्रणव है वह उद्गीथ है। बह्वृचों=ऋग्वेदीयों की प्रणवोपासना और छन्दोगों=सामवेदीयों की उद्गीथोपासना है। उद्गीथोपासना में उद्गाता अपने कर्म में हुए अन्यथा उद्गान किए हुए कर्म को होता के स्थान से लेकर पूरा करता है॥ ६३॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥ ६४॥

(गुणसाधारण्यश्रुतेः-च) उद्गीथ आदि उपासना की अङ्गभूतविधियों का गुण साधारण्य=धर्म सामान्य=समान धर्मत्व की श्रुति होने से—"**तेनेयं**

त्रयी विद्या वर्तते। ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति'' (छान्दो० १।१।९)=उस ओ३म् से यह त्रयी विद्या ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदरूप ज्ञान-कर्म-उपासना-विषयक प्रवृत्त होती है। 'ओ३म्' ऐसा आश्रवण=लम्बा उच्चारण करता है। अध्वर्यु यजुर्वेद को पढ़ता हुआ 'ओ३म्' ऐसा शंसन=स्तवन=गम्भीर उच्चारण करता है, होता ऋग्वेद का पाठ करता हुआ 'ओ३म्' ऐसा उद्गान=उद्घोष=ऊंच-स्वर भरता है, उद्गाता सामवेद का गान करता हुआ। अतः अवान्तर विशेष कर्मों की भी गति अपने आश्रय=आधार पर रहने वालों की भांति होनी चाहिए॥ ६४॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः॥ ६५॥

(न वा) 'च' के अर्थ में 'वा' शब्द है। आश्रित प्रत्ययों=प्रतीतियों-अनुभवों का आश्रयाङ्ग की भांति समुच्चय नहीं होता (सहभावाश्रुतेः) कर्मों के साथ उनके सहभाव की श्रुति न होने से। श्रुति तो यज्ञार्थ अङ्गभूत उद्गीथादियों के कर्मों के साथ प्रयोग सहभाव को दर्शाती है, न ही उनके आश्रित उपासनाविधियों को। इससे समाहारगुणसाधारण्य श्रुतिकथन का समाधान जानना चाहिए॥ ६५॥

दर्शनाच्च॥ ६६॥

(दर्शनात्-च) इस प्रकार आश्रितों का आश्रय की भांति असहभाव देखने से श्रुति में ''**एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति**'' (छान्दो० ४।१७।१०) इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ को यजमान को और समस्त ऋत्विजों की रक्षा करता है। यदि आश्रित प्रत्ययों-प्रतीतियों=अनुभूतियों का आश्रय की भांति सहभाव=समुच्चय या उपसंहार हो जावे तो एक ब्रह्मा से अन्य ऋत्विज् संरक्षित किए जावें। समुच्चय, सहभाव या उपसंहार में सब ही समान हो जावें॥ ६६॥

तृतीयाध्याय में तृतीय पाद सभाषानुवाद समाप्त॥

चतुर्थ पाद

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥ १॥

(अतः) पूर्वपाद में कही इस उपासनाविद्या से (पुरुषार्थः) पुरुष का अर्थ=आत्मा का सार्थकत्व या अत्यन्त पुरुषार्थ या मोक्ष सम्पन्न होता है। यह कैसे (शब्दात्) शास्त्रवचन से स्पष्ट होता है (इति बादरायणः) इस प्रकार व्यास मानते हैं। क्योंकि शास्त्र वचन ब्रह्मोपासन से पुरुषार्थ

फल को द्योतित करता है—"**य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः**" (ऋ० १। १६४। २३) जो उस ब्रह्म को जान जाते हैं वे अमृतत्व मोक्ष को प्राप्त करते हैं—"**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**" (यजु० ३१। १८)=उस परमात्मा को ही जानकर मृत्यु को पार करता है=अमरत्व को पाता है। "**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**" (तै०उ० २। १)=ब्रह्मवेत्ता पर=परमफल मोक्ष को पाता है। "**आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये**" (छान्दो० ६। १४। २)=आचार्य वाला ही पुरुष उस परमात्मा को जानता है। उसको तब तक ही देर है जब तक शरीर से न छूटे, अनन्तर विमुक्त हो॥ १॥

अब जैमिनि का मत कहते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः॥ २॥

(पुरुषार्थवादः शेषत्वात्) पुरुषार्थ फल उपासना विद्या का जो कहा जाता है, सब पुरुषार्थवाद स्वतन्त्र नहीं होता कर्म का शेष होने के कारण, कर्म का अङ्ग बना हुआ ही पुरुषार्थ सिद्ध होता है (यथाऽन्येषु-इति जैमिनिः) जैसे अन्यों में=द्रव्य संस्कार कर्मों में शेषत्व=अङ्गत्व होता है वैसे यहां भी जानना चाहिए। जैसा कि "**यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति**" (तै०सं० ३। ५। ७। २)=जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह पाप रूप वचन नहीं सुनता है "**यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते**" (तै० सं० ६। १। १। ५)=जो अञ्जन डालता है वह शत्रु की आंख को नष्ट करता है। "**यत् प्रयाजानूयाजा इज्यन्ते वर्मैव तद् यज्ञाय क्रियते वर्म यजमानाय भ्रातृव्याभिभूत्यै**" (तै०सं० २। ६। १। ५)=जो प्रयाज-अनुयाज यजन किए जाते हैं वह यह और यजमान के लिये वर्म=रक्षण=कवच किया जाता है, शत्रु पर विजय पाने के लिये। इत्यादि उदाहरणों में समस्त पुरुषार्थ कर्म का अङ्ग जैसा बना हुआ है ऐसे मोक्ष पुरुषार्थ कर्म का अङ्ग है, पुरुषार्थवाद के अन्तर्भूत होने से॥ २॥

'**यथान्येष्विति**' से समानतामात्र कथन से शेषत्व=अङ्गत्व सिद्ध होता है। अपि तु—

आचारदर्शनात्॥ ३॥

(आचारदर्शनात्) उस सम्बन्धी व्यवहार दर्शन से। जैसा कि "**जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेनेजे**" (बृह० ३। १। १)=जनक वैदेह उपासनाविद्या में निष्णात हुआ। वह यज्ञानुष्ठान-परायण ही उसका उपासना विद्या कर्म

का अंग बनी। तथा "**यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि**" (छान्दो० ५। ११। ५)=हे महानुभावो! मैं आप द्वारा यज्ञ करने वाला हूँ। ऐसा उपासना विद्या में पारंगत अश्वपति ने प्राचीनशाल आदि विद्वानों को उत्तर दिया था। अतः उपासनाविद्या में यज्ञकर्म अभीष्ट है॥ ३॥

तच्छ्रुतेः॥ ४॥

(तच्छ्रुतेः) विद्या के कर्माङ्ग=कर्म का अङ्ग होने को दर्शाने वाली श्रुति भी है—"**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति**" (छान्दो० १। १। १०)=जो कर्म विद्या से करता है, श्रद्धा से= सद्भावना से और उपनिषद् से=उपासना से किया हुआ बलवान्, गुणवान्, फलवान् होता है। यहां 'करोति'=कर्म करता है, कर्म करना प्रधान हो गया और उसे विद्या द्वारा करना कर्म करने की विद्या तो सहायकरूप में होने से वह कर्म का अङ्ग बन गई, यह श्रुति से स्पष्ट हो रहा है॥ ४॥

इसी विषय में दूसरा हेतु कहा जाता है—

समन्वारम्भणात्॥ ५॥

(समन्वारम्भणात्) विद्या और कर्म का समन्वारम्भण फल के लिये संयुक्त आरम्भक होना प्रतिपादन करते हैं—"**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**" (बृह० ४। ४। २)=उस प्रयाण करते हुए को विद्या और कर्म अन्य योनियों के सहायक हैं। यहां भी कर्म करने में विद्या को अङ्ग बताया। अतः उपासना-विद्या कर्म का अङ्ग सिद्ध होती है॥ ५॥

तद्वतो विधानात्॥ ६॥

(तद्वतः-विधानात्) विद्या वाले जन के लिए कर्म-विधान से कर्म का अंग होना दर्शाना श्रुति में द्योतित करते हैं—"**आचार्यकुले वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः**" (छान्दो० ८। १५। १) इस वचन में आचार्य से वेद पढ़कर, विद्यावान् को गुरु के विधानानुसार सम्पूर्ण कर्म करने का कथन विद्या को कर्म का अंग होना दर्शाया गया है॥ ६॥

नियमाच्च॥ ७॥

(नियमात्-च) "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०। २ ईशो० २)=इस संसार में कर्मों को करता हुआ सौ वर्षों= अधिक से अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करे। "**एतद्वै जरामरणं सत्रं यदग्निहोत्रम्**" (शत० १२। ४। १। १)=यह जरा मरणपर्यन्त का सत्र है

जो अग्निहोत्र कर्म है। इन वचनों में जब तक जीवन, जब तक आयु कर्मानुष्ठान का नियम दर्शाने और कर्मविहीन किसी को भी न होना चाहिए, ऐसे कथन से कर्म का अङ्ग विद्या है, यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

अब क्रमशः पूर्वपक्ष का एक-एक सूत्र द्वारा समाधान करते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

(अधिकोपदेशात् तु बादरायणस्य) उपासनाविद्या से पुरुषार्थ= पुरुषलाभ=मोक्ष-अमृतत्व सिद्ध होता है, यह मत जो बादरायण का है। वह तो काम्यकर्मफल से अधिक उपदेश होने के कारण है (एवं तद्दर्शनात्) ऐसे ही श्रुति में देखने में आता है—"**तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवममुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते**" (छान्दो० ८।१।६) जैसा कि सांसारिक कर्म से प्राप्त लोकफल क्षीण हो जाता है, इसी प्रकार पुण्य कर्म से प्राप्त पुण्यलोक का परोक्षफल भी क्षीण हो जाता है। इस प्रकार काम्य कर्म के फल का क्षय दर्शाया जाता है परन्तु उसकी अपेक्षा उपासनाविद्या का और उसके फल का अधिक उपदेश भी श्रुति में दिखलाया जाता है— "**तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति**" (मुण्डक० ३।२।७)=उसके विज्ञान से धीर जन आनन्दरूप अमृत जो प्रकाशमान है उसे देखते हैं। इस प्रकार ब्रह्मविद्या से अमृतफल प्रतिपादित किया है। तथा "**आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**" (यजु० ३२।११) आत्मा से परमात्मा में सम्प्रवेश करता है—"**संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद**" (माण्डू० १२)=जो ऐसे ओ३म् को जानता है वह स्वात्मा से परमात्मा में प्रवेश करता है। ब्रह्मप्राप्ति का विधान किया जाता है और वह ब्रह्मविद्या से। यहां कर्म के संस्पर्श की भी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार कर्म से और उसके फल से भी अधिक उपदेश से कर्म का अङ्ग विद्या नहीं है किन्तु उपासनाविद्या की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

(तुल्यं तु दर्शनम्) जो आचारदर्शन कहा गया है—"**जनको वैदेहो बहुदक्षिणेनेजे**" (बृह० ३।१।१) "**यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि**" (छान्दो० ५।११।५) यह तो तुल्य-दर्शन मिलता है अर्थात् जैसे कर्म से युक्त दर्शन एवं कर्मत्याग से दर्शन मिलता है—"**तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसो-ऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः**" (कौ०आ० २।५) पुरातन विद्वान् अग्निहोत्र कर्म नहीं करते थे। "**एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च**

वित्तैषणयाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति'' (बृह० ३। ५। १)=उस परमात्मा को जानकर ब्रह्मवेत्ता जन पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से पृथक् होकर भिक्षाचर्या करते हैं। स्मृति में भी—''**ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥**'' ''**जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥**'' (मनु० २। ८६-८७) अर्थात् पञ्चमहायज्ञों या पञ्चनित्यकर्मों में जो चार पाक यज्ञ सन्ध्या=जपयज्ञ को छोड़कर अग्निहोत्र से अतिथियज्ञपर्यन्त हैं, वे चारों और साथ में विधियज्ञों—नैमित्तिक यज्ञ, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास, अग्निष्टोम, अश्वमेध आदि सहित हैं, वे सब जपयज्ञ= सन्ध्या-उपासना विद्या की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि जप्य=ध्यान उपासना से ही ब्राह्मण=ब्रह्मवेत्ता बनता है, अन्य द्रव्य यज्ञ कर्म करे या न करे॥ ९॥

असार्वत्रिकी॥ १०॥

(असार्वत्रिकी) और जो 'तच्छ्रुतेश्च' श्रुति कही है—''**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा......**'' (छान्दो० १। १। १०) यह श्रुति भी सार्वत्रिकी सर्वत्र घटनेवाली नहीं है किन्तु केवल उद्गीथ प्रकरण की है, ब्रह्मविद्या प्रकरण की नहीं है। उद्गीथ कर्म की विद्या वहां अभीष्ट है। कर्मविधि में नहीं॥ १०॥

विभागः शतवत्॥ ११॥

(विभागः शतवत्) और जो कहा है—'**समन्वारम्भणात्**'—''**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**'' (बृह० ४। ४। २) उन विद्या और कर्म का विभाग जानना चाहिए फल की प्राप्ति में। जब विद्या या कर्म समन्वारम्भ करे, निज प्रभाव को प्रदर्शित करे, तो देहान्त के पश्चात् कुछ परिणाम विद्या लाती है और कुछ फल कर्म साधता है। विभाग से इनका फल होता है (शतवत्) शत की भांति। जैसे सौ पदार्थ देने हैं, पचास किसी को देने हैं, और पचास किसी को देने हैं।

अध्ययनमात्रवतः॥ १२॥

(अध्ययनमात्रवतः) '**तद्वतो विधानात्**'—**आचार्यकुलाद्वेद-मधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण.....**'' (छान्दो० ८। १५। १)= आचार्य-कुल में वेद पढ़ गुरु के विधानानुसार सम्पूर्ण कर्म करे यह जो कहा है, वह तो अध्ययनमात्र वाले जिसने केवल वेद पढ़ा ही है, ऐसे

ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है, मुमुक्षु के लिये नहीं ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

(न-अविशेषात्) 'नियमाच्च' जो भी "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४० । २, ईशो० २) इत्यादि नियम से समस्त आयु में जो कर्मानुष्ठान कहा है वह भी विद्या को कर्म का अङ्ग नहीं सिद्ध करता है क्योंकि वहां विशेष से कर्मानुष्ठान का विधान नहीं है कि विद्यावान् या विद्वान् जन कर्म का अनुष्ठान करे वह तो सामान्य से विधान है, विद्यावान्, विद्वान् हो या अविद्य=अविद्वान् हो उसे यावज्जीवन कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, अतः कर्म का अङ्ग विद्या नहीं है ॥ १३ ॥

उसी पूर्वसूत्रवाले समाधान योग्य वृत्त का अन्य युक्ति से समाधान करते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

(स्तुतये-अनुमतिः-वा) अथवा विद्या की स्तुति के लिये यह अनुमति कर्मानुष्ठानविषयक यावज्जीवन विद्यावान् विद्वान् के प्रति माननी चाहिए "**न कर्म लिप्यते नरे**" कि कर्म लिप्त नहीं होता है, कर्म करते हुए विद्यावान् विद्वान् में कर्म लिप्त नहीं होता है। ऐसा ही स्मृति में कहा है—"**कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्**" (गी० ३ । २५)=विद्वान् असक्त होकर लोकसंग्रह का इच्छुक कुछ कर्म करे। अतः कर्म का अङ्ग विद्या नहीं है ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

(कामकारेण च-एके) कुछेक शाखावाले कर्मानुष्ठान कामकाररूप से=इच्छा होने पर विधान करते हैं। जैसा कि "**तद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः**" (बृह० ४ । ४ । २२)=पुरातन विद्वान् सन्तान नहीं चाहते थे, सन्तान से क्या हम करेंगे ? जिनका इस शरीर और इस लोक से प्रयोजन नहीं। इस प्रकार कामना के अभाव में अग्निहोत्र आदि कर्म का परित्याग उपस्थित होता है विद्यावान्=विद्वान् के लिये। तथा स्मृति में भी कहा है—"**कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते**" (मनु० २ । ८७)=अन्य यज्ञादि कर्म करे वा न करे ब्रह्म का जानने वाला मित्र परमात्मा का सम्बन्धी बन जाता है ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

(उपमर्दं च) कर्म का उपमर्दन भी कई एक शाखावाले मानते हैं विद्वान् के प्रति—"**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते**

चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" (मुण्ड० २। २। ८)=हृदय की गांठ छिन्न भिन्न हो जाती है, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं। इस के कर्म क्षीण हो गए उस पर और अवर, पर से पर और अवर से अवर ब्रह्म के साक्षात् हो जाने पर। इस कारण से भी कर्माङ्ग विद्या सम्भव नहीं है॥ १६॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि॥ १७॥

(ऊर्ध्वरेतःसु च) ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों में जब तक जीवन है ब्रह्मचर्यव्रत वाले संन्यासियों में भी ब्रह्मविद्या के ही प्रवर्तमान होने से अग्निहोत्रादि कर्म से अनुष्ठान से ही कर्म का अङ्ग विद्या होना सम्भव नहीं है। क्योंकि (शब्दे हि) शास्त्र में ही कर्मानुष्ठान का अभाव उनके लिये है, कहीं भी उनके लिये अग्निहोत्र आदि कर्म का विधान नहीं किया—"**ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते**" (छान्दो० ५। १०। १) "**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये......सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति.....**" (मुण्ड० १। २। ११) वन में ज्ञान तप का सेवन करने वाले निर्मल होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। तथा "**अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते**" (प्रश्नो० १। १०)=देवयान मार्ग से तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्या से आत्मा को जानकर सूर्य को जीतकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यहां विरक्त विद्वानों को कर्म का विधान नहीं किया है। और भी "**ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्**" (जाबा० ४)=ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी हो जावे। जब ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी होजावे तब अग्निहोत्रादि कर्मों का क्या प्रसङ्ग? वे तो गृहस्थाश्रम में किए जाते हैं। इस से भी कर्म का अङ्ग विद्या नहीं है। यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है॥ १७॥

पुनः पूर्वपक्षरूप से आक्षेप करते हैं—

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति॥ १८॥

(परामर्शं जैमिनिः-अचोदना) जहां कहीं श्रुति में ऊर्ध्वरेतस्त्व का वर्णन किया जाता है वह ऊर्ध्वरेता होने का परामर्श है, ऐसा जैमिनि मानते हैं। वैसा कोई एक आश्रम नहीं है, यह जैमिनि मत दर्शाया। क्योंकि ऊर्ध्वरेता होना किसी एक आश्रमविशेष को लेकर विधान नहीं किया है, वह तो परामर्श है, कोई भी आश्रमी कर सकता है। जैसा कि "**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति....सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति**" (छान्दो० २। २३। १)=ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व को प्राप्त होता है सभी आश्रम पुण्यफल वाले होते हैं। और वह "**त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति**" (छान्दो० २। २३। २)=तीन धर्म स्कन्ध-आधार हैं यज्ञ, अध्ययन दान। ऐसा आरम्भ करके कहा है

(च) और (अपवदति) श्रुति कर्मत्याग की निन्दा करती है—"**वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते**" (तै० सं० १।५।१।२)=जो अग्निहोत्र का लोप करता है वह पुत्र का नाशक है। तथा "**नापुत्रस्य लोकोऽस्ति**" (ऐ० ब्रा० ७।१३)=पुत्ररहित का लोक नहीं है। अतः विद्या की स्वतन्त्रता नहीं है किन्तु कर्म का अङ्ग बनकर रहना ही सम्भव है॥ १८॥

समाधान करते हैं—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥ १९॥

(अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः) अवश्य अनुष्ठान योग्य है ऊर्ध्वरेता होना आश्रमी का, यह बादरायण=व्यास मानता है, समान श्रुति होने से। जैसे अन्य तीन आश्रमों के अनुष्ठान करने योग्य कृत्य पृथक्-पृथक् सुने जाते हैं वैसे ही ऊर्ध्वरेता होना कृत्य चतुर्थाश्रम का भी पढ़ा जाता है, एक-एक कृत्य एक-एक आश्रमी का स्पष्ट है। जैसे "**यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयः। ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः**" (छान्दो० २।२३।१)=यज्ञ अध्ययन दान प्रथम, तप दूसरा, आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी तीसरा। ये गृहस्थ वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य आश्रमों के क्रमशः अनुष्ठान करने योग्य कर्म कहे हैं—"**त एते त्रयो धर्मस्कन्धाः**" (छान्दो० २।२३।१)=वे ये तीन धर्मस्कन्ध हैं। इस से भी स्पष्ट है कि तीन धर्मस्कन्ध कर्म के आश्रयरूप आश्रम हैं। और चतुर्थ "**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति**" (छान्दो० २।२३।१) ब्रह्मसंस्थ जो अमृतत्व को पाता है। सो यह परिव्राजक का है। अन्य भी साम्यश्रुति मिलती है—"**एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्ति**" (बृह० ४।४।२२)=इसे ही प्रव्राजी संन्यासी चाहते हैं "**वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यास-योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे**" (मुण्ड० ३।२।६) यहां संन्यास शब्द भी आया है। ये प्रव्राजी और संन्यास शब्द चतुर्थाश्रमी के सूचक हैं, तथा विशिष्ट विधान भी है "**ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्**" (जाबा० ४)=ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले। अतः कर्म का अङ्ग विद्या नहीं है, उसकी स्वतन्त्रता सिद्ध है॥ १९॥

और भी—

विधिर्वा धारणवत्॥ २०॥

(विधिः-वा धारणवत्) 'वा' समुच्चयार्थ है। विधि भी धारणवत् जाननी चाहिए। जैसे ही "**अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति**" (दिष्टगताग्निहोत्रे महापितृयज्ञे-इति तन्त्रवार्तिकम्, मी० ३।४।

९।६) यहां अधस्तात्=नीचे समिधाधारण कथन में अनायास ही ऊपर भी समिधाधारण जैसे सिद्ध होता है वैसे ही "**त्रयो धर्मस्कन्धाः**" इस कथन से अनन्तर "**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति**" (छान्दो० २।२३।१) ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व को प्राप्त होता है। तीन आश्रमों से अतिरिक्त चतुर्थ आश्रम की विधि है यह सिद्ध होता है। विधि-विधान चतुर्थ आश्रम का अन्यत्र श्रुतियों में स्पष्ट उपलब्ध होता है। जैसा कि "**एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति**" (बृह० ४।४।२२)=इसे संन्यासी चाहते हुए संन्यास धारण करते हैं। "**ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्**" (जाबा० ४) ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ हो, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ हो, वानप्रस्थ होकर संन्यास धारण करे। इस प्रकार 'प्रव्रजन्ति, प्रव्रजेत्' कथन से चतुर्थाश्रम संन्यास की विधिआज्ञा स्पष्ट है॥ २०॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात्॥ २१॥

(स्तुतिमात्रम्-उपादानात्-इति चेत्) "**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति**" (छान्दो० २।२३।१) ब्रह्मसंस्था अमृतत्व को प्राप्त होता है—"**एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति**" (बृह० ४।४।२२)=इसे चाहते हुए संन्यासीजन संन्यास-धारण करते हैं। इत्यादि कथन तो स्तुतिमात्र=प्रशंसामात्र है, विधिरूप नहीं। क्योंकि उपादान से=फलग्रहण से अमृतत्वफल के पाने से। ऐसा यदि कहा जावे तो (न) ठीक नहीं (अपूर्वत्वात्) उसके अपूर्व विधान से=भिन्न ही यह विधान है, ब्रह्मसंस्थ होना गृहस्थ-वानप्रस्थ से तथा आचार्य कुलस्थ से भिन्न ही है तथा प्रव्रजन भी उन तीन आश्रमों से भिन्न आश्रम का अपूर्व=भिन्न विधान है। वे तो अपने-अपने स्थान में रहते हैं, परिव्राजक संन्यासी का तो स्थान नहीं होता है। संन्यासी तो—"**ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति**" (बृह० ४।४।२२)=पुत्रैषणा से, वित्तैषणा से, लोकैषणा से पृथक् होकर भिक्षाचर्या करते हैं। वे तो कामवासना से निवृत्त घरत्यागे हुए भिक्षाचारी होते हैं, ऐसा विधान अन्य आश्रमों का कहीं नहीं दर्शाया है वह यह तो संन्यास आश्रम का ही अपूर्व विधान है॥ २१॥

भावशब्दाच्च॥ २२॥

(भावशब्दात्-च) भाव=क्रिया। क्रियावचन से भी स्तुतिमात्रविधि नहीं—"**अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु मैत्रेयी च कात्यायनी च**" (बृह० ४।५।१) ऐसा वृत्त आरम्भ करके "**एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्य प्रवव्राज**" (बृह० ४।५।२५)=यह अमृतत्व

है कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रजन किया, संन्यास का आचरण या अनुष्ठान किया, यह स्पष्ट व्यवहाररूप में है न कि स्तुतिमात्र ॥ २२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

(पारिप्लवार्थाः-इति चेत्) परिप्लव=मन का सम्प्रसाद, उसके लिये पारिप्लव=मनोविनोद या मनोरञ्जन। मनोविनोदार्थ या मनोरञ्जनार्थ हैं वे याज्ञवल्क्य आदि कथाएं, विधि के लिये नहीं यदि ऐसा कहें तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (विशेषितत्वात्) जो तो पारिप्लवार्थ कथाएं हैं वे "**मनुर्वैवस्वतो राजा**" (शत० १३।४।२।३)=वैवस्वत=विवस्वान् का पुत्र मनु राजा। इत्यादि वृत्त से विशेषित होते हैं। अतः याज्ञवल्क्य आदि कथाएं ब्रह्मविद्याविषयक हैं, पारिप्लवार्थ=मनोविनोदार्थ या मनोरञ्जनार्थ नहीं ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

(तथा च) और भी (एकवाक्यतोपबन्धात्) ब्रह्मविद्याविषयक यथार्थविधि में ही याज्ञवल्क्य सम्बन्धी कथा का उससे आगे वर्णित "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**" (बृह० ४।५।६) इस वचन के साथ एकवाक्यता का उपबन्ध अर्थात् समन्वय होने से पारिप्लवार्थ=मनोविनोदार्थ या मनोरञ्जनार्थ वर्णन नहीं है ॥ २४ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

(अतः-एव) ब्रह्मविद्या के स्वतन्त्र होने से तथा उससे पुरुषार्थ-पुरुष के अर्थ=पुरुष के प्रयोजनरूप मोक्ष की सिद्धि होने से अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास काम्य यज्ञ आदि कर्मों की अपेक्षा नहीं है ॥ २५ ॥

यदि ऐसा है तो "**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**" (बृह० ४।४।२२)=वेदानुवचन से, यज्ञ से, दान से, अनाशक तप से, उस परमात्मा को ब्राह्मण जानना चाहते हैं। यह यज्ञादि विधान करनेवाली श्रुति क्यों है? इस पर कहते हैं—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

(यज्ञादिश्रुतेः) "**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**" (बृह० ४।४।२२) इस यज्ञादि श्रुति-वचन से (सर्वापेक्षा च-अश्ववत्) उस श्रुतिवचन में जो यज्ञादि कर्म कहे हैं उन सबकी अपेक्षा-आवश्यकता हो सकती है अश्व की भांति। जैसे अश्व=घोड़े को साधने के लिये प्रथम नियन्त्रण कर्म अपेक्षित हैं, सध जाने पर नहीं, वैसे जब तक विद्वान् न हो जावे तब तक उस श्रुति में प्रतिपादित यज्ञादि

कर्मों की मनुष्य को अपेक्षा है, न कि पश्चात् उत्पन्न विद्या पर फलश्रुति के लिये। उस श्रुति में स्पष्ट ही यह है—"**तं विविदिषन्ति**"=उस सर्वेशान परमात्मा को जानना चाहते हैं। अत: विद्या की स्वतन्त्रता ही है, कर्माङ्गता नहीं।

अन्य व्याख्यामार्ग (यज्ञादिश्रुतेः) "तमेतं वेदानुवचनेन....." इस यज्ञादि श्रुति-वचन की (सर्वापेक्षा च) सब आश्रमों के लिये ही अपेक्षा है। सब आश्रमों के अनुष्ठान का विधान करनेवाली यह श्रुति आवश्यक है। सब आश्रमों के अनुष्ठान इस में पृथक्-पृथक् वर्णित किए हैं। चार अनुष्ठान योग्य बातें चार आश्रमों की हैं। उस में एक-एक आश्रम का एक-एक अनुष्ठान करने योग्य वृत्त है। संन्यास का वेदानुवचन=वेद प्रवचन, गृहस्थ का यज्ञ, वानप्रस्थ का दान-त्याग [१], ब्रह्मचर्याश्रम का तप=ब्रह्मचर्य [२], इस प्रकार सब अनुष्ठेय (अश्ववत्) अश्व की भांति है, जैसे अश्व=घोड़े को शीघ्रगामी साधने के लिये विविध साधन अपेक्षित होते हैं, यहां भी पृथक्-पृथक् आश्रमक्रम से अनुष्ठेय अपेक्षित हैं। इससे भी विद्या की स्वतन्त्रता नहीं जाती और न उसकी कर्माङ्गता सिद्ध होती है॥ २६ ॥

परन्तु—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥ २७॥

(तथापि शमदमाद्युपेतः-तु स्यात्) तथापि शम, दम आदि साधनों से युक्त तो मुमुक्षु हो ही—"**तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति**" (बृह० ४।४।२३)=शान्त=शमयुक्त, दान्त=दमनयुक्त=इन्द्रिय दमन से युक्त, उपरत=वैराग्यवान् तितिक्षु=सहनशील, समाहित होकर स्वात्मा में परमात्मा को देखता है। इस प्रकार इन शम, दम आदि साधनों से युक्त हो ही। क्योंकि (तेषाम्-अवश्यानुष्ठेयत्वात्) उन शम, दम आदि के अनिवार्य अनुष्ठान करने योग्य होने से (तदङ्गतया तद्विधेः) शम, दम आदि अङ्ग से विद्या से शम, दम आदि का विधान है॥ २७॥

मुमुक्षु के प्रति भक्ष्य कहते हैं—

---

१. "दाता नित्यमनादाता" (मनु० ६।८) वानप्रस्थ सदा दान करे, ले नहीं।

२. "ब्रह्मचर्येण तपसा" (अथर्व० ११।५।१९)।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्॥ २८ ॥

(सर्वान्नानुमतिः-च) "**न ह वा एवंविदि किञ्चिदनान्नं भवतीति**" (छान्दो० ५ । २ । १)=इस प्रकार जाननेवाले के निमित्त कुछ अनन्न नहीं होता—"**न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति**" (बृह० ६ । १ । १४)=इसका खाया हुआ अनन्न नहीं है। यह सब अन्नों के खाने की अनुमति मुमुक्षु के प्रति जो विधान की गई है वह (प्राणात्यये) प्राणानाश के अवसर पर= प्राणनाश के भय होने पर माननी चाहिए (तद्दर्शनात्) वह इस प्रकार श्रुति में देखने से, श्रुति में देखा जाता है प्राण-संशय पर अभक्ष्यभक्षण—"**मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या जाययोषस्तिर्ह चाक्रायणः...... इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे, तं होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्चेम उपनिहिता इति। एतेषां मे देहीति होवाच, तानस्मै प्रददौ हन्तानुपान-मित्युच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति होवाच। न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति॥**" (छान्दो० १ । १ । १-४)=टिड्डियों से नष्ट खेत वाले कुरु देश में उषस्ति चाक्रायण आटिकी पत्नी के साथ रहता था, हाथीवान् को उबले मोठ खाते देख उस से उनकी भिक्षा मांगी, हाथीवान् ने कहा—अन्य नहीं है, जो है मेरे झूठे हैं, उषस्ति ने उनमें से 'दे दे' ऐसा कहा, उनमें से उसने दे दिए। पुनः हाथीवान् 'जल भी ले ले', उषस्ति ने जल नहीं लिया कि जल तो झूठा पीया हो जावेगा, हाथीवान् ने कहा—ये मोठ भी तो झूठे हैं, तब उषस्ति बोला कि मैं इन्हें न खाता हुआ नहीं जी पाता, जल तो बहुत है। इस प्रकार प्राणसंशय पर अपने से नीच का तथा झूठा तक अन्न खा-लेना अभक्ष्य नहीं है, भक्षण कर लेना भी मुमुक्षु के लिये दोषयुक्त नहीं है अपितु कर्त्तव्य है। यह ब्रह्मविद्या का विरोधी नहीं है अपितु सहकारी है॥ २८॥

अबाधाच्च॥ २९ ॥

(च) और (अबाधात्) जो वह श्रुति है—"**आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः**" (छान्दो० ७ । २६ । २) आहारशुद्धि में अन्तःकरण शुद्ध रहता है। वह यह शुद्धाहार भक्षणविषयक श्रुति प्राणसंशय के अवसर पर अभक्ष्य-भक्षण से बाधित नहीं होती क्योंकि अभक्ष्य-भक्षण आपत्काल में अपवादरूप से किया जाता है॥ २९॥

अपि च स्मर्यते॥ ३०॥

(अपि च स्मर्यते) स्मृति में भी अभक्ष्य-भक्षण प्राणसंशय के अवसर पर कहा गया है—"**जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥**" (मनु० १०। १०४)= जीवननाश=प्राणनाश को प्राप्त हुआ जैसा-कैसा अन्न खाता है तो वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे—पङ्क से=कीचड़ से आकाश लिप्त नहीं होता॥ ३०॥

प्राणसंशय न होने पर तो अभक्ष्य-भक्षण का निषेध है ही यह सूचित करते हैं—

शब्दश्चातोऽकामकारे॥ ३१॥

(अतः शब्दः-च-अकामकारे) इस कारण प्राणसंशय को छोड़कर अकामकार=यथेच्छ सेवन न करने के सम्बन्ध में तो शब्द=श्रुति स्मृति का वचन अभक्ष्यभक्षण-प्रतिषेधपरक है भी—"**यक्षरक्षःपिशाचान्नं....। ब्राह्मणेन नात्तव्यम्**" (मनु० ११। ९५)=यक्ष, राक्षस, पिशाच, विविध कृमि-कीट आदि संसक्त अन्न अथवा दूषित=घृणित व्यवहारयुक्त मनुष्यों का अन्न ब्राह्मण को न खाना चाहिए—"**नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा**" (मनु० २।५६)=झूठा अन्न किसी को न दे, न झूठा किसी का खावे॥ ३१॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि॥ ३२॥

(आश्रमकर्म-अपि विहितत्वात्) ब्रह्मचर्य आदि स्वाश्रम कर्म भी मुमुक्षु सेवन करे शास्त्रविहित होने से—"**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य**" (प्रश्नो० १।१०)=ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा, विद्या से परमात्मा की खोज करे॥ ३२॥

सहकारित्वेन च॥ ३३॥

(सहकारित्वेन च) विद्या के सहकारी होने के कारण भी स्वाश्रय कर्म सेवन करने योग्य है, क्योंकि विद्या अर्थात् ब्रह्मोपासनविद्या का सहायक होता है॥ ३३॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्॥ ३४॥

(उभयलिङ्गात्) विहित होना और सहकारी होना दोनों लिङ्ग पाए जाने से (ते-एव) वे आश्रम-धर्म सर्वथा अनुष्ठान करने योग्य हैं, अन्य नहीं॥ ३४॥

उन आश्रम धर्मों के अनुष्ठान में अन्य हेतु कहते हैं—

अनभिभवं च दर्शयति॥ ३५॥

(अनभिभवं च दर्शयति) "**एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविदन्ते**" (छान्दो० ८।५।३)=वह आत्मा नष्ट नहीं होता जिसे ब्रह्मचर्य से अनुभव करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम धर्म है, ब्रह्मचर्याश्रम=प्रथमाश्रम का धर्म है, परन्तु विद्या का सहकारी है। अध्यात्मविद्या में इसका विधान भी किया है—"**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्**" (कठो० १।२।१५)=जिसको चाहते हुए ब्रह्मचर्य सेवन करते हैं उस पद को तेरे लिये बतलाता हूँ, वह ओम् है। "**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य.......**" (प्रश्नो० १। १०) उस इस ब्रह्मचर्यरूप आश्रमधर्म से आत्मा का अनभिभव-अनुभव-साक्षात्कार को श्रुति दर्शाती है। अत: ऐसे आश्रमधर्म तो अनुष्ठान करने योग्य हैं ही जहां दोनों लिङ्गों-विहित होना और सहकारी होना है॥ ३५॥

और जो उत्तम लिङ्गविहित और सहकारी होने से रहित आश्रम कर्म हो वह ब्रह्मविद्या में अपेक्षणीय नहीं है, यह दर्शाते हैं—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः॥ ३६॥

(अन्तरा-च-अपि तु तद्दृष्टेः) 'अन्तरा-आश्रममन्तरा' -आश्रम से रहित अनाश्रमी जनों रैक्व, वाचक्नवी आदि को ब्रह्मज्ञान=ब्रह्मविद्या की प्राप्ति देखी जाती है उपनिषदों में। सयुग्वा रैक्व अनाश्रमी का ब्रह्मवेत्ता होना दिखलाया जाता है और उसने बहुत दानी जानश्रुति को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया—"**तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे.....रैक्व......एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से**" (छान्दो० ४।२।१-२)=जानश्रुति पौत्रायण छ:सौ गौवें हार अश्वतरीरथ को लेकर छकड़े वाले रैक्व के पास जाकर बोला कि मुझे उपदेश दे, उस देवता का जिसकी कि आप उपासना करते हो। इसी प्रकार वाचक्नवी गार्गी ब्रह्मवादिनी आश्रमविहीन हुई—"**अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि..... यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं प्रोतं चेति**" (बृह० ३।८।१-३)=वाचक्नवी गार्गी बोली हे श्रीमान् ब्राह्मणो! मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी........हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर जो पृथिवी के नीचे और जो द्युलोक-पृथिवी लोक के मध्य जो बीत चुका, जो है, जो

होगा, यह सब किस में ओतप्रोत है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या सम्बन्धी दो प्रश्न पूछे। इस प्रकार गाड़ी वाले रैक्व आदि आश्रमरहित= आश्रमकर्म के बिना जनों का ब्रह्मविद्या में निष्णात होना मिलता है, इससे ब्रह्मविद्या में आश्रमकर्म अपेक्षित नहीं ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

(स्मर्यते-अपि च) स्मृति में भी कहा है—"**जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते**" (मनु० २। ८७) जप्य=ब्रह्मध्यान से ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता हो जाता है, अन्य आश्रम कर्म करे या न करे॥ ३७ ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

(विशेषानुग्रहः-च) उभयलिङ्गरहित विहित और सहकारी भाव से रहित आश्रम कर्मों की अनपेक्षा में विशेष अनुग्रह=विशेष कर्मों का अनुग्रह भी कारण है, वे विशेष कर्म अनुगृहीत होते हैं=अनुकूलता से युक्त होते हैं, वे विशेष कर्म जो ब्रह्मविद्या में उपयुक्त होते हैं, यहां कहते हैं—"**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य**" (प्रश्नो० १। १०)=चार आश्रमों के विशेष कर्म अनुगृहीत होते हैं, उन में वानप्रस्थ से तप, ब्रह्मचर्याश्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ से श्रद्धा, संन्यासाश्रम से विद्या। अतः विहित सहकारी आश्रमकर्मों से अतिरिक्त आश्रमकर्मों की अनपेक्षा ब्रह्मविद्या में है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

(अतः-तु-इतरत्-ज्यायः-लिङ्गात्-च) इस आश्रमकर्म से तो इतर-भिन्न शम, दम आदि ज्यायः=श्रेष्ठ है, ब्रह्मदर्शनलिङ्ग से यह जाना जाता है। "**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति**" (बृह० ४। ४। २२) शान्त=शमयुक्त, दान्त=दमयुक्त, उपरत=वैराग्यवान्, तितिक्षु=तपस्वी, समाहित=समाधि योगयुक्त लिङ्ग ब्रह्मदर्शन में हैं ॥ ३९ ॥

ऊर्ध्वरेतस्त्व को प्राप्त चतुर्थाश्रमी संन्यासी का वानप्रस्थ आदि आश्रमों में अवरोहण करना युक्त है या नहीं, इस पर कहते हैं—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्-रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

(तद्भूतस्य तु-अतद्भावः-न) ऊर्ध्वरेतस्त्व को प्राप्त हुए चतुर्थाश्रमी

"तल्लणर्थोपलब्धेः तल्लक्षणार्थः उपलब्धेः" इति सन्धिराज्र्चः ॥

का तो कभी अतद्भाव=तद्वर्जन=उसका त्याग=वर्जन अवरोहण नहीं होता है (जैमिनेः-अपि) यह जैमिनि का भी मत है (नियमातद्रूपाभावेभ्यः) नियम से ऊर्ध्वरेता को प्राप्त आश्रमनियम का अतद्रूप=त्याग है, इस विषयक अभाव के प्रदर्शक वचनों से सिद्ध होता है। जैसा कि "**अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्**" (छान्दो० १। २३। १)=अपने को आचार्यकुल के समर्पण कर अपने तप से अवसन्न रहते हुए। शास्त्रों में आरोहण ही कहा गया है, अवरोहण नहीं—"**ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्**" (जावा० ४)=ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ बने, पुनः वानप्रस्थ होकर संन्यासी हो जावे॥ ४०॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्॥ ४१॥

(पतनानुमानात्) पतन के सम्भव से, पतन सम्भव को लक्ष्य कर आधिकारिक=प्रायश्चित्त अधिकार में या प्रकरण में निर्णय किया हुआ भी नहीं है कि यह इसका प्रायश्चित्त है। क्योंकि (तदयोगात्) उसके अधिकार का अयोग होने से प्रतीकार नहीं हो सकता। कहा ही है—"**आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्यति कर्मणा**" (अत्रिस्मृति० ७। १६)=नैष्ठिक धर्म प्राप्त होकर जो तो द्विज गिर जाता है उसका प्रायश्चित्त नहीं देखता हूं, जिस कर्म से कि वह शुद्ध हो जावे॥ ४१॥

उपपूर्वमपि लोके भावमशनवत्॥ ४२॥

(अपि तु-एके-उपपूर्वं भावम्-अशनवत्) अपि तु कुछ आचार्य ऊर्ध्वरेता अवस्था को प्राप्त हुए आश्रमी का पतन पातक होना 'उप' शब्द पूर्वक अर्थात् उपपातक है न कि महापातक, अत एव उसका प्रायश्चित्तभाव अशनवत्=भोजन की भांति मानते हैं (तत्-उक्तम्) वह प्रायश्चित्त कहा गया। जैसा कि "**अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता। अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः**" (मनु० ११। १६०)=अपनी आत्मशुद्धि चाहनेवाले को अभोज्य अन्न नहीं खाना चाहिए। अज्ञान से खाए हुए को तो वमन द्वारा निकाल दे या शीघ्र विरेचन करनेवाले औषध उपचार से बाहिर निकाल दे। तथा "**अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः। कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्।**" (मनु० ११। ४५) =अनिच्छा से किए पाप के निमित्त प्रायश्चित्त बुद्धिमान् जन मानते हैं, इच्छापूर्वक किए पाप पर भी प्रायश्चित्त कहते हैं, श्रुति के निदर्शन=निर्देश से॥ ४२॥

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

(उभयथा-अपि-बहि:-तु) उपपातकत्व और महापातकत्व दोनों का भी, जो ऊर्ध्वरेतस्त्व धर्म से बाहिर हुआ पतित भी प्रायश्चित्त का भागी होता है। (स्मृते:-आचारात्-च) स्मृतिवचन से तथा शिष्टाचार से सिद्ध होता है—"**महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिण: । तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात् तत:**" (मनु० ११ । १३९)=महापातकी और अकार्य करने वाले जन सम्यक् तपे तप के द्वारा पाप से छूट जाते हैं। शिष्टजन दयावान् होते हैं वे पतितों का भी उद्धार कर देते हैं, यह प्रसिद्ध ही है ॥ ४३ ॥

कर्माङ्ग=कर्म की अङ्गभूत उपासना आश्रमकर्म है, वह यज्ञ स्वामी यजमान को सेवन करना चाहिए या कर्मकर्ता ऋत्विक् को, इस विषय में कहते हैं—

स्वामिन: फलश्रुतेरित्यात्रेय: ॥ ४४ ॥

(स्वामिन: फलश्रुते:-इति-आत्रेय:) स्वामी की फलश्रुति होने से स्वामी को ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा आत्रेय ऋषि मानते हैं—"**वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते**" (छान्दो० २ । ३ । २)=जो विद्वान् वृष्टि कामना में पांच प्रकार के साम की उपासना करता है उसके लिये ऋत्विक् वर्षा कराता है और मेघ बरसता है ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

(आर्त्विज्यम्-इति-औडुलोमि:) कर्माङ्गोपासनारूप कृत्य ऋत्विक् द्वारा कर्तव्य है, ऐसा औडुलोमि मानता है। क्योंकि (तस्मै हि परिक्रीयते) उस कृत्य के लिये ही ऋत्विक् यज्ञ में वरा जाता है ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

(श्रुते:-च) श्रुतिवचन से भी यह सिद्ध होता है कि वह कृत्य ऋत्विक् के द्वारा ही अनुष्ठान करने योग्य है, जैसा कि "**यां वै काञ्चन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाच**" (शत० १ । ३ । १ । २६)=ऋत्विक् जिस भी आशा=कामना का यज्ञ के अन्दर आशंसन=प्रस्ताव करता है, वह यजमान के लिये ही। "**तस्मादु हैवमुद्गाता ब्रूयात् कं ते काममागायानि**" (छान्दो० १ । ७ । ८-९)=उद्गाता ऋत्विक् बोले हे यजमान! तेरे लिये किस कामना का आगान=प्रस्ताव=याचन करूं ॥ ४६ ॥

अब मुमुक्षु के द्वारा वैकल्पिक अनुष्ठानयोग्य वृत्त प्रस्तुत करते हैं—

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥ ४७॥

(अन्तरविधिः सहकारी तद्वतः पक्षेण तृतीयं विध्यादिवत्) अन्तरविधि=आश्रमान्तरविधि=संन्यास से भिन्न अन्य आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रमों की विधि जो कि सहकारी=सहायक हो ब्रह्मज्ञानवाले संन्यासी के लिये, पक्ष से=विकल्प से तृतीय साधन अनुष्ठान करने योग्य है। प्रथम साधन तो शम दम आदि जैसे कह आए हैं—"**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति**" (बृह० ४। ४। २३)। द्वितीय साधन श्रवणचतुष्टय है—तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्या—"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो....**" (बृह० ४। ५। ६) "**तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य....**" (प्रश्नो० ॥ १०)=तृतीय साधन इस सूत्र में प्रस्तावित आश्रमान्तर विधि यज्ञ आदि, उसे पक्ष से सेवन करे अनिवार्यरूप से नहीं। सेवन कर सकते हैं, नहीं भी सेवन कर सकते हैं, सेवन करना बाधक नहीं। जैसे कहा है—"**जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते**" (मनु० २। ८७) वह यह आश्रमान्तर विधि पाक्षिक अर्थात् वैकल्पिक है विधि आदि की भांति, जैसे यज्ञविधि-नैमित्तिक=यज्ञविधि में दैनिक अग्निहोत्र पक्ष है। वह यह पूर्वोक्त सहकारी विधि का विवरण है॥ ४७॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः॥ ४८॥

(कृत्स्नभावात्-तु गृहिणा-उपसंहारः) कृत्स्नभावसे=समस्त कर्मों का बाह्यसाधन वाले यज्ञ-दान आदि और बाह्यसाधनों की आवश्यकता न रखने योग्य शम, दम आदि के भाव=सम्पादन हो सकने से गृही=गृहस्थ के द्वारा उपसंहार=उपसंग्रह=उपयोग आश्रमान्तर कर्मों का पक्ष से किया जा सकता है। गृहस्थ के लिये आश्रमान्तर सब कर्मों के अनुष्ठान में प्रतिबन्ध नहीं है किन्तु अविरोध है, उन कर्मों के कल्याणकारी होने से। गृहस्थ को अन्याश्रमकर्मों का अनुष्ठान करना कहा भी है —"**गृहस्थः सपत्नीकः पञ्चाग्निभिर्वा वने यास्यति**" (वैखानस धर्मसूत्रम् १। ६। १) गृहस्थ पत्नीसहित पांच अग्नियों के साथ वन में जा सकता है। "**गृहान् कृत्वा सदारः सप्रजा। सहाग्निभिर्बहिर्ग्रामाद् वसेत्॥**" (आपस्तम्बीय धर्म

सू०२। ९। २२। ८) घरों में रहकर गृहस्थ पत्नीसहित सन्तानों के साथ अग्निहोत्रादि यज्ञों को करता हुआ ग्राम से बाहिर बस सकता है ॥ ४८ ॥

समस्ताश्रम कर्मों का गृहस्थ को उपसंहार=उपसंग्रह=उपयोग करना चाहिए, सो किस रीति से इस पर कहते हैं—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

(इतरेषाम्-अपि मौनवत्-उपदेशात्) गृहस्थ को इतर आश्रमों के कर्मों का अनुष्ठान मौनवत् करना चाहिए (उपदेशात्) वैसा ही उपदेश होने से— "**गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्**" (नारदपरिव्राजको० ४)= गूढ धर्म=अपने धर्म=अपने आश्रम धर्म से भिन्न गहन धर्म को आश्रित हुआ विद्वान् अज्ञात आचरण करे ॥

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है। वहां भाष्य में "मौनवद्" इस शब्द से संन्यास का ग्रहण है—"**यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलवासौ**" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् जैसे मौन और गृहस्थ ये दोनों आश्रम श्रुति वाले= श्रुतिविहित हैं। ऐसे ही वानप्रस्थ और गुरुकुलवास=ब्रह्मचर्य भी। यदि यहां मौन शब्द से संन्यास लिया जावे तो "**कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः**" (४८) यह सूत्र अनर्थक हो जावे क्योंकि "मौनवदितरेषामप्युपदेशात्" इस सूत्र में गृहस्थ=गृही का भी समावेश होने से 'इतरेषाम्' बहुवचन प्रयोग से। उस बहुवचन के दोषप्रसङ्ग को हटाने के लिये वहां शाङ्करभाष्य में "इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनम्" (शाङ्करभाष्यम्) बहुवचन में द्विवचन की कल्पना की। वह तो सूत्ररचना शैली से अयुक्त है ॥ ४९ ॥

कैसे मौनवत्? इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

(अनाविष्कुर्वन्-अन्वयात्) अनाविष्कुर्वन्=अपने को न प्रकट करते हुए, अन्वय से=अनुगमक लक्षण से, काषायवस्त्र, दण्ड, कमण्डलु, मुण्डन जटा आदि चिह्नों को प्रयुक्त न करता हुआ "**तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्त-मनुव्रतम्**" (नारदपरिव्राजको० ४। ३५)=धर्मज्ञ अलिङ्ग=चिह्न न रखता हुआ ब्रह्म=ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान के आचरण को व्रतानुसार सेवन करे। इस सूत्र का अर्थ भी शाङ्करभाष्य में अन्यथा कल्पित किया। वहां "**सहकार्यन्तर-विधिः....**" (४७) इस सूत्र के भाष्य में "**तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य ब्राह्मणः**"

(बृह० ३।५।१) इस उद्धृत उपनिषद् वचन से "बाल्येन" पद ग्रहण किया कि कैसे "**बाल्येन अनाविष्कुर्वन्......यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेषामात्मानमाविष्कर्तुमीहते तद्वत्**" (शाङ्करभाष्यम्) बाल्य से न आविष्कृत करता हुआ जैसे बालक पक्वेन्द्रिय न होने=अपूर्ण इन्द्रिय होने से दूसरों के प्रति अपने को प्रकटरूप में नहीं रख सकता ऐसे। यह ऐसा शाङ्करभाष्य का कथन असङ्गत ही है, क्योंकि 'बाल्येन' पद सूत्र का नहीं है जो "**अनाविष्कुर्वन्.....**" इस सूत्र में अनुवर्तन किया जावे, और यह सूत्र "**सहकार्यन्तरविधि.......**" (४७) सूत्र के अनन्तर हो, दो सूत्रों का अन्तर करके कैसे 'बाल्येन' शब्द से सम्बन्धित हो? 'बाल्येन' शब्द भी उपनिषद् का है न कि सूत्र का। वस्तुतः पूर्व सूत्र में "मौनवद्" यह पूर्व सूत्रवर्ती अनन्तर पद यहां लक्षित होता है कि कैसे मौनवत् इसे खोला है कि "अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्" अन्वयों=चिह्नों से न प्रकट करते हुए॥५०॥

अब विद्यावान् ब्रह्मोपासक ब्रह्मदर्शन और मुक्तिफल को कब और कैसे प्राप्त करता है, यह दो अन्तिम सूत्रों से कहते हैं—

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्॥५१॥

(ऐहिकम्-अपि-अप्रस्तुतप्रतिबन्धे) अप्रस्तुतप्रतिबन्ध=अवर्तमान प्रतिबन्ध पर ब्रह्मज्ञान या परमात्मदर्शन विविध साधनों का फल होता है। ऐहिक=इस जन्म में प्राप्त करने योग्य। प्रस्तुत प्रतिबन्ध=प्रतिबन्ध वर्तमान होने पर तो परजन्म में प्राप्त करने योग्य होता है (तद्दर्शनात्) उसका श्रुति में दर्शन होने से। जैसा कि "**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।**" (कठो० १।१२।७)=परमात्मा एवं मोक्ष का विषय सुनने के लिये भी जो बहुतेरों को नहीं मिलता, सुनते हुए भी बहुतेरे जिसे नहीं समझ पाते। इस प्रकार प्रतिबन्ध होने पर ही ब्रह्मज्ञान की अप्राप्ति दर्शाई है। जनक आदि की ब्रह्मज्ञान प्राप्ति इसी जन्म में और वामदेव आदि की अपर जन्म में दर्शाई जाती है, अन्य दर्शन में भी कहा है—"**न कालनियमो वामदेववत्**" (सांख्य० ४।२०) कालनियम नहीं है वामदेव आदि की भांति। श्रुति में दर्शाया गया ही है—"**तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवमहं सूर्यश्च**" (बृह० १।४।१०)=मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ॥५१॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्था धृतेस्तदवस्था धृतेः॥५२॥

(एवं-मुक्तिफलानियमः) इस प्रकार मुक्तिफल का नियम नहीं है।

"**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**" (यजु० ३ । १ । ८)=उसे जानकार ही मृत्यु का अतिक्रमण कर पाता है—"**ज्ञानान्मुक्तिः**" (सांख्य० ३ । २३)= ज्ञान से मुक्ति होती है। "**ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह**" (महाभा० शान्ति० ३३१ । ८७)=ज्ञान से मोक्ष होता है। जो कहा जावे कि ज्ञान का फल मुक्ति है तो वहां कोई नियम या प्रतिबन्ध नहीं है, जब परमात्मा का ज्ञान हो जावेगा तब ही मुक्तिफल प्राप्त करेगा। मुक्ति के सम्बन्ध में इस जन्म या अपर जन्म अपेक्षित नहीं (तदवस्थाधृतेः) ब्रह्मज्ञानावस्था में उस मुक्ति के अवधारण से-निश्चय से। वैसा कहा भी है—"**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**" (तै० उ० २ । १)=ब्रह्मवेत्ता पर-अभीष्ट मोक्षफल को प्राप्त करता है। "**एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते**" (कठो० १ । २ । १७) ओ३म् अक्षर ब्रह्म को जानकर ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है ॥ "अवस्था धृतेः" द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति के लिये है ॥ ५२ ॥

तृतीयाध्याय का चतुर्थ पाद समाप्त ॥

तृतीयाध्याय स्वामी ब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित समाप्त ॥

चतुर्थ अध्याय

उसमें

प्रथम पाद

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ १ ॥

(असकृत्-उपदेशात्) "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**" (बृह० ४।५।६)=विश्व का आत्मरूप परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, उसके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए।"**तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत**" (बृह० ४।४।२१)= उसे ही धीर ध्यानीजन जानकर प्रज्ञा=प्रज्ञान साक्षात् अनुभूति करे। "**सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**" (छान्दो० ८।७।१)=वह परमात्मा खोजने योग्य है वह जानने योग्य है।"**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति**" (तै० उ० ३।१)=जिस से ये भूत उत्पन्न हुए जिसके द्वारा उत्पन्न हो जीते हैं जिसमें फिर अन्त में समाविष्ट होते हैं उसे जान, वह ब्रह्म है।"**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि.....**" (केनो० १।६)=जिसे आंख से नहीं देखता है जिस के द्वारा आंखें देखने का कार्य करती हैं उसे ही तू ब्रह्म जान।"**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**" (तै० उ० २।१)= ब्रह्मवेत्ता अभीष्ट फल=मोक्ष को पाता है। इस प्रकार अनेक स्थानों पर और अनेक प्रकार से पुनः-पुनः उपदेश से (आवृत्तिः) उस ब्रह्म की मन में पुनः-पुनः धारणा करनी चाहिए, ब्रह्मज्ञान के लिये या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये उसके साधन का मनन विदिध्यासनरूप ध्यान का पुनः-पुनः वर्तन करना चाहिए॥ १ ॥

लिङ्गाच्च॥ २ ॥

(लिङ्गात्-च) श्रुति में लिङ्ग है कि ध्यान में आवृत्ति करनी चाहिए— "**आदित्य उद्गीथः**" (छान्दो० १।५।१)=आदित्य उद्गीथ है, ऐसा कहकर फिर उसी विषय में "**रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्** (छान्दो० १।५।२)" **आदित्य!** तू रश्मियों को घुमादे। इस ढंग से आदित्य ज्ञान के लिये आवृत्ति कही, इस सामान्य ज्ञान से ब्रह्मज्ञान के लिये आवृत्ति में यह लिङ्ग=सङ्केत है। तथा "**त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा**

पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति। स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'' (छान्दो० ६।१०।२-३)=वह यहां बाघ हो या सिंह हो या भेड़िया हो या सूअर हो या कीट हो या पतङ्ग हो या डांस हो या मच्छर हो जो-जो होते हैं वह प्रकट हो जाते हैं। वह यह भिन्न-भिन्न बाघ आदि शरीरों में जाने- आने वाला जन्मधारण करने वाला अणुतर=सूक्ष्मतर चेतन वस्तु सत् आत्मा= जीवात्मा नाम से तू हे श्वेतकेतो! ऐसे उपदेश दे देने पर भी "**भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु**" (छान्दो० ६।१०।३)=फिर मुझे भगवन्! समझावें, उपदेश करें। यह जिज्ञासा प्रश्न और फिर जनाना है। "**अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्त्रवेद्......। अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति......सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति। जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स एषोऽणिमा......स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**" (छान्दो० ६।११।१-३)=हे सोम्य श्वेतकेतु! इस महान् वृक्ष वट आदि के मूल में चोट मारे तो वह वहां से जीता हुआ रस रिसाया करे। इस की एक शाखा को जीव छोड़ दे तो वह सूख जाती है....सारे को छोड़ दे तो सारा सूख जाता है, जीव से पृथक् हुआ यह मरता है, जीव नहीं मरता, वह न मरनेवाला अणुतर आदि तू आत्मा है। इस प्रकार फिर उपदेश देने पर "**भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु**" (छान्दो० ६।११।३)=फिर भी आप मुझे जनावें। इस पर भी जिज्ञासा प्रश्न है। जीवात्मज्ञान के लिये वह यह पुनः-पुनः जिज्ञासा तथा उसका पुनः-पुनः जनाना ब्रह्मज्ञान के लिये भी मनन आदि की आवृत्ति में लिङ्ग है। साक्षात् भी ब्रह्मज्ञान के लिये उसके साधन को सेवन करने की आवृत्ति का विधान है—"**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। आद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते**" (कठो० १।३।१५) जो परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि भूतगुणों से रहित नित्य, अनादि, अनन्त ध्रुव है उसका यहां निचयन=पुनः-पुनः धारण की आवृत्ति करने का विधान किया गया है। और भी भिन्न-भिन्न गुणयोग से ब्रह्म का ध्यान आवृत्ति ही होती है जैसे—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" (तै० उ० २।१) "**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**" (बृह० ३।९।२८) "**अदृष्टं द्रष्टृ......**" (बृह० ३।८।११) "**आनन्दरूपममृतं यद् विभाति**" (मुण्ड० २।२।७)=सत्य, ज्ञान, अनन्त, विज्ञान, अदृष्ट द्रष्टा आदि अमृत गुणनामों से पुनः-पुनः अपने आत्मा में बिठाना आवृत्ति है॥ २॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

(आत्मा-इति तु-उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च) उस ध्यानवृत्ति में सब का आत्मभूत परमात्मा अवलम्बनीय है, ऐसा ध्यानीजन प्राप्त करते हैं तथा श्रुतियां ग्रहण कराती हैं=बोध कराती हैं दर्शाती हैं—"**परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजामृत-स्यात्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश**" (यजु० ३२। ११)=परमात्मा सब भूतों में व्याप्त हो, सब लोकों में व्याप्त हो, सब दिशाओं उपदिशाओं में व्याप्त होकर वर्तमान है, मूलवस्तु प्रकृति की प्रथमजा विकृति=महत्तत्त्व को अपने आञ्चल में रखे हुए हैं, उस आत्मरूप में स्वात्मा समावेश करे। तथा "**विशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद**" (माण्डू० १२)=अपने आत्मा से उस आत्मरूप परमात्मा में संवेश करे। "**ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्**" (मुण्ड० २। २। ६)='ओ३म्' ऐसा उस आत्मरूप परमात्मा का ध्यान करो ॥ ३ ॥

किन्तु—

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

(न प्रतीके न हि सः) प्रतीक=मूर्ति आदि जड़ में परमात्म-बुद्धि न करे, क्योंकि वह परमात्मा नहीं है ॥ ४ ॥

यदि ऐसा है तो "**आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः**" (छान्दो० ३। १९। १)=आदित्य ब्रह्म है, इत्यादि में कैसे ब्रह्मदृष्टि विधान की। इस पर कहते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

(ब्रह्मदृष्टिः-उत्कर्षात्) जहां कहीं जड़ में ब्रह्मदृष्टि विधान करी है वह उत्कर्ष से=उत्कर्ष के कारण उस जाति के पदार्थों में उसके उत्कृष्ट होने=महत्त्ववाला होने से वह बड़े अर्थ में ब्रह्म शब्द है ॥ ५ ॥

तथापि—

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

(आदित्यादिमतयः-च) "**य एवासौ [आदित्यः] तपति तमुद्गीथ-मुपासीत**" (छान्दो० १। ३। १)=आदित्य तपता है उसे उद्गीथ मानकर उपासना करे। "**लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम्**" (छान्दो० २। २। १) इत्यादि स्थलों में आदित्य आदि मतियां मान्यताएं आदित्य आदि

१. "राजदन्तादिषु परम्" (अष्टा० २। २। ३१) से पर प्रयोग।

समान तुलनाएं तो (अङ्गे)=कर्माङ्ग उद्गीथोपासना कर्माङ्ग में की जाती है। क्योंकि (उपपत्तेः) उपपन्न होने से=युक्त होने से=ब्रह्मविज्ञान की योग्यता के सम्भव से। जैसे ही सामगान में अथवा उद्गीथगान में प्रारम्भ मध्य अवसान हिङ्कार आदि नाम से प्रसिद्ध होते हैं उसी भांति लोक आदि में पृथिवी आदि होते हैं, यह मति करनी है। वैसा कहा भी है—"**य एवं विद्वान् साम गायति**" (छान्दो० १।७।७)=जो इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है। इस वचन से साम में और उसके अङ्ग में आदित्यादि मतियों द्वारा गान उपपन्न होता है॥ ६॥

निदिध्यासन=ब्रह्मोपासन की जो आवृत्ति कही उसे कैसे काम में लावे, यह कहते हैं—

आसीनः सम्भवात्॥ ७॥

(आसीनः) समासीन हुआ=शान्ति से आसन लगाकर करे। क्योंकि (सम्भवात्) वैसा करने से ब्रह्मोपासना का सम्भव है, क्योंकि अन्य स्थिति में दोषापत्ति है॥ ७॥

ध्यानाच्च॥ ८॥

(ध्यानात्-च) ध्यान से भी ब्रह्मोपासना होती है, ध्यान के बिना नहीं। ध्यान आसन की अपेक्षा रखता है, जो भी कोई ध्यान करता है स्थिर होकर ही ध्यान करता है। इससे भी आसन अनिवार्य अनुष्ठान करने योग्य है॥ ८॥

अचलत्वं चापेक्ष्य॥ ९॥

(अचलत्वं च-अपेक्ष्य) अचलता को अपेक्षित करके ध्यान का वर्णन है। कहा भी है—"**ध्यायतीव पृथिवी**" (छान्दो० ७।६।७)=पृथिवी अचला है=पृथिवीतल वैसा ही रहता है, यह ध्यान-सा करती है॥ ९॥

स्मरन्ति च॥ १०॥

(स्मरन्ति च) आचार्य स्मृतियों में प्रतिपादन करते भी हैं आसन को "**यमनियमासन.....**" (योग० २।२।९)=यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग के आठ अङ्ग हैं—"**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः**" (गी० ६।११)॥ शुद्ध स्थान में अपना स्थिर आसन लगाकर॥ १०॥

कहां आसन लगाए ब्रह्मध्यान के लिये? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्॥ ११॥

(यत्र-एकाग्रता तत्र-अविशेषात्) जिस स्थान में एकाग्रता होसके उस

स्थान में आसन लगाकर ब्रह्मोपासन करे। क्योंकि अविशेष से, कोई एक ही स्थान को इसकी विशेषता नहीं है किन्तु मन की एकाग्रता हो जाना ही हेतु है आसन में। कहा भी है—"**मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने......**" (श्वेता० २।१०) "**न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्**" (सांख्य० ६।३१) स्थान का नियम नहीं चित्त की प्रसन्नता-एकाग्रता चाहिए॥ ११॥

ब्रह्मोपासन या ब्रह्मध्यान जीवन में कितने काल तक करते रहना चाहिए? इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

आप्रायणात् तत्रापि दृष्टम्॥ १२॥

(आप्रायणात्) प्रायण=मरण, आप्रायण=मरण तक जब तक जीवन है, मरणपर्यन्त ब्रह्मोपासन करता रहे—"**स यो ह वै तद् भगवान् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत**" (प्रश्नो० ५।१)=भगवान्! मनुष्यों में जो कोई मरण तक ओङ्कार का ध्यान करे।"**स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते**" (छान्दो० ८।१५।१)=वह इस प्रकार आयु-पर्यन्त उपासना करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इन वचनों में मरण तक ब्रह्मोपासना का विधान है (तत्र-अपि दृष्टम्) प्रायण-काल=मरणकाल में भी ध्यान करना चाहिए, यह श्रुति में देखा है—"**सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत**" (छान्दो० ३।१७।६)=वह अन्तवेला में इस त्रय को प्राप्त हो।"**प्रयतः श्राद्धकाले वा श्रावयेत्**" (कठो० १।३।१७)=मरते हुए के श्राद्धकाल=सत्यस्थिति पर पश्चात्ताप करते समय कठोपनिषद्रूप परमात्म-चर्चा सुनावे॥ १२॥

तदधिगम उत्तरपूर्वयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥ १३॥

(तदधिगमे) उपासनाभ्यास से ब्रह्म का अधिगम साक्षात्कार होजाने पर (उत्तरपूर्वयोः-अश्लेषविनाशौ) उत्तर और पूर्व पापों के क्रम से अश्लेष और विनाश हो जाते हैं। उत्तर पाप का अश्लेष अर्थात् सम्पर्काभाव=आगे पाप न हो सकना=सम्पर्क का असम्भव ब्रह्मप्राप्ति से निर्मल हो जाने पर पापकर्म में प्रवृत्ति न हो सकने से, मोक्षाधिकार प्राप्ति या मोक्ष हो जाने पर पापकर्म करने का प्रसङ्ग न होने से, क्योंकि वह तो जन्म-धारण करने पर ही होता है। पूर्व पाप का विनाश हो जाता है, ब्रह्म साक्षात्कार होता ही तब है जबकि पाप का नाश हो जाता है, पाप का अभाव हो जाता है तथा ज्ञानाग्नि के जाज्वल्यमान हो जाने पर काष्ठ की भांति पाप जल जाते हैं या पर ज्योति-स्वरूप परमात्मा में आत्मा की स्थिति निर्धूम अग्नि में पड़कर

स्वर्ण जैसे मैल से रहित हो जाती है (तद्व्यपदेशात्) वैसा मानकर ही उसके वर्णन से—"**यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते**" (छान्दो० ४। १४। ३)=जैसे कमलपत्र पर जल नहीं लगता इसी प्रकार ऐसा जाननेवाले में पाप कर्म नहीं लगता, नहीं रहता। तथा "**तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते**" (छान्दो० ५। २४। ३)=जैसे सींक की रूई अग्नि में घुसाने पर जल जाती है, इसी इस मोक्षाधिकारी के सारे पाप जल जाते हैं॥ १३॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु॥ १४॥

(इतरस्य-अपि-एवम्-असंश्लेषः पाते तु) 'तद्व्यपदेशात्' का अनुवर्तन है। इतर-पाप से इतर-भिन्न अर्थात् पुण्य का भी असंश्लेष=असम्पर्क=उत्तर और पूर्व का प्रसेवन और विनाश देहपात=मर जाने पर हो जाता है, उसके व्यपदेश-वर्णन से—"**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे**" (मुण्ड० २। २। ८)=उस पर-अवर अर्थात् दूर और समीप वर्तमान ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर इस मोक्षाधिकारी के कर्म क्षीण हो जाते हैं। तथा "**उभे उ ह्येवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः**" (बृह० ४। ४। २२)= दोनों को ही यह तर जाता है इस मोक्षाधिकारी के कृत=पुण्य, अकृत=पाप नहीं ताप देते हैं अथवा कृत=किया हुआ पुण्य पाप कर्म और अकृत=न किया हुआ करिष्यमाण कल्पना में आने वाले पुण्य-पाप कर्म ताप नहीं देते अर्थात् उनका क्रमशः विनाश और अश्लेष हो जाता है। और भी "**न वै सतः शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः**" (छान्दो० ८। १२। १)=शरीर के होते हुए पुण्य-पाप का नाश नहीं होता, अशरीर=शरीर से रहित मुक्त हुए को पुण्य-पाप नहीं छूते हैं। इस प्रकार शरीरपात के अनन्तर ब्रह्मसाक्षात्कार कर चुकने वाले मोक्षाधिकारी का देहान्त के अनन्तर पुण्य भी क्षय को प्राप्त हो जाता है[१] ॥ १४॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः॥ १५॥

(अनारब्धकार्ये-एव तु पूर्वे) जो पूर्व के पुण्य-पाप अनारब्ध कार्य

१. कुछ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि मुक्ति के पूर्व कर्म शेष रहते हैं तभी मुक्ति से पुनरावृत्ति सम्भावनीय है। परन्तु यह कथन अशास्त्रीय और अयुक्त है। शास्त्र तो ऊपर दे ही चुके हैं। मुक्ति से पुनरावृत्ति का यह प्रधान कारण है कि मुक्ति है फल=कर्मफल, किसी भी कर्म का फल असीम नहीं होता सीमावाला ही होगा क्योंकि कर्म की भी सीमा है। सीमावाले कर्म का फल

वाले=जिसका कार्य अर्थात् फल आरम्भ नहीं हुआ वे ही नष्ट होते हैं परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर (तदवधेः) वह ब्रह्माधिगम=परमात्म-साक्षात्कार है, अवधि नाश की अवधि होने से। कहा भी है—"**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये**" (छान्दो० ६।१४।२)= उसकी तब तक ही देर है जब तक शरीर से न छूटे, अनन्तर ब्रह्म में सम्पन्न हो जाता है, मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। सूत्र में तो शब्द से स्पष्ट किया है कि आरब्धकार्य, आरम्भ हो गया है फल जिन पुण्य-पाप कर्मों का वह तो भोगारूढ़=भोगसम्मुख भुज्यमान है, उस समय शरीर घूमते हुए कुम्हार के चक्र की भांति है, वह तो विचार का अवसर नहीं, वे फल भोग जावेंगे ही॥ १५॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्॥ १६॥

(अग्निहोत्रादि तु तत्कार्याय-एव तद्दर्शनात्) आश्रमान्तर सहकारी कर्म अग्निहोत्र आदि तो ब्रह्मज्ञान कार्य के लिये ही है उसके नाश के कथन का प्रसङ्ग नहीं (तद्दर्शनात्) उसका कार्य होना दर्शाया जाने से श्रुति में—"**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**" (बृह० ४।४।२२)=ब्राह्मण विद्वान् जन उस परमात्मा को वेदोपदेश से, यज्ञ से, दान से, अनाशक तप से जानना चाहते हैं॥ १६॥

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः॥ १७॥

(अतः-अन्या-अपि हि-एकेषाम्-उभयोः) इस अग्निहोत्रादि नित्यकर्म से अन्य भी काम्यकर्म की चोदना=विधि है, जो किन्हीं एक शाखावालों की है—"**अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति**" (बृह० ६।२। १६)=जो यज्ञ से, दान से, तप से, लोकों को जीतते हैं। वह यह विधि कर्मफल भोग में नहीं जाती है, कर्मफल भोग के लिये समर्थ नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म का अधिगम=साक्षात्कार के निमित्त उन दोनों काम्य और अकाम्य कर्म के नाश का विधान होने से दोनों का नाश बनता है पुण्य और पाप का नाश कथन से। जैसा कि कहा गया है—"**उभे उ हैवैष एते तरति**

असीम नहीं हो सकता। यही कारण ऋषि दयानन्द ने मुक्ति से पुनरावृत्ति में दिया है। दूसरी बात कर्म शेष रहने की, सो मुक्ति से कोई एक ही बार तो नहीं आया। उस बात को शेष=कर्मशेष नहीं कहा जा सकता। वह तो एक शक्ति=कर्म शक्ति=कर्मप्रवृत्तिशक्ति जीवात्मा की स्वाभाविक है, उससे मुक्ति से लौटकर कर्म करेगा ही। शक्ति या स्वरूप शेष नहीं कहाता है।

नैनं कृताकृते तपतः'' (बृह० ४।४।२२) तथा ''**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति**'' (मुण्ड० ३।१।३)=जब द्रष्टा जीवात्मा या ध्यानी जन दिव्य स्वरूप जगत्कर्ता जगदीश ब्रह्मयोनि= सर्वज्ञान=मूलक परमात्मा को देखता है=साक्षात् करता है तो वह पुण्यपाप को पृथक् करके निर्लेप, निर्दोष, निर्मल परम समता को उसके ज्ञान-आनन्द को विशेष रूप से प्राप्त होता है।

इस सूत्र पर 'उभयोः' इस शब्द का अर्थ शाङ्करभाष्य में ''जैमिनि-बादरायणयोराचार्ययोः'' जैमिनि और बादरायण आचार्य ने किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि यहां सूत्र में मतप्रदर्शन का प्रसङ्ग नहीं है। पूर्व सूत्र में 'अग्निहोत्रादि कर्म' और इस सूत्र में 'अतोऽस्या काम्यचोदना=काम्य कर्म की विधि है' इस कारण दोनों के कथन का सम्बन्ध है॥ १७॥

यदेव विद्ययेति हि॥ १८॥

(यत्-एव विद्यया-इति हि) ''**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयो-पनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति**'' (छान्दो० १।१।१०)=जो विद्या से करता है, श्रद्धा से और उपनिषद् से किया हुआ बलवत् कर्म सम्पन्न होता है। इस कथन में विद्या से ब्रह्मज्ञान को लक्ष्य बनाकर किया कर्म ब्रह्माधिगम= ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये होता है। उसका फल ब्रह्मसाक्षात्कार है, ब्रह्म-साक्षात्कार को सिद्ध करके वह स्वयं विनष्ट हो जाता है। फलपाक के अनन्तर कर्म-नाश को प्राप्त हो जाता है, उसके सम्बन्ध में तो विनाश के विचार का अवसर नहीं॥ १८॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते॥ १९॥

(इतरे तु भोगेन क्षपयित्वा सम्पद्यते) इतर=जिनका फल आरम्भ हो गया ऐसे पुण्य और पाप-कर्म तो भोग से विनष्ट कर समाप्त करके[1] ध्यानीजन ब्रह्म को प्राप्त करता है। यह प्रारम्भ हुए फल वाले पुण्य-पाप कर्मों का विनाश का प्रकार है। ऐसा कहा भी है—''**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति**'' (छान्दो० ६।१४।२)=उसे उतनी ही देर है जब तक शरीर से छूटे, बस फिर तो ब्रह्म में सम्पत्ति को प्राप्त करता है, मुक्त हो जाता है॥ १९॥

चतुर्थाध्याय में प्रथम पाद समाप्त।

---

१. ''क्षपि मारणतोषणनिशामनेषु'' (चुरादि)।

द्वितीय पाद

वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

(वाक्-मनसि) 'सम्पद्यते' पूर्वपाद के अन्तिम सूत्र से चल रहा है। मरते हुए की वाक् इन्द्रिय मन में सम्पन्न हो जाती है, सङ्गति को प्राप्त हो जाती है। क्योंकि (दर्शनात्-शब्दात्-च) लोक में देखने से। लोक में देखा जाता है जो ही मरने वाला होता है उसकी वाक्-वृत्ति वाणी क्रिया मन में समाप्त हो जाती है, बोलना चाहता हुआ भी बोल नहीं सकता। तथा शब्द से शास्त्रवचन से भी प्रतीत होता है—"**अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे.....**" (छान्दो० ६।८।६)=हे सोम्य! इस मरते हुए पुरुष की वाक् इन्द्रिय मन में सम्पन्न हो जाती है, सङ्गति को प्राप्त करती है और मन प्राण में इत्यादि॥ १ ॥

अच्छा, हो वाक् इन्द्रिय का मन में, सङ्गति पाना या समावेश होना तब अन्य इन्द्रियों की उस समय क्या गति हो? वहां तो वाक्-इन्द्रिय का ही सम्पन्न होना कहकर मन का सम्पन्न होना कहा गया है "वाङ् मनसि मनः प्राणे", इस आकांक्षा पर कहते हैं—

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

(अतः-एव सर्वाणि-अनु) इस वाक् इन्द्रिय का अनुसरण सारी इन्द्रियां करती हैं अर्थात् वाणी के पीछे नेत्र आदि भी मन में सम्पन्न हो जाती हैं। लोक में देखते हैं वाक्-वाणी की वृत्ति के उपराम हो जाने पर क्रमशः अन्य इन्द्रियों का भी सब का व्यापार निरुद्ध हो जाता है। तथा अन्यत्र उपनिषद् में स्पष्ट भी किया है—"**तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः....**" (प्रश्नो० ३।९) अतः उपशान्त तेजवाला=मरा हुआ, मन में सम्पन्न हुई=सङ्गति को प्राप्त इन्द्रियों के साथ-साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

(तत्-मनः) जिस मन में सारी इन्द्रियां सङ्गति को प्राप्त होती हैं वह मन प्राण में सङ्गति को प्राप्त होता है। क्योंकि (उत्तरात्) लोक में उत्तर क्रम दर्शन से तथा शास्त्र के उत्तर वचन से। लोक में देखा जाता है कि प्राण निकलने के अवसर पर मूर्च्छा अचेतना हो जाती है। शास्त्र में भी "मनः प्राणे" (छान्दो० ६।८।६) मन प्राण में सङ्गति को प्राप्त हो जाता है॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

(सः-अध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः) वह प्राण=प्राणनशक्तिवाला मुख्य प्राण=अध्यक्ष में तैजसात्मक=तेजःस्वरूप में सङ्गति को प्राप्त हो जाता है—"**प्राणस्तेजसि**" (छान्दो० ६।८।६) कैसे जाना जाता है (तदुपगमादिभ्यः) उसके उपलब्धि आदि हेतुओं से। कहा ही है—"**एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वश्वासी भवति**" (बृह० ४।३।३८)=इसी प्रकार इस आत्मा को सारे प्राण सङ्गति को प्राप्त हो जाते हैं। "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति**" (बृह० ४।४।२)=उसके शरीर से उत्क्रान्त होते हुए के साथ प्राण भी उत्क्रान्त हो जाता है। आत्मा का गुण तेज=ऊष्मरूप है जिस से शरीर उष्णता को प्राप्त हुआ होता है ॥ ४ ॥

उस विषय में पूर्व पक्ष को उपस्थित करते हैं—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

(भूतेषु तच्छ्रुतेः) सूत्र में प्राण की अध्यक्ष में सङ्गति कही किन्तु "**प्राणस्तेजसि**" (छान्दो० ६।८।६)=प्राण की तेज से सङ्गति होती है। तेज में बताने वाली श्रुति है, तेज गिना जाता है भूतों में, भूतों में उसका श्रवण होने से—"**पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशः**" फिर प्राण कैसे तेज में सङ्गति को प्राप्त करता है, यह प्रश्न है ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

(न-एकस्मिन्) यदि ऐसे 'तेजः' शब्द भूतवाची आप लेते हैं तो न केवल एक तेज में ही प्राण सङ्गति को प्राप्त होता है किन्तु आत्मा के अनेक में अवस्थान से होने से वह प्राण भी अनेकों में अवस्थित रहता है (दर्शयतः हि) वैसे श्रुति और स्मृति दर्शाती हैं—"**पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः**" (बृह० ४।४।५)=पृथिवी में अवस्थित होने वाला, जल में अवस्थित होने वाला, तेज में अवस्थित होने वाला, वायु में अवस्थित होने वाला, आकाश में अवस्थित होने वाला जीव है। तथा "**अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः। ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः**" (मनु० १।२७) सूक्ष्म पांच मात्राएं=भूतों की पञ्च तन्मात्राएं=पांच सूक्ष्मभूत विनाशी हैं, उनसे क्रम से यह जगत् उत्पन्न होता है। किन्तु 'प्राणस्तेजसि' यहां तेज तो आत्मा का धर्म ऊष्मनामक जानना चाहिए जिस के विषय में सूत्रकार कहेगा—"**अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा**" (वेदा० ४।२।११)=इसी के होने से यह ऊष्मा शरीर में है ॥ ६ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

(समाना च) वह यह उत्क्रान्ति समाना है=एक जैसी ही ध्यानी विद्वानों और सब साधारण जनों की (असृत्युपक्रमात्) प्राण नि:सरण के प्रारम्भ से (अमृतत्वं च-अनुपोष्य) अमृतत्व=मोक्ष को न प्रवेश करके=मोक्ष को न स्पर्श करके अर्थात् उस से पूर्व-पूर्व ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

(तत्-आ- पीतेः) वह 'तेजः' उत्क्रान्ति और संक्रान्ति का अधिष्ठान है जो कि आत्मा का लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर है, जब तक सम्पत्ति=ब्रह्मसम्पत्ति हो तब तक रहता है। क्योंकि (संसारव्यपदेशात्) इस आत्मलिङ्ग=सूक्ष्मशरीर से संसार व्यवहृत होता है=जब तक सूक्ष्म शरीर है तब तक संसार है। वह ही संसार का कारण है अन्यथा मोक्ष होजावे—"**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८।१२।३)=यह आत्मा इस शरीर से उठकर पर ज्योति:स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर अपने रूप से सम्पन्न हो जाता है। "**हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम। योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥**" (कठो० २।२।६-७)=मरने के पश्चात् आत्मा मनुष्य आदि योनि में जाता है शरीर धारण करने के लिये और स्थाणु=स्थावर वृक्ष लता आदि में भी जाता है। "**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**" (गी० ८।१६) जब तक ब्रह्म-लोक=मोक्ष तक न पहुंच ले तब तक सब लोक पुनर्जन्मार्थ हैं॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

(सूक्ष्मं प्रमाणतः-च) और यह तेजोरूप आत्मलिङ्ग प्रमाण से सूक्ष्म है, अत एव इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं (तथा-उपलब्धेः) जीवात्मा के साथ स्थूल से या स्थूल शरीर सम्बन्धी नाड़ी आदियों से उसके निष्क्रमण की उपलब्धि से=निष्क्रमण प्रसङ्ग से—"**विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति**" (कठो० २।३।१६) अन्य नाड़ियां=हृदय से भिन्न नाड़ियां आत्मा के शरीर से उत्क्रमण में विविध योनियों में ले जाने वाली होती हैं। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—"**एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः**" (बृह० ४।४।२)=यह आत्मा निकल जाता है आंख के द्वारा या मूर्धा के द्वारा या अन्य शरीराङ्गों के द्वारा॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

(अतः-उपमर्दन न) अतः-इस कारण से अर्थात् उस आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म होने से, स्थूल शरीर के उपमर्द=नाश से उसके नाश के साथ यह सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता है ॥१० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

(अस्य-उपपत्तेः-एव च-एषः-ऊष्मा) और इस आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म शरीर के उपपन्न होने से=विद्यमान होने से यह ऊष्मा=ऊष्णता स्थूल शरीर में जीवितावस्था में उपलब्ध होती है। यदि तो स्थूल शरीर की यह ऊष्मा होती हो तो मृतावस्था में रहते हुए मृत स्थूल शरीर के अन्दर भी उसके अन्य रूप आदि गुणों की भांति ऊष्मा भी उपलब्ध हो, उपलब्ध नहीं होता, अतः आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म शरीर का यह ऊष्मा धर्म है और वह आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म-शरीर आत्मा के साथ स्थूल शरीर से निकल जाता है "**तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य**" (बृह० ४।४।६)=वह लिङ्ग-सूक्ष्म शरीर कर्म के साथ सक्त=अनुगत हुआ अन्य शरीर में जाता है=प्राप्त होता है जिस में कि इसका मन निषक्त झुका हुआ हो ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

(प्रतिषेधात्-इति चेत्) प्राणों की उत्क्रान्ति प्रदर्शित की है, प्राणों का अधिष्ठान तेजोरूप आत्मलिङ्ग सूक्ष्म शरीर है—"**प्राणस्तेजसि**"=प्राण तेज में सङ्गति प्राप्त करते हैं ऐसे विधान से, उस सूक्ष्म शरीर की वर्तमानता आपीति=मुक्ति होने तक है, किन्तु "**स वा अयमात्मा......अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति**" (बृह० ४।४।५-६)=वह यह आत्मा अकामयमान जो अकाम, निष्काम, पूर्णकाम, आत्मकाम है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। इससे प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है, फिर मृत-शरीर हो जाने पर उनका अधिष्ठान तेजोरूप आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म शरीर मुक्ति होने तक रहता है, यह कथन अयुक्त है। यदि ऐसा कहा जावे तो (न) न कहना चाहिए। क्योंकि (शारीरात्) वहां प्राणों का उत्क्रमण प्रतिषेध शरीर से अर्थात् शरीर में रहने वाले आत्मा से कहा है शरीर से नहीं, शरीर से उत्क्रमण करता ही है परन्तु आत्मा से नहीं उत्क्रमण करते। वहां "**स वा अयमात्मा**" आत्मा शब्द प्रतिषेध में पढ़ा है, आत्मा से प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, शरीर से करते ही हैं ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम्॥ १३॥

(स्पष्टः-हि-एकेषाम्) इस आत्मा से प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध कुछेक शाखा वालों के मत या ग्रन्थ में स्पष्ट है जैसा कि "**यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहोस्विन्नेति.............नेति होवाच याज्ञवल्क्यः**" (बृह० ३।२।११)=जब यह पुरुष मरता है तो इससे प्राण उत्क्रमण कर जाते हैं या नहीं? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि नहीं। यहां 'अस्मात्' पञ्चमी विभक्ति के निर्देश से स्पष्ट है ही। तथा कौषीतकि शाखा वालों के भी मत में—"**स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति**" (कौ० ३।४)=वह आत्मा जब इस शरीर में उत्क्रमण करता है तो इन सब प्राणों सहित उत्क्रमण करता है। आत्मा के साथ प्राण रहते हैं उसके साथ जाते हैं, अतः आत्मा से प्राणों का उत्क्रमण नहीं अपितु शरीर से उत्क्रमण करता है, आत्मा की भांति। और भी मरणवेला में तेजोरूप सूक्ष्म शरीर को लेकर यह आत्मा शरीर से निकलता है—"**स एता-स्तेजमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति......तेन प्रद्योते-नैष आत्मा निष्क्रामति**" (बृह० ४।४।१-२)=वह इन तेजोमात्राओं को लेता हुआ हृदय को प्राप्त होता है.....वहां प्रद्योत=प्रकाश के सहित आत्मा निकलता है॥ १३॥

स्मर्यते च॥ १४॥

(स्मर्यते च) स्मृति में भी कहा है जीवात्मा प्राणों सहित=सूक्ष्म शरीर सहित स्थूल शरीर से निकलता है—"**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। यच्चाप्युत्क्रामति...........गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्**" (गी० १५।७-८)=मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों को खींचता है इन्हें लेकर उत्क्रमण करता है जैसे गन्धों को लेकर वायु। तथा "**यदाऽणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च। समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति॥**" (मनु० १।५६)=जब सूक्ष्म बनकर स्थावर या जङ्गम समावेश करता है तदा मूर्ति को छोड़ देता है॥ १४॥

तानि परे तथा ह्याह॥ १५॥

(तानि परे) इन्द्रियों के प्रकृतिरूप=सूक्ष्मभूत=तेजोरूप सूक्ष्म शरीर में आविष्ट हुए परदेव परमात्मा में समाविष्ट होते हैं (तथा हि-आह) ऐसा ही श्रुति कहती है—"**तेजः परस्यां देवतायाम्**" (छान्दो० ६।८।६)=तेज परा देवता परमात्मा में समाविष्ट होता है॥ १५॥

यह सम्पत्तिरूप सङ्गम क्या है ? सो कहते हैं—

अविभागो वचनात्॥ १६ ॥

(अविभाग:-वचनात्) वह यह सम्पत्तिरूप सङ्गम जो पूर्व कहा वह अविभाग=विभागरहितरूप श्रुतिवचन से सिद्ध है—"**यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति। एवमेव खलु सोम्येमा: सर्वा प्रजा: सति सम्पद्य न विदु:**" (छान्दो० ६।९।१-२)=मधु बनाने वाली मक्खियां मधु सम्पादित करती हैं, तब भिन्न-भिन्न गति वाले वृक्षों के रसों को मिला एक रस को प्राप्त कराती हैं। वे रस वहां मेल में विवेक=पृथक्-भाव को प्राप्त नहीं करते हैं कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूं, मैं अमुक वृक्षका का रस हूं। इसी प्रकार ये सब मनुष्य सत्स्वरूप परमात्मा में सङ्गति प्राप्त करके नहीं जानते हैं कि मैं अमुक नाम वाला था, अमुक नाम वाला था।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की विद्वत्परक=विद्वान् के लिये व्याख्या की है और विद्वत्प्रकरण "**तानि परे तथा ह्याह**" (१५) इस पूर्व सूत्र से उठाया है। उस भाष्य में "तानि पुन: प्राण-शब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्म-विदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते" (शाङ्करभाष्यम्)=प्राण शब्द से कही वे इन्द्रियां और भूत परब्रह्मवेत्ता के ये सब उस परमात्मा में प्रलीन हो जाती हैं। "**अविभागो वचनात्**" सूत्र पर "स पुनर्विदुष: कलाप्रलय: किमितेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष:"=वह विद्वान् का कलाप्रलय अन्यों की भांति अविशेष के साथ होता है या अविशेषरहित=पूर्णरूप से ? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर दिया है कि "भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येव प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। अविद्या-निमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्ति:।" तस्मादविभाग इति (शाङ्करभाष्यम्) =उनके नाम और रूप छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पुरुष ही कहा जाता है वह यह अकल अमृत होता है। अविद्यानिमित्तकलाओं का विद्यानिमित्तक प्रलय में अवशेषसहितता की उपपत्ति नहीं है। अत: अविभाग कहा है। यदि इस प्रकार विद्वत्परक यह सूत्र है—"**अविभागो वचनात्**" (वेदा० ४।२।१६) तो "**अविभागेन दृष्टत्वात्**" (वेदा० ४।४।४) इस सूत्र की भी वैसी ही विद्वत्परक व्याख्या की है। मुक्त का परमात्मा के साथ अविभाग प्रतिपादित किया है उसके भाष्य में—"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते य: स अविभक्त

एव परमात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते'' (शाङ्करभाष्यम्)=परज्योतिःस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके अपने रूप से सम्पन्न हो जाता है। जो यह वह अविभक्त ही मुक्त परमात्मा के साथ अवस्थित हो जाता है। तब तो दोनों सूत्रों का समानविषय होने से एक सूत्र की अनर्थकता का प्रसङ्ग आता है शाङ्करभाष्य में। वस्तुतः ''**अविभागो वचनात्**'' (वेदा० ४।२।१६) यह प्रस्तुत सूत्र विद्वत्परक नहीं है किन्तु म्रियमाण=मरणकाल को प्राप्त सब जन-मात्र के वाक् आदि इन्द्रियों का सम्पत्ति प्रकरण प्रस्तुत किया जाता है सूत्रों में और उपनिषद् में। सूत्रों में—''**वाङ् मनसि दर्शनात् अत एव च सर्वाण्यनु**'' (वेदा० ४।२।१-२) इत्यादि। उपनिषद् में —''**अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्**'' (छान्दो० ६।८।६)='प्रयतः' मरते हुए जन के, यह सामान्य से विधान है सम्पत्ति विषय में। ऐसा करके ही आगे वचन है—''**यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकरूपतां गमयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवं खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः**'' (छान्दो० ६।९।१-२) यह कहा गया है, इस उदाहरण में ''**इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः**'' इस वचन से सामान्य से सब मरते हुए का सम्पत्तिविषय सिद्ध होता है। अग्रिम वचन से भी सब प्राणी का सामान्य विषय स्पष्ट है क्योंकि आगे कहा गया है ''**त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा.......यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति**'' (छान्दो० ६। ९।२) ऐसा करके ही ''**अविभागेन दृष्टत्वात्**'' (वेदा० ४।४।४) इस सूत्र से ''**अविभागो वचनात्**'' (वेदा० ४।२।१६) इस प्रस्तुत सूत्र का विषयभेद है— ''**अविभागेन दृष्टत्वात्**'' सूत्र का विषय मुक्त का परमात्मा में अवस्थान हो जाता है। ''अविभागो वचनात्'' सूत्र का विषय मृत के वाक् आदि इन्द्रियों की परमात्मा में सम्पत्ति कही है। अतः दो सूत्र भिन्न-भिन्न दो विषयों को लेकर होने युक्त हैं। इससे शाङ्करभाष्य ''अविभागो वचनात्'' प्रस्तुत सूत्र पर अयुक्त है॥ १६॥

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥ १७॥

(तदोकः- अग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारः) उसका ओक अर्थात् स्थान और वह अग्रज्वलन है=परमात्मा में सम्पत्ति प्राप्त करते हुए शरीर से निकलते हुए तेजोयुक्त सूक्ष्म शरीर सहित जीवात्मा का ओकः=स्थान हृदय है, कहा

भी है—"**स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति**" (बृह० ४।४।१)=वह जीवात्मा इन तैजसमात्राओं=सूक्ष्मशरीरशक्तियों को लेता हुआ मरणसमय हृदय स्थान को अनुगत होता है=सरक आता है। उस हृदयरूप अग्रज्वलन प्रदेश से प्रकाशित द्वार, गया है शरीर से बाहिर निकलने के लिये द्वार जिसका वह ऐसा जीवात्मा। जैसे कहा है—"**तस्य हैतस्य हृदयं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति**" (बृह० ४। ४।२) उस जीवात्मा का हृदय प्रज्वलित होता है=चमकता है उस प्रज्वलित= चमकते हुए से यह आत्मा निकल जाता है (हार्दानुगृहीतः विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्-च) और हार्द=हृदयगत उपासित ब्रह्म के द्वारा अनुगृहीत हुआ=कृपा से प्रेरित हुआ विद्या=ब्रह्मविद्या के शेषभूत=अङ्ग बने हुए गतिविषयक अनुस्मृति के योग से अर्थात् शरीर से निष्क्रमणरूप गति के सङ्कल्प-सम्बन्ध से (शताधिकया) सौ से ऊपर संख्यावाला=सौ से ऊपर एक-सौ एक संख्यावाली मूर्धगत नाड़ी से विद्वान् उपासक शरीर से निकलता है। जैसे कहा भी है="**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति**........." (छान्दो० ८।६।३, कठो० २।५।१६)=हृदय की एक सौ एक नाड़ियां हैं उनमें से एक मूर्धा की ओर निकली है उससे ऊपर आते हुए अमृतत्व को प्राप्त करता है, अन्य नाड़ियां उत्क्रमण विविध योनियों में ले जाने वाली हैं। अविद्वानों का उत्क्रमण उस मूर्धा को जाने वाली नाड़ी से नहीं होता किन्तु भिन्न-भिन्न अङ्गों से होता है। जैसा कि कहा है "**चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः**" (बृह० ४।४।२)=आंख से या मूर्धा से या अन्य शरीराङ्गों से निकलता है॥ १७॥

रश्म्यनुसारी॥ १८॥

(रश्म्यनुसारी) वह यह ब्रह्मोपासक विद्वान् मूर्धा वाली नाड़ी से रश्म्यनुसारी होता है=सूर्यरश्मियों=सूर्यकिरणों के साथ गति करता है, उन के साथ ऊपर जाता है—"**अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते**" (छान्दो० ८।६।५)=जब जीवात्मा इस शरीर से उत्क्रमण करता है तो इन रश्मियों के द्वारा ऊपर चढ़ता है। "**तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**" (मुण्ड० १।२।११)= तप और श्रद्धा को जो शान्त विद्वान् भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में सेवन करते हैं वे निर्मल हुए आत्माएं सूर्यद्वारा अमृतपुरुष परमात्मा को प्राप्त होते

हैं ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ॥ १९ ॥

(निशि न-इति चेत्) मूर्धावाली नाड़ी से विद्वान् का निष्क्रमण जो रश्म्यनुसारी कहा है। वह दिन में मरने पर हो सकता है रात में मरने पर नहीं, यदि ऐसा कहा जावे तो (न) यह ऐसा नहीं, क्योंकि (सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्) सूर्यरश्मि का सम्बन्ध देह के साथ निरन्तर रहने से (दर्शयति च) श्रुति दर्शाती भी है देह में सर्वदा रश्मि का सम्बन्ध वर्तमान रहता है—"**एवमेवैता आदित्यरश्मयः.......**" **अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः**" (छान्दो० ८।६।२)=ये सूर्यरश्मियां उस सूर्य से प्रसार पाती हैं, वे इन नाड़ियों में प्रसार करती हैं, उस सूर्य में पहुंचती हैं ॥ १९ ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

(अतः-च दक्षिणे-अयने-अपि) इस हेतु सूर्यरश्मि सम्बन्ध के जब देह है तब तक होने से दक्षिणायन में भी 'अपि' शब्द से पक्ष में भी विद्वान् उपासक का उत्क्रमण रश्म्यनुसारी होता है—"**स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते**" (छान्दो० ४।१५।५)=वह इन्हें ब्रह्म की ओर ले जाता है। यह देवपथ ब्रह्मपथ है। इससे चलते हुए इस मानव आवर्त अर्थात् पुनः पुनर्जन्म चक्र को नहीं लौटते हैं ॥ यह वचन तत्त्ववेत्ताओं को ध्यान देने योग्य है ॥ २० ॥

यदि ऐसा है तो "**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥**" (गी० ८। २३-२५) अर्थात् जिस काल में अनावृत्ति और आवृत्ति को मरकर योगी प्राप्त होते हैं, उस काल को मैं कहूंगा ॥ अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, छः मास उत्तरायण हैं जिन में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥ धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, छः मास दक्षिणायन, इनमें चन्द्रमा की ज्योति को योगी प्राप्त करके लौटता है ॥ किस लिये दक्षिणायन में मरे योगी की पुनरावृत्ति और उत्तरायण में मरे की अनावृत्ति दर्शाई गई है ? इस पर कहते हैं—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

(योगिनः प्रति स्मर्यते) दक्षिणायन और उत्तरायण में उत्क्रमण के ये फल येगियों=प्राणायाम आदि साधकों के प्रति स्मृति में कहे गए हैं न कि ब्रह्मोपासक विद्वानों के प्रति। और फिर (स्मार्ते च-एते) ये दोनों भी दक्षिणायन-उत्तरायण फलप्रदर्शन स्मार्त=स्मृति में कहे गए हैं न कि श्रौत हैं=श्रुतिविहित हैं, अतः वे ये दोनों फलप्रदर्शन आदरणीय नहीं हैं।

इस सूत्र के शाङ्करभाष्य में 'स्मार्ते' इस पद से योगदर्शन और सांख्यदर्शन लिये हैं—"योगिनः प्रति चायमहरादिकाल-विनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् योगियों के प्रति यह अहः=दिन आदि काल विनियोग अनावृत्ति के लिये स्मरण किए जाते हैं, ये स्मार्त हैं, योग और सांख्य श्रौत नहीं हैं। शाङ्करभाष्य का यह कथन अत्यन्त अयुक्त और असम्बद्ध है। क्योंकि "**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ**" (गी० ८। २३) यह वचन पूर्वपक्षरूप से लिया गया है जो गीता का वचन है। यह योगदर्शन का वचन नहीं है। अतः यहां योगदर्शन नहीं लेना चाहिए। दूसरे, 'स्मार्ते' शब्द में द्विवचन देखकर सांख्यदर्शन पर भी वृथा आक्षेप किया है। और भी योग और सांख्य ये स्मार्त नहीं किन्तु दर्शन कहे जा सकते हैं। ऐसे भी अनर्थ किया है। 'स्मार्ते' पद से तो वहां गीता-स्मृति में प्रतिपादित दक्षिणायन- उत्तरायण में उत्क्रमण के फल ग्रहण किए जाने युक्त हैं ॥ २१ ॥

चतुर्थाध्याय में द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

(अर्चिरादिना) ब्रह्मोपासक विद्वानों की शरीर से उत्क्रान्ति मूर्धावाली नाड़ी से दर्शाई गई, अपि च उस समय वे रश्म्यनुसारी होकर ब्रह्मलोक को जाते हैं, ऐसा कहा। किस रीति से वे जाते हैं, यह कहते हैं—अर्चिः आदि से=देवयान पथ में वर्तमान अर्चिः=किरण आदि अवलम्बनों के द्वारा, जैसा कि "**तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमारणपक्षाद् यान् षडुदङ्डेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्या-च्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष**

देवयानः पन्थाः '' (छान्दो० ५ । १० । २) अर्थात् जो इस प्रकार जानते हैं वे ये वन में श्रद्धा और तप सेवन करते हैं वे अर्चि=किरण में मिल जाते हैं, किरण से दिन में, दिन से शुक्लपक्ष में, शुक्लपक्ष से छः मास उत्तरायण में, छः मास उत्तरायण से संवत्सर में, संवत्सर से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से विद्युत् में मिलते हैं, वह विद्युद्रूप अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की ओर पहुंचाता है, बस यह देवयान पन्था है। वह यह अर्चिः आदि से निर्दिष्ट पथक्रम (तत्प्रथितेः) उसकी प्रथिति=प्रसिद्धि से-अनेक ग्रन्थ भागों में प्रतिपादन से प्रथन से=विस्तार होने से राजमार्ग की भांति प्रायः ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा अनुकरणीय होने से है। उन में से एक स्थल तो यह उदाहृत कर ही दिया है और अन्य दो स्थल ये भी प्रदर्शित करते हैं ''**....अर्चिषमेव सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण-पक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादा-दित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः** '' (छान्दो० ४। १५। ४-५) तथा ''**ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभि-सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मा-सानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद् वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति**'' (बृह० ६। २। १५) इस प्रकार अनेक ग्रन्थभागों में अर्चि आदि मार्ग प्रथित है॥ १॥

अच्छा, ठीक है वह यह अर्चि आदिवाला देवयान मार्ग विद्यावान् विद्वानों का ब्रह्मलोकगमन के लिये प्रथित होने से वास्तविक है। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में जो अर्चि आदिवाला मार्ग उपदिष्ट किया जाता है शरीर से उत्क्रमण करते हुए का, उस में भेद भी प्रतिपादित किया है—''**ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भ-वन्त्यर्चिषोऽहः.....**'' (बृह० ६। २। १५)=वे जो इस प्रकार इसे जानते हैं वन में श्रद्धा सत्य को सेवन करते हैं वे अर्चिः-किरण में सङ्गति करते हैं अर्चि से दिन में इत्यादि। यह अर्चि आदि वाला मार्ग उपदिष्ट किया है यह तो प्रथित है=प्रसिद्ध है, छान्दोग्योपनिषद् में भी उसके वर्णन से। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में पुनः ''**यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायु-मागच्छति तस्मै तद् विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन ऊर्ध्वमाक्रमते**'' (बृह० ५। १०। १) इस वचन में कहा गया है कि जब आत्मा इस लोक से प्रयाण करता है तो वायु को प्राप्त होता है। वह वायु को प्राप्त होने की

सङ्गति कैसे हो, इस पर कहते हैं—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्॥ २ ॥

(वायुम्-अब्दात्) वायु को प्राप्त होते हैं अब्द=संवत्सर के पश्चात्, यह वायुगमनसङ्गति "**मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्**" (छान्दो० ५। १०। १) मासों में संवत्सर=अब्द=वर्ष को संवत्सर=अब्द से आदित्य को। सो वह बृहदारण्यक में कहा वायु छान्दोग्य में अब्द=संवत्सर के पश्चात् जानना चाहिए अर्थात् संवत्सर से वायु को, वायु से आदित्य को। क्योंकि (अविशेषविशेषाभ्याम्) दोनों में अविशेष और विशेष वचनों के द्वारा। दोनों प्रकरणों में अविशेष और विशेष वचन हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक में अविशेष=समान अर्चि: आदि क्रम है—"**तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-सम्भवन्ति.......**" (छान्दो० ५। १०। २) "**ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासतेऽ-र्चिरभिसम्भवन्ति.....**" (बृह० ६। २। १५)=यह तो समान चर्चा है, तथा दोनों ओर विशेष अर्थात् भेद भी है कि बृहदारण्यक में संवत्सर शब्द नहीं हैं, देवलोक अधिक है तथा छान्दोग्य में देवलोक नहीं है संवत्सर शब्द अधिक है। अर्चि आदि वाला क्रम तो समान है, अतः अर्चि आदि वाले क्रम की प्रथितता सिद्ध होती है। विशेष भी दोनों में वैसा ही है, इसलिये दोनों की एकवाक्यता बनती है। तब बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे स्थल में पढ़े हुए 'वायु' पद की संवत्सर के पश्चात् उपसंहार से एकवाक्यता है॥२॥

वायुलोक का उपसंहार तो कह दिया परन्तु "**स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्......**" (कौषी० १। ३) यहां कहे वरुण लोक आदि लोकों का सन्निवेश कहां करना चाहिए? इस पर कहते हैं—

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात्॥ ३ ॥

(तडितः-अधि, वरुणः) विद्युत् के पश्चात् वरुण=वरुण आदि समुदाय निवेश करने योग्य है। क्योंकि (सम्बन्धात्) परस्पर सम्पर्क से। वरुण अर्थात् आकाश में व्याप्त जल का विद्युत् के साथ सम्बन्ध होने से "**आपो यच्च वृत्वाऽत्यतिष्ठंस्तद् वरुणोऽभवत्तं वा एनं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण**" (गो० पू० १। ७) आपः=जल जो वरण करके= आकाश को घेरकर ठहर गया वह वरुण हो गया, उस वरण होते हुए को वरुण कहते हैं। इस कथन से आकाश में व्याप्त वर्षाभिमुख जलराशि वरुण

है। उसका विद्युत् के साथ सम्बन्ध है, जैसे कहा भी है—"**विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति**" (छान्दो० ७।११।१)=विद्युत् चमकती है, गर्जना होती है, तो जल बरसेगा। इस प्रकार विद्युत् के अनन्तर वरुणलोक और उसका सम्बन्ध रखने वाला अगला वर्ग उपसंहार करने योग्य है॥ ३॥

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्॥ ४॥

(आतिवाहिका:) वे ये अर्चि: आदि देवयान मार्ग में ब्रह्मोपासकों की मोक्षप्राप्ति के लिये आतिवाहिक हैं। अतिवाह=अबाधप्रवाह आगे-आगे गमन का प्रवाह, उसमें होने वाले आतिवाहिक हैं=प्रेरक सरणक्रम हैं, नदी तरङ्गों की भांति या सूर्यकिरणों की भांति या विद्युत्=धाराओं की भांति। न ये मार्गचिह्न हैं, न आवासस्थान=पड़ाव हैं ,न भोगस्थान हैं, और न लोकों के समान हैं। क्योंकि (तल्लिङ्गात्) आतिवाहिकत्व के लिङ्ग से। उसमें लिङ्ग कहते हैं—"**चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ४। १५। ५, ५। १०। २, बृह० ६। २। १५)=चन्द्रमा से विद्युत् को यह अमानव पुरुष, इन्हें ब्रह्म की ओर पहुंचाता है। वह इन अर्चि आदि का अवलम्बन कर तुरन्त ही आदित्य की ओर जाते हैं। जैसे कहा है—"**अस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते......स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतावद्वै लोकद्वारं विदुषां प्रपदनम्**" (छान्दो० ८।६।५) अर्थात् इस शरीर से उत्क्रमण करता है, अनन्तर इन किरणों के द्वारा ऊपर चढ़ता है,..... वह जितनी देर में मन को फेंके उतनी देर में आदित्य को प्राप्त करता है यह लोकद्वार विद्वानों का प्रपदन=चलने का मार्ग है। यहां क्षण भर मन के स्फुरणकाल के समान काल में आदित्यपर्यन्त अर्चि आदियों को लांघ जाता है, वह ऐसा कथन अर्चि आदि का मार्गचिह्न और भोगमय आवासस्थान होने का प्रतिषेध करता है। वस्तुत: वे अर्चि आदि बाह्य दृष्टि से तैजसतरङ्ग और आभ्यन्तर दृष्टि से सूक्ष्म शरीरवर्ती मानसतरङ्ग कहे जा सकते हैं। जैसा कि लिङ्ग दीखता है वहीं पर "**.....विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५।१०।२, ४।१५।५)=विद्युत् को प्राप्त होता है वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की ओर पहुंचाता है। इस प्रकार अर्चि आदि क्रम में अन्तिम वस्तु विद्युत् है उससे तो अवलम्बन में तैजस होना लक्षित होता है। तथा बृहदारण्यक श्रुति में "**पुरुषो मानसः**" (बृह० ६।२।१५) मानस देह कहा है और वह सूक्ष्म देह है। आतिवाहिक सूक्ष्मदेह सांख्यशास्त्र में वर्णित है "**न स्थूलमिति नियम**

आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्'' (सांख्य ५ । १०३)=स्थूल शरीर ही है ऐसा नियम नहीं, आतिवाहिक-सूक्ष्म शरीर के भी होने से ॥ ४ ॥

ब्रह्मोपासक आत्माएं कैसे आतिवाहिकों के द्वारा वहन किए जाते हुए ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, क्यों नहीं स्वतन्त्र विना आतिवाहिकों के ब्रह्म को प्राप्त हों, वे तो चेतन हैं ? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

(उभयव्यामोहात्) देह से उत्क्रमण करते हुओं के जो साधनरूप कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां हैं उन दोनों का व्यामोह सम्मूर्च्छन हो जाता है। उस समय वे आत्माएं सम्पिण्डित-इन्द्रियोंवाले होते हुए कुछ भी करने को असमर्थ होते हैं, अतः (तत्सिद्धेः) उन आतिवाहिकों की सिद्धि वाञ्छनीय है, इसलिये ठीक कहा है ॥ ५ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

(ततः-वैद्युतेन-एव) व्यामोह के अनन्तर वे आत्माएं वैद्युत तेजो धर्म से ही वर्तमान हुए ब्रह्मलोक मोक्ष को प्राप्त होते हैं (तच्छ्रुतेः) विद्युत्-विषयक श्रुति होने से—''**चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**'' (छान्दो० ५ । १० । २) ॥ ६ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

(कार्यं बादरिः) जो कहा है दोनों कर्मेन्द्रियों ज्ञानेन्द्रियों के व्यामोह के अनन्तर वैद्युत तेजोधर्म के द्वारा प्रेरित किए जाते हुए आत्माएं ब्रह्म को जाते हैं—''**चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**'' (छान्दो० ५ । १० । २) यहां ब्रह्म गन्तव्य कहा है। वह परब्रह्म परमात्मा नहीं किन्तु ब्रह्मलोक नामक कार्य है, ऐसा बादरि आचार्य मानता है। क्योंकि (अस्य गत्युपपत्तेः) इस यथोक्त ब्रह्म=ब्रह्मलोक का गमनविषयक उपदेश बन सकता है न कि सर्वगत=व्यापक ब्रह्म के प्रति गमनोपदेश बनता है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

(विशेषितत्वात्-च) और भी वैसा ही बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्मलोक शब्द से विशेषित किया है—''**पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति**'' (बृह० ६ । २ । १५) यहां ब्रह्मलोकों को भेजता है, बहुवचन निर्देश कार्य में सङ्गत है, ब्रह्म तो एक है अनेक नहीं ॥ ८ ॥

यदि ऐसा है तो कैसे ब्रह्मलोक के लिये ब्रह्म शब्द छान्दोग्योपनिषद्

में प्रयुक्त हुआ है—"**ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५।१०।२)? इस पर कहते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

(सामीप्यात् तु तद्व्यपदेशः) यहां सामीप्य=समीपता कालदृष्टि से है न कि देशदृष्टि से। अनन्तरता से ब्रह्मलोक के लिये ब्रह्म शब्द का व्यपदेश-कथन किया है। क्योंकि ब्रह्मलोक के अनन्तर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ क्योंकि—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

(कार्यात्यये) कार्य के=ब्रह्मलोक नामक कार्य के अतिक्रमण में ब्रह्मलोक के अतिक्रमण के अनन्तर=ब्रह्मलोक को लांघकर (तदध्यक्षेण सह) उसी अध्यक्षरूप अमानव मानस तैजस सूक्ष्म शरीर के साथ (अतः परम्-अभिधानात्) इस ब्रह्मलोक से परे ब्रह्म को प्राप्त करता है वैसा ही अभिधान=प्रतिपादन होने से—"**पुरुषोऽमानवः [मानसः] एनान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५।१०।२) ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

(स्मृतेः-च) स्मृति में भी अध्यात्मचर्याक्रम से अन्त में परब्रह्म प्राप्त किया जाता है, कहा गया है—"**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**" (गी० ८। १६)=ब्रह्मभुवन=ब्रह्मलोक से परे ब्रह्म अर्थात् मोक्ष है—"**परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्**" (इति स्मृतिः)=कृतात्मजन पर के अन्त में परपद=मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

(परं जैमिनिः) "**चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५।१०।२) इस वचन में ब्रह्म शब्द से परब्रह्म जैमिनि आचार्य मानता है। क्योंकि (मुख्यत्वात्) ब्रह्म शब्द मुख्यरूप से परब्रह्म में ही प्रयुक्त होता है, मुख्य ब्रह्म ही अध्यात्म मार्ग में प्राप्त करने योग्य है, अतः परब्रह्म ही ग्रहण करने योग्य है ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

(दर्शनात्-च) उस देवयान मार्ग में गन्तव्यरूप से अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म ही है—"**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति**" (छान्दो० ८।६।६, कठो०६।१६) उस हृदयगत नाड़ी के द्वारा ऊपर आता हुआ अमृतत्व=ब्रह्म को प्राप्त करता है। यहां गमन में अमृतत्व लक्ष्य है और वह परब्रह्म है न कि=ब्रह्मलोक

नामक कार्य। ऐसा करके ही "**स एतान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो०५। १०।२) यहां 'गमयति' शब्द है, वहां 'एति' शब्द है, दोनों प्रयोग गति के अर्थ में समान हैं ॥ १३ ॥

अब दूसरा हेतु परब्रह्म के लिये ब्रह्म शब्द के प्रयोग में देते हैं-

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

(कार्ये च प्रतिपत्त्यभिसन्धिः-न) तथा कार्य में ब्रह्मलोक में यथोक्त श्रुति-प्रतिपादन की योजना सम्भव नहीं है। कहा है श्रुति में—"**तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषम्......पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५।१०।२) "**ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिः........**" (बृह० ६।२।१५) अरण्यवास=नागरिक भोजनाच्छादन आदि का त्याग, श्रद्धा, तप सत्यानुष्ठान परब्रह्मपासकों का कृत्य है, कार्य ब्रह्मोपासकों का नहीं हो सकता। अन्यत्र उपनिषद् में भी मिलता है—"**तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**" (मुण्डक० १।२।११) यहां भी स्पष्ट ही अरण्य में श्रद्धा, तप आदि का अनुष्ठान करने वालों का सूर्यद्वारा अमृत अविनाशी पुरुष परमात्मा के प्रति गमन कहा है। यदि यह विशुद्ध गुण प्रतिपत्ति कार्यब्रह्म प्राप्ति के लिये हो तो परब्रह्म प्राप्ति के लिये अन्य विधिप्रतिपत्ति वह कैसी हो ? अन्य कोई भी शास्त्रों में नहीं सुनी जाती है, अतः परब्रह्म ही प्राप्तव्य रूप से कहा गया, ब्रह्मलोक कार्य की यहां कल्पना नहीं करनी चाहिए।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र की व्याख्या बादरि-मत के खण्डन के लिये की है, किन्तु वह सूत्रशैली से अयुक्त ही है। चल रहा है जैमिनिमत "**परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्। दर्शनाच्च**" (१२-१३) "**न च कार्ये प्रतिपत्त्यभि-सन्धिः**" (१४) इस सूत्र में 'च' ऊपर के 'दर्शनाच्च' सूत्र के साथ सम्बन्ध रखता है हेतु के प्रदर्शन में। "**न च कार्ये**....." प्रतिपादन करके अनायास जैमिनि का ही दूसरा हेतु है। "**न च कार्ये**....." यह सूत्र बादरिमत का अवलम्बन करके सिद्धान्तरूप से स्थापन करना चाहिए, जैसा कि शाङ्करभाष्य में स्थापित किया है "तस्मात् कार्यं बादरिः, इत्येष एव पक्षः स्थितः" (शाङ्करभाष्यम्) अर्थात् कार्यब्रह्म है यह बादरि मानता है, यह पक्ष स्थिर हो गया=सिद्ध हो गया। इस प्रकार यह शाङ्करभाष्य अयुक्त है। क्योंकि अगले सूत्र "**....बादरायण उभयथाऽदोषात्**" इस वचन से बादरायण

दोनों की मध्यस्थता करता है और बृहदारण्यकोपनिषद् में जो ब्रह्मलोक शब्द प्रयुक्त किया है वह भी ब्रह्म में ही किया है, उसकी कार्य में प्रतिपत्ति के सम्भव न होने से ही। तथा गीता में भी अर्चि आदि क्रम से ब्रह्मवेत्ता का गन्तव्य ब्रह्म निर्दिष्ट किया है—"**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥**" (गी० ८। २४) छान्दोग्य की भांति यहां ब्रह्म गन्तव्य ब्रह्मवेत्ताओं का कहा है, अतः बृहदारण्यक में जो ब्रह्मलोक गन्तव्यरूप से कहा है वह ब्रह्म के लिये ही जानना चाहिए। और भी 'लोको लोक्यते दृश्यतेऽनेनेति लोकः'[१], देखा जाय जिसके द्वारा वह लोक है, दर्शन का योग्य रूप या ब्रह्मदर्शन का अवस्थान, बहुवचन तो ब्रह्म के अनन्त गुणों के योग से या अनुभूति की विविधता से जानना चाहिए, जैसे मुण्डक में कहा है—"**वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥**" (मुण्ड० ३।२।६)=वेदान्त विज्ञान से निश्चित तत्त्व वाले संन्यास और योग से शुद्धान्तःकरण वाले यतिजन संन्यास से अभीष्ट उत्कृष्ट अमृत धर्मवाले ब्रह्मलोकों में वर्तमान हुए परान्तकाल आने पर सब लौटते हैं। यहां ब्रह्मलोकों में कथन बहुवचन प्रयोग ब्रह्म के बहुत गुणों या अनुभव के विविध प्रकारों के कारण है। और ब्रह्म ही लोक ब्रह्मलोक भी होता है मोक्ष। जैसा कि "**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति...... तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्**" "**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥**" (कठो० १।२। १५-१७) ओम् आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म ही लोक ब्रह्मलोक है, यह स्पष्ट है॥ १४॥

अब बादरि और जैमिनि के मतों का समन्वय या मध्यस्थता बादरायण-व्यास करते हैं—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च॥ १५॥

(अप्रतीकालम्बनान् नयति-इति बादरायणः) प्रतीक-आलम्बन-र-हितों=केवल ब्रह्मपासकों को वह अमानव या मानस पुरुष ब्रह्म के प्रति ले जाता है प्रतीकोपासकों को नहीं, प्रतीक में ब्रह्मोपासना सम्भव नहीं होती।

---

१. "दाता नित्यमनादाता" (मनु० ६।८) वानप्रस्थ सदा दान करे, ले नहीं।
२. "ब्रह्मचर्येण तपसा" (अथर्व० ११।५।१९)।

पूर्व कह दिया गया है—"**न प्रतीके न हि सः**" (वेदा० ४। १। ४)= प्रतीक में उपासना नहीं बनती क्योंकि वह प्रतीक में नहीं है। ब्रह्मोपासना दो प्रकार की होती है एक निर्गुणा, दूसरी सगुणा, ब्रह्म में से भिन्न वस्तुओं के गुणाभाव से "अकायमव्रणम्, अशब्दमस्पर्शं·····,अपाणिपादो·······" काय=शब्द, स्पर्श आदि और हाथ, पैर आदि से रहित है, यह निर्गुण उपासना है। और "शुद्धं कविर्मनीषी स्वयम्भूः, अमृतः, रसेन तृप्तः, सच्चिदानन्दस्वरूपः कर्ता धर्ता व्यापको नियन्ता"=शुद्ध, सर्वज्ञ, स्वाधार, अमृत, आनन्दमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, कर्ता, धर्ता, व्यापक, नियन्ता आदि गुणों से युक्त सगुणा उपासना है। दोनों प्रकार के वे ब्रह्मोपासक हैं, वे ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, यह बादरायण मानता है। अत एव (उभयथाऽदोषात्) कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, या ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, इन दोनों प्रकारों से बादरि और जैमिनि के मतों में दोष नहीं है। अतः (तत्क्रतुः-च) दोनों प्रकारों में उपासक तत्क्रतु=ब्रह्मक्रतु= ब्रह्मसङ्कल्पवान् ब्रह्मवर्ती होता है। ब्रह्मलोक दर्शन भूमि=ब्रह्मदर्शन योग्यरूप कार्य कहाता है, उसे पहिले प्राप्त करता है, पश्चात् परब्रह्म को प्राप्त करता है, जैसे कहा है—"**कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्**" (वेदा० ४। ३। १०)=वे ब्रह्मोपासक प्रथम ब्रह्मदर्शन योग्यत्व या ब्रह्मदर्शनभूमि को प्राप्त होते हैं पश्चात् तादात्म्य सम्बन्ध से ब्रह्म को अनुभव करते हैं, इस प्रकार दोनों का कथन निर्दोष है॥ १५॥

विशेषं च दर्शयति॥ १६॥

(विशेषं दर्शयति च) और श्रुति विशेष दर्शाती है=विशेषरूप से स्पष्ट करती है कि ब्रह्म या ब्रह्मलोक दोनों एक ही है, यह मानना चाहिए। जो छान्दोग्य में—"**ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-सम्भवन्ति......स पुरुषोऽमानवः स ब्रह्म गमयति**" (छान्दो० ५। १०२) ब्रह्म शब्द से, और बृहदारण्यक में—"**ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति.....पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति**" (बृह० ६। २। १५) ब्रह्मलोक शब्द से निर्देश करता है, यहां दोनों स्थलों में उपासनाविधान समान है, मार्ग समान है, अतः फल भी समान होना चाहिए॥ १६॥

चतुर्थाध्याय में तृतीय पाद समाप्त।

चतुर्थ पाद

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्॥ १ ॥

(सम्पद्य स्वेन- आविर्भावः) ब्रह्मोपासक विद्वान् शरीर से उत्क्रमण करके ब्रह्म में सम्पत्ति=सङ्गति प्राप्त करता है पुनः उसमें सम्पत्ति=सङ्गति प्राप्त करके उसका अपने रूप से=अपने रूप में आविर्भाव=प्रकटीभाव हो जाता है। क्योंकि (शब्दात्) उस विषय के प्रदर्शक श्रुतिवचन से—"**एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८। १२। ३)=यह आत्मा इस शरीर से पृथक् होकर परज्योतिःस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर अपने रूप से अभिनिष्पन्न हो जाता है, अग्नि को प्राप्त स्वर्ण की भांति अपने निर्मल स्वतः स्वरूप में आ जाता है॥ १ ॥

कब कौन प्राप्त होता है ? इस पर कहते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात्॥ २ ॥

(मुक्तः) मुक्त हुआ। जब मुक्त हो जाता है तब। कैसे ? (प्रतिज्ञानात्) प्रतिज्ञान से, वहां "**अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः**" (छान्दो० ८। १२। १) अशरीर=शरीर-सम्बन्ध से रहित=मुक्त आत्मा को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। इस प्रकार स्पष्ट यहां मुक्त आत्मा के सम्बन्ध में प्रतिज्ञान है=ज्ञापन है॥ २ ॥

सम्प्रसाद ऐसा कहा गया है, इस प्रकार तो सुषुप्तावस्थागत सशरीर-अमुक्त का प्रसङ्ग आता है। इस पर कहते हैं—

आत्मा प्रकरणात्॥ ३ ॥

(आत्मा प्रकरणात्) वह यह सम्प्रसाद जो यहां कहा जाता है वह सशरीर लक्षित नहीं है किन्तु वह तो आत्मा है=आत्मा के लिये है सुषुप्त के लिये नहीं, ऐसा प्रकरण से स्पष्ट है। वहां आत्मा पढ़ा गया है—"**तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच**" (छान्दो० ८। ११। १)॥ ३ ॥

पुनः वह आत्मा परमात्मा को प्राप्त करके मुक्तावस्था में कैसे अवस्थित होता है। इस पर कहते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वात्॥ ४ ॥

(अविभागेन) वहां परमात्मा में मुक्तात्मा अविभाग से=ताद्धर्म्य से=उसके धर्मों-गुणों को धारण किए हुए रहता है जैसे दूध में जल दूध के धर्म

श्वेतता को लेकर रहता है (दृष्टत्वात्) श्रुति में दृष्ट होने से—"**यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति**" (छान्दो० ३।१४।१)=जिस सङ्कल्प वाला इस लोक में पुरुष होता है वैसा इस लोक से प्रस्थान करके हो जाता है। उपासक ब्रह्मक्रतु=ब्रह्म सङ्कल्प वाला होता है वह इस लोक से प्रस्थान कर मुक्त हुआ ब्रह्मधर्मवान् हो जाता है। ऐसा ताद्धर्म्य=उसके धर्मवाला श्रुति में पढ़ा गया भी है—"**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥**" (मुण्ड० ३।२।३)=जब साक्षात् करने वाला आत्मा जगत्कर्ता ब्रह्मयोनि=वेदाधार दिव्य ईश पुरुष को साक्षात् करता है तो वह पुण्य-पाप को पृथक् करके निर्लेप हुआ परम समानता को प्राप्त करता है। यहां परम समानसम्पत्ति कही गई है॥ १४॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥ ५॥

(ब्राह्मण जैमिनिः) ब्राह्म धर्म से मुक्त अवस्थित हो जाता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानता है। क्योंकि (उपन्यासादिभ्यः) उपन्यास=उपन्यसन= दृष्टान्त से उपपादन किया जावे जो विचार वह उपन्यास कहा है। 'आदि' से फल और व्यवहार लिए जाते हैं। जीवात्मा का स्वभाव है जहां यह रहता है वहां तद्धर्मा बनकर=उसके धर्मों को लेकर रहता है। पृथिवी पर पार्थिव और अग्नि लोक में आग्नेय शरीर या धर्म से रहता है। उसी प्रकार ब्रह्म में मुक्त आत्मा ब्राह्म धर्म से रहता है और फल भी मुक्त आत्मा शरीर स्थानीय ब्राह्म धर्म से भोगता है। वैसा ही ऋषि दयानन्द ने भी कहा है— "जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है वैसे परमेश्वर के आधार [पर] मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है"(सत्यार्थप्रकाश नवमसमुल्लास)। यदि वह ब्रह्म में ब्राह्म धर्म, विज्ञान, आनन्द आदि को न ले तो वहां सुख को न प्राप्त कर सके, फिर मुक्ति का क्या लाभ और व्यवहार भी वहां कैसे हो? मुक्त होकर अव्याहत गतिवाला और कामचारी हो जाता है। उस समय वह सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प होता है—"**सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः**" (छान्दो० ८।७।१) "**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७।२५।२)॥ ५॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः॥ ६॥

(चितितन्मात्रेण) वह यह मुक्त आत्मा मुक्ति में चितितन्मात्र से रहता है—"**चितिरेव पुरुषः**" (योग० १।२ व्यासः)=पुरुष=आत्मा चिति=चेतन है, अतः चेतनत्व आत्मरूप से अवस्थित होता है, वहां अचेतनता का

संस्पर्श भी नहीं होता है। क्योंकि (तदात्मकत्वात्) उसके चेतनस्वरूप होने से। चेतनस्वरूप है आत्मा, तब अपने स्वरूप से रहता है कहा भी है—"**परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते**" (छान्दो० ८। १२। ३)=पर ज्योति:स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके अपने रूप से अभिनिष्पन्न होता है। ऋषि दयानन्द ने भी कहा है—"**स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है**" (सत्यार्थप्रकाश नवमसमुल्लास)। वहां उसके चैतन्यस्वरूप से वर्तमान होना औडुलोमि आचार्य मानता है। आत्मा चेतन है—"**एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव**" (बृह० ४। ५। १३)= यह आत्मा अन्दर बाहिर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन= ज्ञानस्वरूप=चेतन ही है॥ ६॥

जैमिनि और औडुलौमि के मतों का समन्वय बादरायण व्यास दिखलाते हैं—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥ ७॥

(एवम्-अपि) मुक्ति में आत्मा को चितितन्मात्रता से रहने में भी (पूर्वभावात्) पूर्वभाव=चितितन्मात्रता से पूर्व कहे निष्पद्यमान ब्रह्मस्वरूप जैमिनिमत से (अविरोधम्-उपन्यासात् बादरायणः) विरोध बादरायण नहीं मानता उपन्यास से=उपयुक्त निगमन से। जैसे अग्नि को प्राप्त करके सोना अग्निताप से तप्त भी हो जाता है और मल से विमुक्त भी हो स्वरूप को प्राप्त करता है वैसे ही ब्रह्मनामक पर ज्योति:स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर मुक्तात्मा ब्राह्मरूप में होता है और प्रकृति के सम्पर्क से विमुक्त हुआ स्वकीय चितिरूप को प्राप्त करता है॥ ७॥

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः॥ ८॥

(सङ्कल्पात्-एव-तु) जैमिनि मत में मुक्त आत्मा ब्राह्मधर्म से या ब्राह्मरूप से मुक्ति में रहता है, उस ब्राह्मरूप में उसका कामचारित्व ऐश्वर्य हो जाता है—"**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७। २५। २)=उसका सब लोकों में कामचार=इच्छानुसार विचरण व्यवहार हो जाता है, वह सङ्कल्प से ही वस्तुतः होता है, भौतिक इन्द्रियों की अपेक्षा वहां नहीं होती और न अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता है, वहां मुक्ति से साङ्कल्पिक शरीर होता है। ऋषि दयानन्द ने भी कहा है—"**मुक्ति में .....सङ्कल्पमात्र शरीर होता है**" (सत्यार्थप्रकाश नवमसमुल्लास) (तच्छ्रुतेः) उस के सम्बन्धवाली श्रुति से यह बात सिद्ध होती है—"**यं यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते**" (छान्दो०

८ । २ । १०)=जिस-जिस कामना को चाहता है वह इस के सङ्कल्प से ही सम्मुख आ जाती है=पूरी हो जाती है, उससे सम्पन्न हुआ महिमा को प्राप्त होता है। तथा "**शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनो·····भवति**" (शत० १४।४। २।१७)=सुनने के हेतु श्रोत्र, मनन करने=सोचने-समझने के हेतु मन सङ्कल्प से हो जाता है ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

(अतः-एव च-अनन्याधिपतिः) इसी कारण से उस समय अनन्याधिपति हो जाता है, उस समय वह अपने कामचार में अन्य की अपेक्षा नहीं रखता जो उसकी कामपूर्ति में आधिपत्य करे। वह उस समय सत्य-सङ्कल्पवाला होता है=अविचलित-सङ्कल्पवाला होता है, अपनी कामना का वह स्वयं अधिपति होता है—"**स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७।२५।२) यहां कहा कि स्वराड्-स्वयं राजा होता है। "**सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य......स्वराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद**" (कौषी० ४।२०)=सारे पापों को नष्ट करके स्वराज्य=आधिपत्य को परिप्राप्त हो जाता है, जो ऐसे जानता है ॥ ९ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

(अभावं बादरिः) जो कहा है कि सङ्कल्प से कामना को प्राप्त करता है, उसके सम्बन्धवाली श्रुति से—"**यं यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति**" (छान्दो० ८।२।१०)=यह जो कहा है केवल सङ्कल्प से ही हो जाता है शारीरिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, यह युक्त हो सकता है क्योंकि प्रयत्न का साधन तनु-शरीर है। वहां शरीर नहीं शरीर का अभाव बादरि=व्यास का पिता पाराशर आचार्य मानता है। "**तन्वभावे...**" (१३) इस सूत्र वर्णन से तनुप्रसङ्ग जानना चाहिए (एवं हि-आह) ऐसे ही श्रुति कहती है—"**मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते**" (छान्दो० ८।१२।५)=इन कामनाओं को मन से अनुभव करता हुआ रमण करता है न कि शरीर से यह स्पष्ट है ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

(विकल्पामननात्-भावं जैमिनिः) "**तस्य·····आत्मतो मन आत्मतो वाग् आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति·····स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति**······" (छान्दो० ७।२६।२)=उसका आत्मा से मन, आत्मा से वाक् इन्द्रिय, आत्मा से कर्म, आत्मा से यह सब, वह एक प्रकार का केवल आत्मरूप में तीन प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर के

शक्तिशाली पांच प्रकार के कोशों वाला हो जाता है। इत्यादि कथन से साङ्कल्पिक शरीर के भाव को जैमिनि मानता है॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

(अतः-उभयविधं द्वादशाहवत्-बादरायणः) अतः यहां दोनों लिङ्ग श्रुति से उभयविध शरीर के भाव और अभाव को बादरायण मानता है अर्थात् स्थूल शरीर के अभाव और सूक्ष्म शरीर के भाव को मुक्ति में द्वादशाह की भांति। जैसे द्वादशाह यज्ञ सत्र है और अहीन भी है। वैसे ही मुक्ति में शरीर का दोनों प्रकार स्थूल का अभाव और सूक्ष्म साङ्कल्पिक का भाव जानना चाहिए॥ १२ ॥

शरीर के दोनों प्रकार से भाव में दो सूत्रों द्वारा अनुभव में उपपत्ति प्रदर्शित की जाती है—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

(तन्वभावे) मुक्ति में स्थूल शरीर के अभाव में (सन्ध्यवत्-उपपत्तेः) सन्ध्य=स्वप्न "**सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्**" (बृह० ४। ३। ९)=स्वप्न की भांति कामचार की सिद्धि होती है॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत्॥ १४ ॥

(भावे जाग्रद्वत्) मुक्ति में साङ्कल्पिक शरीर के भाव=वर्तमान होने पर जाग्रत् की भांति कामचार जानना चाहिए॥ १४ ॥

वहां मुक्ति में मुक्तात्मा स्वोपयोज्य साधनों को प्रकट करता है, यह कहते हैं —

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति॥ १५ ॥

(प्रदीपवत्-आवेशः) जैसे प्रकाशक प्रदीप प्रकाश्य वस्तुओं में अपने प्रकाश से आविष्ट होकर उन्हें प्रकाशमय-रूपवाले कर देता है उसी भांति यह आत्मा मुक्तावस्था में ऐश्वर्य प्राप्त कर साङ्कल्पिक मन वाक् आदि अङ्गों को प्रकाशित करता है=प्रकट करता है। (तथा हि दर्शयति) वैसे ही श्रुति दर्शाती है—"**तस्य····आत्मतो मन आत्मतो वाग्····आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति····सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति हि सर्वशः**" (छान्दो० ७। २६। २)=उसका आत्मा से=आत्मभाव से मन, वाक्, कर्म हो जाते हैं कहा गया है॥ १५ ॥

यदि प्रदीप के समान प्रकाशमान वह आत्मा निज उपयोज्य ऐश्वर्य को प्रकाशित करता है तो "**अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न**

बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'' (बृह० ४।३।१२)=यह आत्मा प्राज्ञात्मा=परमात्मा से सङ्गत हुआ न बाहिरी बात को जानता है न भीतरी बात को। **''यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्····केन कं विजानीयात्''** (बृह० २।४।१४)=जिस स्थिति में इस का सब आत्मा ही स्वरूप में हो गया=आ गया तब किस से किस को देखे आदि और किस से किस को जाने। इस प्रकार उसका अज्ञानवान् होना कैसे कहा गया? इस का समाधान करते हैं—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि॥ १६॥

(स्वाप्ययसम्पत्त्योः-अन्यतरापेक्षम्) वह इस प्रकार आत्मा का अज्ञानवान् होना जो कहा गया है वह स्वाप्यय=सुषुप्ति और सम्पत्ति में से किसी एक अपेक्षा से है (आविष्कृतं हि) यह वहां आविष्कृत=स्पष्ट प्रकट किया हुआ है। जैसा कि **''अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना····न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्''** (बृह० ४।३।२१) इस कथन में स्वाप्यय=सुषुप्ति का विषय चला आ रहा है कि **''यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति''** (बृह० ४।३।२१)=जिस अवस्था में सोया हुआ किसी कामना को, भोग को नहीं भोगता है और न किसी स्वप्न को देखता है उस सुषुप्ति में वह यह आत्मा प्राज्ञात्मा=परमात्मा से सङ्गत हुआ बाहिर भीतर की नहीं जानता है। तथा जो कहा गया **''सर्वमात्मैवाभूत्-तत् केन कं.....विजानीयात्....''** (बृह० २।४।१४, ४।५।१५) सो वहां सम्पत्ति=ब्रह्म में सम्पन्नता=योग समाधि का विषय चल रहा है—**''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति[1] न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति''** (बृह० २।४।१२, ४।५।१३)=इन भूत-भौतिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर-पृथक् होकर उन्हीं के साथ-साथ परमात्मा में विशेषरूप से आप्तनिगूढ हो जाता है। ऐश्वर्य सम्बन्ध तो मुक्त में कहा है, अतः दोष नहीं है॥ १६॥

और वह मुक्तों का ऐश्वर्य—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च॥ १७॥

(जगद्व्यापारवर्जम्) मुक्त का ऐश्वर्य जगत् के व्यापार को छोड़कर होता है। जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य=साङ्कल्पिक अङ्गधारण लोकों में कामचार जैसा कहा है वह सब होता है किन्तु जगत् की रचना, उसका धारण और संहार मुक्त नहीं कर सकता है। क्योंकि

---

१. ''नशत् व्याप्तिकर्मा'' निघ० १।१८।

(प्रकरणात्-असन्निहितत्वात्-च) जगद्रचना प्रकरण में ईश्वर कहा है— "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म**" (तै०उ० ३।१)= जिस से ये भूत—पदार्थ उत्पन्न हुए जिसके द्वारा जीते हैं=स्थिर रहते हैं, अन्त में जिसके अन्दर जाते और प्रवेश पाते हैं, उसे जान, वह ब्रह्म है। यहां सृष्टि के उत्पत्ति-प्रकरण में ब्रह्म को ही जगत् की उत्पत्ति आदि का हेतु कहा है। तथा असन्निहित होने से अर्थात् जगद्रचनादि के स्थल में मुक्तों का अथवा मुक्तों के साथ जगद्रचना आदि का सान्निध्य सम्भव नहीं। जैसे संसार में ग्रामशः बसने के कारण एकत्र हो छप्पर आदि महान् कार्यभार को उठा खड़ा कर देते हैं वैसा मुक्ति में मुक्तात्माएं नगरनिवास की भांति संघशः रहते हों जो इकट्ठे हो जगद्रचना कर सकें किन्तु वे तो अनन्त परमात्मा में मोक्षानन्द को लेते हैं। अव्याहतगति से विचरते स्वरूप सङ्कल्प में अप्रतिबद्ध, स्वतन्त्र, अन्योऽन्य निरपेक्ष हैं।

आश्चर्य है, नवीन वेदान्त संसारावस्था में भी जीव ब्रह्म की एकता को मानता है किन्तु वहां वेदान्तदर्शन में तो मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म की एकता नहीं स्वीकार की जाती। यह भी बात "जगद्व्यापारवर्जं·······" इस सूत्र से स्पष्ट सिद्ध है। यहां शंकराचार्य भी इसका अन्यथा अर्थ न कर सके किन्तु "जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य" (शाङ्करभाष्यम्) जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य-मुक्तों का हो सकता है, जगद्व्यापार तो नित्य सिद्ध ईश्वर का ही है॥ १७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः॥ १८॥

(प्रत्यक्षोपदेशात्-इति चेत्) मुक्त का ऐश्वर्य जगत् के व्यापार को छोड़कर होता है तो "**स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७।२५।२)=वह स्वयं राजा हो जाता है, उसका सारे लोकों में कामचार हो जाता है—"**आप्नोति स्वाराज्यम्**" (तै० उ० १६। २)=स्वराज्य के आधिपत्य को प्राप्त करता है। "**सर्वेऽस्मै देवा बलिमा-वहन्ति**" (तै० उ० १।५।३)=इसके लिए सारे देव बलि=भेंट लाते हैं, समर्पित करते हैं। इस प्रकार मुक्तों का यह पूर्ण ऐश्वर्य उपदेश प्रत्यक्ष है फिर कैसे जगद्व्यापार को छोड़कर कहा जाता है, ऐसा यदि कहा जावे तो (न) न कहना चाहिए। क्योंकि (आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः) वहां पूर्ण ऐश्वर्य का उपदेश नहीं किन्तु आधिकारिकमण्डलस्थ के विषय में यह

उक्ति है। अधिकार में होने वाला मण्डल आधिकारिक मण्डल, उस में रहनेवाला आधिकारिक मण्डलस्थ और उस के सम्बन्ध में उक्ति=चर्चा आधिकारिक मण्डलस्थोक्ति, उसके प्रतिपादन से। जैसा कि "**स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्**....." (छान्दो० ७। २५। १)=वह नीचे है, वह ऊपर वह पीछे वह आगे है। इस प्रकार परमात्मा को सब दिशाओं में अनुभव करके उसकी अनुभूति से जो प्राप्त किया है आधिकारिक मण्डल=फल समावेश=फल योग्यत्व=फल मर्यादा, वहां स्थित की उक्ति है—"**स स्वराड् भवति**......" (छान्दो० ७। २५। २) क्योंकि "**तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७। २५। २) यहां सर्वलोक विहार ही अधिकार कहा है। तथा "**आप्नोति स्वाराज्यम्**" (तै० १। ६। २)=स्वराज्य स्वामित्व को प्राप्त करता है, जो कहा है वहां "**आप्नोति मनसस्पतिम्**" (तै० उ० १। ६। २)=मन के पति परमात्मा को प्राप्त करता है=अनुभव करता है, अत एव "**आप्नोति स्वाराज्यम्**" स्वाराज्य के आधिपत्य को प्राप्त करता है और वह वैसा स्वाराज्य=स्वराज्य का आधिपत्य है, यही कहा है—"**वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिः**..... **एतत्ततो भवति**" (तै० उ० १। ६। २)=अपनी वाक् इन्द्रिय का पति, श्रोत्र का पति आदि हो जाता है। वह यह सब आधिकारिकमण्डलस्थ की फलोक्ति ही है। वह यह ऐश्वर्य जगदव्यापार नहीं है किन्तु जगद्व्यापार वर्जित है॥ १८॥

विकारवर्ति च तथा हि स्थितिमाह॥ १९॥

(विकारावर्ति च) और मुक्त का ऐश्वर्य विकारावर्ति होता है। विकार में आवर्तमान=विकार से बाहिर न जाने वाला विकार तक रहने वाला या विकार को आवर्तित करने वाला होता है अर्थात् विकाररूप जगत् में रहने वाला या विकार को अभीष्ट रूप को अपने में आवर्तित करने वाला होता है। क्योंकि (तथा हि स्थितिम्-आह) मुक्त के ऐश्वर्य की वैसी ही स्थिति को श्रुति कहती है—"**स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति**" (छान्दो० ७। २५। २) यहां लोकों में कामचार हो जाता है। कथन विकार में लोकरूप विकार में आवर्तन करना समन्तरूप से रहना कामचार होना कहा है न कि लोकों से बाहिर भी कामचार कहा। तथा "**तस्य**.....**आत्मतो मन आत्मतो वाग्**......**स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति**....." (छान्दो० ७। २६। १-२)=उसका आत्मभाव से मन हो जाता है, वाक् इन्द्रिय हो जाती है.....वह एक रूप से केवल आत्मा वह

तीन रूपों से कारण, सूक्ष्म, स्थूल की शक्तियों वाला, वह पांच रूपों वाला, अन्न, प्राण, मन विज्ञान, आनन्दमय कोशों की शक्तिवाला हो जाता है। इस प्रकार अपने अन्दर मन, वाक् शरीरों कोशों की शक्तियों को आवर्तित करनेवाला ले आनेवाला हो जाता है। तथा "**आप्नोति स्वाराज्यम्........ वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति**" (तै०उ० १।६।२)=स्वराज्य=अपने साथ सम्बन्धित साधन शक्तियों का आधिपत्य प्राप्त करता है। वाक् का स्वामी, नेत्र का स्वामी, श्रोत्र का स्वामी, बुद्धि का स्वामी हो जाता है, इनका मुक्ति में साङ्कल्पिक निर्माण कर सकता है परन्तु भौतिक निर्माण नहीं, वह तो जगत् के अन्दर ईश्वर की ओर से होगा। किन्तु मुक्त का "**शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनो....भवति**" (शत० १४।४।२। १७)=सुनने के हेतु, श्रोत्र विचार करने को मन हो जाता है। इस प्रकार मुक्त साङ्कल्पिक मन, वाक्, श्रोत्र आदि विकार को अपने अन्दर आवर्तित करता=ले आता है॥ १९॥

मुक्त जीवात्मा का ही विकारावर्ति ऐश्वर्य होता है, नित्यमुक्त परमात्मा का तो ऐश्वर्य विकारावर्ति नहीं होता है, सो क्यों? यह कहते हैं—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥ २०॥

(एवं प्रत्यक्षानुमाने दर्शयतः-च) इस प्रकार प्रत्यक्ष=श्रुति और अनुमान=स्मृति दिखलाते हैं भी। श्रुति—"**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**" (यजु० ४०।५)=इस सब जगत् के अन्दर और बाहिर ब्रह्म है। "**त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः**" (ऋ० १।५२।१२) परमात्मन्! तू आकाश के पार भी है। "**यच्च जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**" (तै०आ० १०।११) =जो कुछ भी जगत् दीखता है या सुना जाता है उस सब के अन्दर-बाहिर व्याप्त होकर नारायण स्थित है। इस प्रकार जगत् से आकाश से भी बाहिर परमात्मा के दर्शाने से उसका ऐश्वर्य विकारावर्ति=विकार में ही नहीं किन्तु विकार से बाहिर भी समानरूप से वर्तमान है। तथा "**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः**" (कठो० २।२।१५, श्वेता० ६।१४, मुण्ड० २।२।१०)=उस में सूर्य नहीं प्रकाश करता, न चन्द्रतारा, न ये विद्युत्, फिर यह अग्नि कैसे? वह इन सब से परे है। स्मृति भी—"**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।**" (गी० १५।६) उसे सूर्य चन्द्रमा अग्नि प्रकाश नहीं देख सकते हैं। इस प्रकार परमात्मा में विकारों का अवर्तमान न होना कहा है, अतः उसका ऐश्वर्य विकारवर्ति

नहीं और न अपने में विकार को आवर्तित करता है, विकारसंस्पर्श के अभाव से।

शाङ्करभाष्य में इस सूत्र और पूर्वसूत्र की दोनों की परमात्मरूप के विकारावर्ति=विकार+अवर्ति=विकाररहित होने में और विकारमय होने में व्याख्या की है, ऐसा करने में एक सूत्र अनर्थक या व्यर्थ ठहरता है। क्योंकि "**विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह**" (१९) सूत्र में 'आह'= 'श्रुतिराह'=श्रुति कहती है, वैसे ही श्रुति उद्धृत की है शाङ्करभाष्य में— "**तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः**" (छान्दो० ३।१२।६)= उतना विस्तृत जगत् उसकी महिमा वह महिमावाला इससे महान् है। फिर उत्तर सूत्र "**दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने**" (२०) प्रत्यक्षानुमाने=श्रुति स्मृति कहा। इस प्रकार दो सूत्रों का एक विषय में होना दोषयुक्त ही है। श्रुतिकथन तो पूर्व सूत्र में 'आह' शब्द से आ गया, पुनः उत्तर सूत्र में स्मृति कथन ही होना चाहिए, फिर पृथक् सूत्र करना व्यर्थ है। अथवा पूर्व सूत्र में 'आह' श्रुति कहती है, निरर्थक हो जावे। एक ही सूत्र में "श्रुतिस्मृतिभ्याम्" श्रुति और स्मृति से, ऐसा होना चाहिए पूर्व सूत्र में या उत्तर सूत्र में। तब "विकारावर्ति च तथा हि प्रत्यक्षानुमाने" अथवा "विकारावर्ति च दर्शयतश्चैव प्रत्यक्षानुमाने" होना चाहिए था। और भी "जगद्व्यापारवर्जम्...." इस सूत्र से मुक्त का ऐश्वर्य चल रहा है, उसके प्रसंग में ही "विकारावर्ति...." इस सूत्र का भी वही विषय होना चाहिए। उत्तर सूत्र अर्थापत्ति से परमात्मा के ऐश्वर्य को तुलना में रखा जाना युक्त है, अतः सूत्र की व्यर्थता का दोष प्रसङ्ग नहीं आता॥ २०॥

यदि मुक्त का ऐश्वर्य विकारावर्ति है तो "**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं....तदा विद्वान्....परमं साम्यमुपैति**" (मुण्ड० ३।१।३) परमात्मा के साक्षात्कार से उसके साथ परम साम्य=समानभाव प्रतिपादन क्यों किया है? इस पर कहते हैं—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्॥ २१॥

(भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्-च) मुक्त के भोगमात्र समानभाव अर्थात् परमात्मा आनन्दस्वरूप होने से आनन्द भोग की समानता ही लिङ्ग है— "**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**" (तै०उ० २।१)= वह सब कामनाओं=कमनीय सुखों को प्राप्त करता है सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ, "**रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**" (तै०उ० २।७) वह परमात्मा रसरूप=आनन्दरूप है उस रसरूप=आनन्दरूप परमात्मा को प्राप्त

करके आनन्दी=आनन्दवान् बन जाता है। अतः जगद् व्यापार के लिये मुक्त का ऐश्वर्य नहीं है॥ २१॥

अच्छा, जगद्रचना आदि कार्य मुक्त का ऐश्वर्य न हो किन्तु जगत् में अपनों या परिचितों का उद्धार करने के लिये मुक्ति को छोड़कर मध्य में पुनर्जन्म धारण करने में तो मुक्त समर्थ हो सके, इस पर कहते हैं—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२॥

(अनावृत्तिः) मुक्त की मुक्ति से अनावृत्ति होती है, वह मुक्ति को=मुक्तिकाल को छोड़कर मध्य में अपनों या परिचितों का उद्धार करने के लिये जगत् में मुक्ति से नहीं आवर्तित होता है, वहां से आवर्तन उसके अधीन नहीं किन्तु परमात्मा के अधीन है। मुक्ति ही कर्मफल है और वह ईश्वराधीन होता है फल होने से। कर्मफल को कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। कैसे अनावृत्ति कहते हैं (शब्दात्) श्रुति वचन से "**तेषां न पुनरावृत्तिः**" (बृह० ६। २। १५)=उनकी पुनरावृत्ति नहीं। "**न च पुनरावर्तते**" (छान्दो० ८। १५। १)=और न पुनः आवर्तित होता है "**इयं मानवमावर्तं नावर्तन्ते**" (छान्दो० ४। १५। ४)=इस मानव आवर्त को नहीं आवर्तित होता है। कब तक नहीं आवर्तित होता है? इस प्रश्न पर तो कहा जा सकता है कि जब तक मुक्तिफल भोग की समाप्ति न हो। और वह इस शास्त्र का विषय नहीं है। '**अनावृत्तिः शब्दात्**' यह द्विरुक्ति=दो वार पाठ ग्रन्थसमाप्ति के लिये है॥ २२॥

चतुर्थाध्याय में चतुर्थ पाद समाप्त, चतुर्थाध्याय भी समाप्त।

ब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित वेदान्तदर्शन भी समाप्त॥

॥ इति॥